SRI PRATAP COLLEGE,

SRINAGAR.

LIBRARY

Class No. 891.433

Book No. P13M

Accession No. 15312

१

आतंकवाद-धन महर्षि दयानंद के कुछ सुधार, अमेरिका से प्रतिफलित विवेकानंद और रामतीर्थ के आशावाद का कुछ अंश तथा लोकमान्य तिलक की अभय-चेतना, इन सब का योग—स्वामीजी के व्यक्तित्व का इस प्रकार विश्लेषण कुछ लोग करते थे।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक के आरंभ में उन्होंने एक विस्फोट की भाँति पहाड़ी जनता में पदार्पण किया और पहले ही भाषण में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली।

वह स्पष्ट, सुलझे, समयोपयोगी विचार रखते थे। शरीर से हृष्ट-पुष्ट, मुख पर ओज, वाणी में प्रभाव और हृदय में एक नई और महती आकांक्षा थी। देश-विदेश के भ्रमण और अध्ययन से उनके विचारों की परिधि विस्तीर्ण थी और अनुभव परिपक्व।

कुमारी धरती की एक नई जाति की यौवन-आभा से वह विमुग्ध थे। वह उसका इतना सरस और सजीव वर्णन करते थे कि श्रोताओं की आँखों में एक चित्र-सा गड़ जाता था। वह चाहते थे जनता में उस नवीन चेतना को बोकर उसे सुखी करना। उनकी उत्कट इच्छा थी भारत का नगर-नगर, ग्राम-ग्राम और एक-एक घर, एक-एक प्राणी उस आदर्श में रँग जाय। वह एक भाषा और संस्कृति के समर्थक थे, साहित्य और संयम के प्रबल प्रचारक थे। उनकी धारणा थी बिना पुरजे-पहियों, बिजली-भाप और विज्ञान की सहायता लिये हम भारतवासियों का उद्धार नहीं हो सकता। वह चारित्र्य पर भी विशेषता रखते थे, परंतु न तो उसकी पूरी व्याख्या कर सकते थे, न दे सकते थे उसके निर्माण का सहज-

साधन। उनकी राष्ट्रीयता, जनता के प्रति सेवा-भाव और भारतमाता की उपासना उज्ज्वल थी, इसमें कोई संदेह नहीं। वह सुधारक ही नहीं, सफल मात्रा में प्रचारक भी थे।

यद्यपि स्वामीजी हमारे साहित्य और हमारी संस्कृति के कट्टर पक्षपाती थे तथापि कला के विरोधी न होते हुए भी वह उसके प्रति उदासीन थे। संभव हो सकता है, वह उसकी शक्ति और प्रभाव से अज्ञात थे। हाँ, अपने व्याख्यान के आरंभ और अंत में, जनता की भावना को जगाने के लिए संगीत के उपयोग को वह अच्छे प्रकार से जानते थे।

स्वामीजी अपने भाषणों में केसरी की भाँति गरजते थे। वह भारतीय राष्ट्र और संस्कृति के टुकड़े-टुकड़े करनेवालों का अच्छा भंडाफोड़ करते थे। वह भारत के दुःख और दैन्य का सजीव चित्र खींच देते थे। वह हमारी परवशता, हमारे मूढ़ विश्वास, आपसी मतभेदों की तीखी आलोचना करते थे।

उन दिनों लाउड स्पीकर कहाँ थे ? बड़ी भीड़ स्वामीजी के व्याख्यानों में जमा होती थी। जन-जागरण की वह ऐसी विचार-धारा बहाते थे कि तमाम लोग प्रतिमा-वत् एक सर्वथा उज्ज्वल और नवीन भावुकता में रँग जाते थे।

हमारी इस पुण्ययशा जन्मभूमि का मानवी दर्शन, इन पहाड़ों पर कदाचित् सबसे पहले, ऐसी विशद मात्रा में उन्होंने ही कराया था। वह नक्षत्र-किरीटिनी, ठंडी हवाओं में लहराता हुआ उसका तुषार-अंचल, वह गंगा-यमुना आदि नदियों के हीरक हारों से शोभित, वह शस्यश्यामला, तपस्या और ज्ञान की जननी, समुद्र दिन-रात जिसके चरण-कमलों का अभिनंदन करता रहता है, वह सदा वराभय देनेवाली शक्तिमयी माता—मानवी रूप में भारतमाता !

विज्ञान उसका अनुमोदन नहीं करता तो जाने दो उसे। तर्क से वह सिद्ध नहीं हो सकती, हम उसे भी छोड़ देंगे। गणित, उसकी संभावना नहीं है, तो क्या चिंता है? हम स्वभाव के भावुक भारतवासी हैं, गणित की जड़ता से ऊपर—काव्य और कला के धरातल पर हमने उसके दर्शन किये हैं।

बूढ़े गुरुजनों ने जब भारतमाता का नाम सुना तो वे चकराये। कानाफूसी करने लगे-"यह कौन नई देवी है? पुराणों में तो इसका कहीं नाम नहीं है।" अवसर प्राप्त सरकारी पेंशनर घबराकर श्रोताओं के बीच में से उठ-उठकर खिसकने लगे और आपस में कहने लगे-"यह बड़ा भयानक जीव है। बंगाल के अराजकदल का जान पड़ता है। अवश्य ही यह बम भी बनाता होगा।" उन्होंने घर पहुँचकर स्वामीजी के भाषण सुनने और उनकी संगति में जाने का अपनी संतान को कठोर निषेध किया। परंतु निषेध का जो फल होता है, वही हुआ। उनकी संतान के मन में स्वामीजी के प्रति आकर्षण अधिक बढ़ गया।

मातृहीन जैसे माता को पाकर पुलकित हो जाय, ऐसे ही युवकों का दल भारतमाता के उस समष्टि मातृत्व को पाकर हर्षोत्फुल्ल हो उठा! दीन-दुखी जैसे आशा की ओर खिंच पड़ता है, ऐसे ही बहुत-से नवयुवक जिनके अभिभावकों का अंगरेज सरकार से सीधा संबंध नहीं था, स्वामीजी के व्यक्तित्व पर रीझ गये। कुछ तो रात को भी स्वामीजी के ही डेरे पर रहने लगे, कुछ उजाला फूटते ही स्वामीजी की कुटी पर जा पहुँचते। कोई उनके तेल-साबुन का प्रबंध करता, कोई अस्तुरे-अँगोछे का। कोई दूध-चाय-चीनी जुटाता, कोई आटा-दाल, कोई उनके भीतरी प्रबंध में लगता और कोई उनके भाषण की योजना करता। कोई उनकी डाक सँभालता और कोई उनके प्रचार के परचे बाँटता।

स्वामीजी बल, व्यायाम और ब्रह्मचर्य को बहुत विशेषता देते थे। प्रभात समय कसरत करते, कभी-कभी तेल की मालिश भी। नहा-धोकर पद्मासन में बैठ नियमित रूप से आँखे बंद कर साँस को प्रतिबंध में रखते। कभी-कभी भगवन्नाम और विशेष कर भारत के उद्बोधन और भारत-माता की स्तुति के एकाध गीत गाते। स्वामीजी की स्वरावलि में कोई रस न था, परंतु वाणी में ओज था और शब्दों के अर्थ निःसंदेह नवयुवकों के लिए बिजली भरे थे।

स्वामीजी विवेकानंद और रामतीर्थ की भाँति सिर पर पगड़ी बाँधते और दाढ़ी-मूँछ सफा रखते थे, परंतु सिर नहीं घुटाते थे। वह स्वदेशी के बहुत बड़े समर्थक थे, लेकिन उनके वस्त्रों की बारीकी में हमें पूरी स्वदेशिता नहीं दिखाती थी। हाँ, उनके पहनावे का प्रकार सर्वथा भारतीय था। जब वे कोट पहनते थे, तो हमने उसे गले तक बटन लगा देखा। कभी उनके हमने पतलून नहीं देखी। अमेरिका के प्रवास में उन्होंने टोप लगाया होगा, पर यहाँ धूप को ओट देने के लिए भी कभी इन्होंने उसका उपयोग नहीं किया। आँखों से दुर्बल थे वह, अवश्य धूमिल चश्मे का उपयोग करते थे।

स्वामीजी ने अमेरिका में पर्याप्त परिभ्रमण किया था। बहुत-सा अंश पैदल-यात्रा का होने के कारण उनके अध्ययन में अधिक परिपूर्णता आ गयी थी। उन्होंने उस नई दुनिया में नई मानवता देखी थी। बद्ध भारत की दासता के बाहर उस मुक्त वायुमंडल में उन्होंने नई साँस लेकर मानवता के अधिकारों को समझा था। जन्मभूमि के एक-एक बालक में उन प्रकृतिसिद्ध अधिकारों की लालसा जगा देना उन्होंने अपना जीवन-व्रत बना लिया था।

भाषण की ओजस्विता उनकी लेखनी में भी थी। सहज

व्यापक हिंदी को उन्होंने अपने विचारों के प्रसार का माध्यम बनाया था। उनकी दर्जनों पुस्तकों के कई-कई संस्करण जनता हाथों-हाथ अपना लेती थी। उन पुस्तकों के द्वारा उन्होंने चरित्र-निर्माण, स्वावलंबन, स्वास्थ्य-सुधार, देश-प्रेम, समता और स्वतंत्रता के भावों को फैलाया था। जो उनके भाषणों में सम्मि-लित नहीं हो सकते थे, उनके बीच में उन पुस्तकों ने जागरण का संदेश पहुँचा दिया।

उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। उन्होंने आजन्म अविवा-हित ही रहने का प्रण किया था। वह कहते थे—"दास संतान उत्पन्न नहीं करूँगा।" वह अपनी प्रतिज्ञा में अटल ही रहे।

अंगरेजी राज्य में राम-राज्य का स्वप्न देखनेवाले, जीवन के श्रम से अर्जित अपनी पेंशन को वृद्धावस्था की लाठी बनाये भयानक शंका से आपस में कहने लगे—"इस नगर में इस स्वामी का पदार्पण एक महामारी का प्रकोप-सा है।"

"कोई भी तो नहीं रोकता इसे। युवकों का एक बहुत बड़ा दल उसका अनुयायी हो गया है।"

"यह लड़कों का पढ़ना-लिखना चौपट कर उनका जीवन नष्ट कर देगा। इसका क्या? अपना हलुवा-पूरी सीधा कर आसन झाड़ सोंटा सँभाल एक ओर को चल देगा।"

"बड़ा उग्रवादी है। मैं समझता हूँ यह तिलक-स्कूल का है। परसों इसने अपने भाषण में कहा—"एक भ्रम की रस्सी से बँधे हुए गुलामो! तोड़ दो उस जाल को, बाहर निकल आओ। पेनल-कोड केवल एक भ्रम ही तो है! तुम अमृत-संतान हो, तुम्हें धोके से बाँध लिया गया है!"

"सच है क्या?" दूसरे ने चकित होकर पूछा—"तुम गये थे उसके भाषण में? तुम्हारा लड़का कमिश्नरी में नौकर है।"

"मैं क्यों जाने लगा। पड़ोस के कुछ लड़के गये थे। उन्हीं के मुख से सुना। प्रसिद्ध तो है, कई सी० आइ० डी० स्वामी के पीछे लगे रहते हैं। फिर क्या बात है, अधिकारीयों के कानों में जूँ तक नहीं रेंग रही है ? क्या कारण है जो सभी चुप हैं ? किसलिए विधान इसे अपनी पकड़ में जकड़ लेने में सकुचा रहा है ?"

"मैंने बहुत गुप्त रूप से यह भी सुना है। इन पहाड़ों की किसी निर्जन खोह में स्वामी एक बम बनाने की फैक्ट्री खोलने वाला है।"

"हाँ, एक दिन का भाषण तो सुनो, इसे जनता में तो नहीं कहा उसने। अपनी कुटी में कुछ चुने हुए चेलों से कहा था कि इन विदेशियों ने १८५७ की घटनाओं को अपनी स्वार्थपरता से कलंकित कर रक्खा है, उन्होंने उसे रक्तपात और नृशंस हत्या कहकर इतिहास रँगे हैं और स्मारक चुने हैं। वह हमारा पाप-विद्रोह नहीं है। वह है हमारी संस्कृति की रक्षा करने का स्वाभाविक संघर्ष। वह है हमारी स्वतंत्रता का पवित्र युद्ध !"

एक मन-ही-मन सोचने लगे, स्वामी के इस विद्रोह की कमिश्नर से चर्चा कर उसका सद्भाव हथियाने का अवसर तो अच्छा है।

परन्तु कुछ भी नहीं हुआ। सरकार की आँखों में स्वामीजी काँटे हो गये, लेकिन पकड़ में नहीं आये वह उसकी। वास्तव में वह बम-बम कुछ भी नहीं बनाते थे। हाँ वाणी और विचार की उग्रता अवश्य थी उनमें। वह मनसा-वाचा-कर्मणा पक्षपाती थे। हिंसा का प्रचार कभी नहीं किया उन्होंने, पर देशप्रेमी बम फेंकनेवालों की सराहना कर कहते थे—"इनकी स्वार्थविहीनता, त्याग, तपस्या और प्राणों का निर्मोह, क्या एक उज्ज्वल और स्तुति की वस्तु नहीं है ?"

केवल एक स्वभाव की बात, कोई सहज-शीतल होता है और कोई तेजस्विता लिये हुए! इन दोनों छंदों में यदि मनुष्य खो न जाय, तो इन दोनों को मिलाकर जो लक्ष्य-वेध का साधन बनाया जायगा, वह श्रेष्ठतर होगा। वे दोनों ही सिरेवादी हैं। यदि गरमदल एक सिरे पर है, तो क्या नरमदल-वादी अपर सिरे पर नहीं है? कठिनता है इन दोनों सिरों के साम्य की। उसी साम्य में कर्म की व्यापकता से मनुष्य अछूता रह सकता है।

सरकारी नौकरों ने स्वामीजी के सम्पर्क को आपत्ति से भरा देखा, लेकिन उनकी स्कूल जानेवाली संतान किसी प्रति-बंध में न बँधी। वे प्रकट और अप्रकट रूप से स्वामी जी के व्याख्यानों में जाती और उनका साहित्य मोल लेकर घर जाती। घर के भीतर जब अभिभावकों पर स्वामीजी के विचार खुलते, तब वे निर्णय करते, राष्ट्रीयता एक पुण्य पर्व है। कोई विदेशी जाति जब दूसरी जाति का अभिभावक बनने, उसकी सुख-शांति का ठेकेदार बनने के बहाने उसकी स्वाधीनता का हरण करती है, तब वह अपने स्वार्थ की अंधी है—न्याय और अन्याय उसे नहीं सूझता।

व्यापारी, उत्पादक और स्वतंत्र पेशेवालों ने खुलकर स्वामीजी के कार्य-कलाप में भाग लिया। दस-पाँच लोगों में जो देश-प्रेम की लहर थी, विदेशी बन्धनों में जिनके प्राण छटपटा रहे थे, उस नवीन चिनगारी को स्वामीजी ने अवश्य ही कुछ व्यापक रूप दिया इन पहाड़ों पर, जहाँ प्राचीनता शीघ्र ही नहीं छूट जाती और जो नवीनता को तुरन्त ही ग्रहण कर लेने में किसी से पीछे नहीं है।

सरकार ने जब स्वामीजी की ओर प्रतिबन्ध फैलाने आरंभ

किये, तब उन्होंने अपने आंदोलन में धर्म की पुट देनी शुरू कर दी। उन्होंने श्री छोड़कर अपने नाम के आगे स्वामी तभी से लगाया। कोट के स्थान पर हल्के नारंगी रंग में चादर रँग ली। ब्रह्मचर्य-द्वारा आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाने पर अधिक भार दिया। मृत्यु की निर्भयता के लिए आत्मा की अमरता का वेदांत सिखाया। आततायी के मूलोच्छेद के लिए गीता का शंख-नाद किया। हमारी जातीय एकता के लिए एक भाषा का—विशुद्ध राष्ट्र-भाषा का मंत्र दिया।

जो बात साधु के लिए ठीक है, वही नेता के लिए भी सच है। वह यदि एक ही स्थान में जम जाय, तो उसका आकर्षण नष्ट हो जाता है और वह पुराना पड़ जाता है। उसका तो सदैव नदी की भाँति प्रवाह में रहना ही ठीक है। स्वामीजी इस बात को जानते थे। इसके अतिरिक्त किसी भी आंदोलन को भारतव्यापी करने के लिए उसके कर्णधार का चैन से एक ही स्थान पर न सोना अनिवार्य है।

दो महीने बाद स्वामीजी ने प्रस्थान करने का निश्चय किया। कार्त्तिक की ओट से पर्वत-प्रदेश पर हिम और तुषार भी झाँकने लगा था। पर स्वामीजी यों ही टल जानेवाले न थे। वह रोपे हुए बिरवे की जड़ गहरी कर गये।

जिस प्रकार आत्मा की साधना के लिए इन्द्रियों की एकता अनिवार्य है और उस एकता की डोरी हमारी साँस है; उसी प्रकार राष्ट्र समाज की साधना के हेतु एक-एक व्यक्ति की एकता आवश्यक है और उस एकता का सूत्र है—एक भाषा और केवल एक लिपि!

यह भावना उस समय भी वयस्क थी कि हिंदी भाषा के ही मस्तक पर राष्ट्र-भाषा का मुकुट बँधेगा। स्वामी दयानन्द

सरस्वती ने उसी का नाम आर्य-भाषा रखकर उसका प्रचार बढ़ाकर उसे गौरव दिया था। संस्कृति का अर्थ किसी भी भाषा में खिचड़ी और कच्चापन नहीं है।

बाइबिल में सुन्दर कहानी है। सृष्टि के आरंभिक दिनों में जब आदम की संतान एक ही भाषा में संवद्ध थी, तब उसने भगवान का सान्निध्य पाने के लिए स्वर्ग तक सीढ़ी बना डालने का निश्चय किया। कार्य आरंभ हुआ और एक इंट पर दूसरी इंट ऊपर को बढ़ने लगी। भगवान ने चिंतित होकर विचार किया, समस्या सुलझ गयी और उन्होंने मनुष्यों के बीच में भाषा का अनैक्य डालकर उनकी शक्ति को तितर-वितर कर दिया। अब जब एक कारीगर इंट माँगता, तो उसे चूना मिलता है और चूना माँगता तो उसे पानी दिया जाता। उनकी साधना अधूरी रह गयी !

प्राय: सभी नेताओं के साथ स्वामीजी का भी पहला लक्ष्य जातीय ऐक्य था। उस ऐक्य के लिए एक भाव लाने को एक भाषा आवश्यक थी। वह भाषा हिन्दी ही है, ऐसा उनका पूरा विश्वास था। वह बराबर अपने भाषणों में हिन्दी के प्रति लोगों का प्रेम उपजाते, उन्होंने "भाषा और राष्ट्र की एकता"—नामक अपनी पुस्तिका में एक भाषा को ही एक राष्ट्र का मूलाधार माना था और इसके लिए बिना किसी भय-संकोच के हिन्दी की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया।

पहाड़ ने सदैव ही हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को आदर दिया है। अंगरेजों की कूटज्ञता ने उसका सिर नीचा करने के लिए अरब और फारस के विदेशी जुए भी उसकी गर्दन पर रख उसकी अज्ञता बढ़ा दी, पर उसने उन्हें देवनागरी के वस्त्र पहना कर अपनी संस्कृति के चिह्न नहीं मिटने दिये। देखा जाय तो

अपनी संस्कृति की रक्षा करनेवाला ही दूसरे की संस्कृति का भी आदर करता है। विलग जलवायु की भिन्नता में विकसित दो सभ्यताओं को मिलाने की चेष्टा उनके कलह को बढ़ा देना है। मनुष्य के स्वभाव की जड़ें कभी नहीं बदलीं। बीते हुए इतिहास के पृष्ठ उलटे जा सकते हैं। पहाड़ ने बहुत-कुछ अपनी संस्कृति की सँभाल की, इसी से दूसरे सम्प्रदायों का भी सम्मान किया। वहाँ कभी कोई साम्प्रदायिक उपद्रव देखे और सुने नहीं गये।

अपनी भाषा का प्रेम, सहज निर्दोष वस्तु! विदेशी प्रभु क्यों उस ओर अपनी सशंक दृष्टि बढ़ाता है? भाषा गढ़ी नहीं जाती। राजनीति हमारी सामाजिकता को किसी एक सीमा तक रच सकती है, हमारी भाषा को मार्ग नहीं दिखा सकती। वह कान के मार्ग से हमारी साँस नहीं चला सकती, न हमारी दक्षिण-वाम की भावनाओं को ही बदल सकती है। भाषा एक नैसर्गिक मुक्त प्रवाह है, जो गंगा-यमुना की धाराओं की भाँति अपना मार्ग स्वयं बनाती है।

रोटी-कपड़े का संस्कार एक दैनिक चेतना है, उससे पहले मन की बारी है। भौतिकता के साथ हमारे मन का संबंध भाषा ही कराती है। भाषा एक संकेत है अवश्य, पर कृत्रिम नहीं है। उसके उद्भव का इतिहास मनुष्य की गणना और अटकल से दूर है।

विदेशी भाषा, भेस और भोजन की ओर भागना हमारी दुर्बलता नहीं तो क्या है? बिना अपनी जातीयता का निर्माण किये अंतर्जातीयता एक धोका है और एक सपना है। हम आपस में विदेशी बोली का सहारा लें? कैसी आत्म-वंचना है। जहाँ हमारी भाषा दुर्गम है, वहाँ हम विदेशी का उपयोग करें तो करें! क्या अपनी जाति, बन्धुओं के बीच में उसका प्रयोग अशिष्ट आचरण नहीं है?

हम अपने कथानक से दूर बह गये और उपदेशक की भ्रांति में डूब गये !

स्वामीजी के हिन्दी-प्रचार ने कुछ नवयुवकों के हृदय में नई ज्योति जगा दी। वह बुझ न जाय, उसकी अखंडता साधने के लिए स्वामीजी ने हिन्दी-समिति नामक एक संस्था को जन्म दिया। अपने पास से कुछ पुस्तकें देकर उन्होंने उसमें एक पुस्तकालय का श्रीगणेश कर दिया। शेष पुस्तकें, अल्मारी, दरी और लैंप समिति के मंत्री और सदस्यों ने चन्दे और दान से जोड़कर जुटा लिये।

नगर के एक परित्यक्त, सीलन-भरे प्रकाशहीन गोठ में समिति का पुस्तकालय खुला। मंत्री और पुस्तकाध्यक्ष का चुनाव हुआ। स्वामीजी के दस-बीस भक्त और कुछ स्कूलों के स्वदेश और स्वभाषा के प्रेमी छात्रों ने उसकी सदस्यता स्वीकार की।

अपने उद्देश्य को एक पार्थिव रूप देकर स्वामीजी ने विदा ली और कदाचित् विहार प्रांत के दौरे में चल दिये। कुछ लोग कहते हैं, विहार और पर्वत-प्रदेश नये आंदोलनों के लिए सहज उपजाऊ क्षेत्र हैं। यदि यह सच हो, तो कदाचित् वह उर्वरता उन देशवासियों के स्वभाव की सरलता और भोलेपन को आधार बनाती होगी। सुनते हैं विहारी भाइयों ने भी स्वामीजी के संदेश का अपूर्व उत्साह से स्वागत किया।

—

२

जिला अल्मोड़े के अंतर्गत उसकी वायव्य दिशा में एक गाँव है जिसका नाम द्वाराहाट है। कहते तो यहाँ तक हैं कि पूर्वकाल में वहाँ द्वारका बसायी जाने को थी, पर जल के अभाव से पौराणिक युग की वह योजना अधूरी ही पड़ी रह गयी। एक छोटी-सी पहाड़ी नदी हाट के समानांतर बहती तो है, पर ग्रीष्म के ताप में बिलकुल सूख जाती है। जान पड़ता है, पौराणिक काल में वरुण जनता की वश्यता से मुक्त हो गया था। अंगरेजों ने पहाड़ी शिखरों पर नगर बसाये हैं और जल को नल में बाँधकर चाहे जहाँ पहुँचा दिया।

द्वाराहाट समुद्रतल से प्रायः सात हजार फीट की ऊँचाई पर होगा। पहाड़ के शिखर पर चारों ओर समतल भूमि उसकी मनोहरता को बढ़ाती है। लंबे-चौड़े खेतों से घिरे हुए छोटे-छोटे ग्राम उसकी शोभा और चहल-पहल के कारण हैं। खेती की परिपूर्णता में जब वे हरित हो उठते हैं, तब आँखों की शांति और हृदय का संतोष बढ़ाते हैं।

रेल की तो गिनती ही क्या है, द्वाराहाट मोटर और बैलगाड़ी से भी अछूता है। शायद इसीलिए वह अभी तक सभ्यता के अभिशाप कहिये, चाहे वरदानों से वंचित ही है। दिनभर के अथक परिश्रम ने उसकी जनता को लालच बढ़ाने का अवसर नहीं दिया है, न अनावश्यक आवश्यकताओं ने उनके जीवन में जटिलता ही उपजायी है। उनका दिन श्रम के लिए उदित होता है और रात्रि श्रांति देकर बीतती है। एक काम से जी उचटा तो दूसरे में मनोरंजकता मिल जाती है। रेल और मोटर उनके आश्चर्य के विषय हैं,

बिजली और रेडियो अविश्वास के। होटल उनके धर्म में बहिष्कृत है और सिनेमा उनकी पहुँच से बहुत दूर !

द्वाराहाट में मंदिरों की बहुत अधिकता है । यद्यपि उनके बाहरी स्थापत्य में कोई विशेष आकर्षण नहीं है, न उनकी रेखाएँ मन के भावों में कोई गहराई ही उपजाती हैं, तथापि उनके भीतर जो मूर्तियाँ हैं, उनकी सुस्पष्ट कल्पना, सजीव रेखाएँ और दक्ष तक्षण हमारी आँखें खोल देता है ! पारखी और जन-सधारण दोनों के यह बात गड़ जाती है कि अतीत के भुलाये गये न-जाने किन गुरु-कलाकारों की कला वह है। वह निःस्संदेह हमें गुप्त-काल की स्मृति देती है ।

द्वाराहाट द्वारिका को न बसा सका, परंतु वे शिला की मूर्तियाँ जो मूक साक्षी हमें देती हैं, वे द्वाराहाट के बीते गौरव को बहुत ऊँचे स्तर पर उठाकर रख देती हैं। वे उसकी चमक दिखाने के लिए न जाने किस स्वर्ण-युग के अलिखित इतिहास की ओर संकेत करती हैं। आज इस गिरि-प्रदेश में उनके वंशज कहाँ हैं ? यदि इन पर्वतों में प्रायः सब ही मैदान पर से आये हैं, तो मैदानों पर से ही उनके चिह्न क्या इस प्रकार मिट गये ?

वैदिक और उपनिषद्-काल में जिस संस्कृति की रेखाएँ खींची गयी थीं, पौराणिक-काल में जिसने कथानकों में प्रकट होकर दोहरा परिमाण प्रकट किया था और बौद्ध-काल में तृतीय परिमाण पहनकर जो कला हमारी आँख और स्पर्श के भीतर आयी थी, वह कहाँ रज-कणों में टूट गयी !

विदेशी आक्रमणकारियों के पिछले एक सहस्र वर्षों के दुर्दांत पदाघात पर इसका उत्तरदायित्त्व है या विकास पर पड़ी हुई काल की अवश्यंभावी विनाश-छाया ? क्या हमें दूसरे को दोष लगने के बदले भाग्यवादी हो जाना उचित नहीं है ?

हमारे धन-धान्य, धरती-प्रकृति ने विदेशियों को मोहित किया, लालची और आततायी बनाया, इसे हम भूखों की आवश्यकता कहकर क्षमा दे दें, अपनी ही कायरता और दुर्बलता मानकर सहन कर लें। वास्तव में वह रोटी की चोरी नहीं थीं, वह था राजमद—प्रभुता की छीना-झपटी !

हमारी पार्थिवता का उन्होंने उपयोग किया। हमारी कल्पना को तोड़कर उनके हाथ क्या लगा, हमारी कला ध्वंस कर उन्हें क्या मिला, हमारी संस्कृति भस्मीभूत कर उन्होंने क्या पाया ? एक जाति के साहित्य और कला से दूसरी जाति को ईर्ष्या और घृणा करने की क्या आवश्यकता है ? क्या हमारी मूर्ति-कला मानव-विचार के विकास का इतिहास नहीं है ? एक विजाति उसकी कला का आदर न करे, उसको खंड-खंड कर छिन्न-भिन्न कर देना भी कोई मानवता है ?

द्वाराहाट के मंदिरों में कदाचित ही कोई मूर्ति अखंडित मिले। सभी के हाथ-पैर और मस्तक आक्रमणकारियों के लौह आघात से नष्ट-विनष्ट कर दिये गये हैं। वे भारतीयों के शक्ति-शाली देवता, कदाचित् उपासकों के आलस्य से अपना तेज खो बैठे और न कला ही अपना कोमल प्रभाव उन खंडकों में जगा सकी। यह कैसी मानव-हृदय की कठोरता है ! क्या इसका नाम बर्बरता नहीं है ?

जान पड़ता है जब आक्रमणकारी मार-धाड़, तोड़-फोड़ और लूट-पाट कर चल दिये, तो फिर पुजारियों ने उस ध्वंस में निर्माण करना आरंभ किया ! नीचा उभार होने के कारण किसी मूर्ति के अंग बचे होंगे तो होंगे, नाक सबकी तोड़ दी गयी है। पुजा-रियों ने भेंट की धारा को अखंडित रखने के लिए यथाशक्ति सब बड़े-बड़े टुकड़े जमा कर मंदिरों में रख दिये। कुछ छोटे शिला-

खंड धीरे-धीरे धरती ने निगल लिए और कुछ बड़े-बड़े जिनपर मूर्ति-कला की कोई भी रेखा स्पष्ट न थी, किसान लोग उठा ले गये। कोई किसी के नये घर की दीवार में चिन गया और किसी ने खेत का कोना सँभाला।

एक बात और है। काली के मंदिर में विष्णु की शेष-शय्या के टुकड़े मिलते हैं। विष्णु के टूटे हाथों के निकट रक्खा है शिव का हाथ। भैरव के मंदिर में गणेश का टूटा दाँत मिलता है, तो गणेशजी के मोदक-पात्र की जगह तारा का खप्पर!

हम भारतवासी हैं! हमारी उदात्त दार्शनिकता विदेशी के अत्याचार पर प्रतिहिंसा नहीं रखती, वह अपनी हानि का उत्तर-दायित्व अपनी ही दुर्बलता के सिर मढ़ती है। यदि यह भावना हमारे हृदयों में शुद्ध होकर जाग उठे, तो वे मूर्तियों के खंड फिर जुड़कर जीवित हो जायँगे। इसमें कोई भी संशय नहीं है, हमारी विनष्ट कला फिर चमक उठेगी!

मूर्ति का रहस्य है। उसका उद्भव बाहर से नहीं हुआ है, वह है आभ्यंतरिक चेतना का भौतिक रूप! भीतर के ध्यान की बाहरी अभिव्यक्ति कला की जननी भावुकता है और भावुकता की जननी है हमारी पौराणिकता! हम कितने ही वैज्ञानिक क्यों न हो जायँ, मानव-धर्म के कितने ही ढोल क्यों न पीटें, हमें अपनी कला और काव्य के नवयुग के लिए फिर पुराणों के ही पृष्ठ उलटने पड़ेंगे—यह एक ध्रुव सत्य है। पौराणिकता नवीनता की परिपक्वता है!

हम प्राचीनता से अपने में नई भावना जगा लेंगे, टूटी मूर्तियों के दर्शन, हमारे मानस की सुप्त भावना करुण भैरव से जगा देंगे। उसके जागने की बारी है।

अतीत के इन भग्नावशेषों के बीच में टूटे हुए इन स्वप्नों

के टुकड़ों में खंड-खंड कर दिए गये छंदों के खंडहरों के गाँव में हमारे उपन्यास के चरित-नायक ने जन्म लिया। उसका नाम किशोर था।

किशोर एक कुलीन ब्राह्मण का पुत्र था, जिनकी जीविका का आधा व्यय पूरा होता था पुरोहिताई की वृत्ति से और आधा प्राप्त होता था धरतीमाता की उदारता से। वह केवल हल पर हाथ नहीं रखते थे। शेष सभी छोटे-मोटे किसानी के कामों में गृहिणी-सहित परिश्रम करते थे। उनकी वृत्ति का क्षेत्र पास-पड़ोस में ही दस-पाँच कुटुंबों में था। यह उनके लिए बड़े सुभीते की बात थी।

वह वेद और पुराणों की झूठी-से-झूठी बातों में भी उज्ज्वल श्रद्धा रखनेवाले, स्वभाव के संतोषी, आवश्यकताओं में संक्षिप्त और वेश में बिना किसी सुधारक के उपदेश पाये ही शुद्ध स्वदेशी थे। सुना है पहले पहाड़ के गाँव, अपने आच्छादन की आवश्यकता के लिए अपने में ही परिपूर्ण थे। गाँव या गाँव के मंडलों में बुनकर रहते थे। मिल-जन्य चमक-दमक ने उसका उपयोग नष्ट कर दिया। ग्राहक की दृष्टि बाहर के अवलंब पर दौड़ गयी और बुनकर ने रोटी के लिए ताने-बाने की उलझन से छूट, हल का दंड और बैलों की रस्सी अपने हाथों में ले ली।

इस गिरि-प्रदेश की उत्तरी और ऊँची भूमि पर तो ऊन के बुनकरों की ही जन-संख्या है। प्रभात से संध्या तक तकली उनकी साँस के साथ चलती रहती है! भूमि की विषमता, कठोरता और शीत की तीक्ष्णता जब उनके दाने को न बढ़ा सकी, तो वे बकरी से ही अपनी जीविका उपार्जन करने लगे होंगे। एक बात आश्चर्य की है, भारत के नवजागरण की

तकली का चक्कर जब उनकी पुरानी तकली के पहिये से टकराया तो हमें वह अपने ही हाथ का कता पहननेवाला कट्टर स्वदेशी, मिल के धागों में आच्छादित दिखाई देने लगा !

पंडित जी परंपरावादी थे। पिता से जिस संस्कृति और व्यवहार की धरोहर उन्होंने पाई थी, उसका अपवादहीन अनुचर रहकर, उसी रूप में वह अपने एकमात्र पुत्र किशोर को सौंप देना चाहते थे। शीत, श्रम और उपवास की कष्ट-सहिष्णुता उनकी तपस्या थी। प्रतिवासी के सुख-दुख में अकृत्रिमता से भाग लेना उनका धर्म। मन और वास्तविकता की सरलता उनका श्रृंगार था। हेमंत-शिशिर की शीततर रात्रियों में नित्य धुलने पर भी मटमैली रहने वाली कौपीन कमर से बाँध चौके में बैठकर रोटी खाते थे। इस प्रथा के पाप-पुण्य की बोली चाहे जो कुछ हो, ठंड के लिये अवरोध तो अवश्य ही उनकी शारीरिकता में बढ़ता होगा। वह कभी सरदी से झींखते-छींकते नहीं दिखाई देते थे। हम जितने प्रकृति के संसर्ग से छूटे, उतना ही रोग ने हमारा गला दबाया !

पंडित जी से हमें अधिक मतलब नहीं। उनका पुत्र किशोर, बचपन ही से पंडित जी के कर्त्तव्य—आदर्शों में बँधा हुआ। उसका उपनयन हो चुका था और तीनों कालों की संध्या में जनेऊ के फंदों में हाथ बाँध, गायत्री के छन्दों में आँखें मूँद विनीत था। वह अरुणोदय पर उठ जाता, शौच-स्नान से निवृत्त हो पूजा-घर में संध्या-जप करता। संध्या देवी के वर्ण-विन्यास रूप-रेखा, आयुध-परिच्छद का ध्यान शायद करता होगा वह, हाँ मानस में एक स्वप्नमयी देवी अवश्य उभर रही थी उसके। वह अंतर के अंधकार के बदले सूर्य-किरणों में देखना चाहता था।

किशोर बहुत कम बोलता था। खेत, गौशाला, घर या

पाठशाला के सभी काम धीर मनोयोग से करता था। परिचितों के बीच में भी अपरिचित था और अपरिचितों की छाया से भी दूर भाग जाता था। गाँव के केवल तीन-चार ही उसके समवयस्क लड़के थे, जिनपर वह खुला हुआ था। गाँव के हिन्दी मिडिल स्कूल की सर्वोच्च कक्षा में वह पढ़ता था।

किशोर स्वभाव का बड़ा संकोची, हँसमुख नहीं था, तो कभी किसी ने उसे रिस में भरा भी न देखा था। भूखा होने पर माता से भी कुछ न माँगनेवाला किशोर—नियम के प्रतिबंधों में प्रसन्न रहनेवाला, तीव्र बुद्धि और सुलझी हुई कल्पना का, प्रभात की संध्या के पश्चात् अमरकोष के श्लोकों को कंठाग्र करने बैठ जाता था। आर्यों के देवी-देवताओं की विज्ञान-सिद्ध असंभावनाओं पर विश्वास करना नहीं सीखा था उसने। पाठशाला के पाठ याद कर भोजन के समय तक कभी रसोई-घर में माता का हाथ बँटाता या खेत-आँगन में पिता का अनुचर बना रहता। दिन में पाठशाला जाता और संध्या होने तक फिर घर के काम-काज में लगा रहता। सायंकाल होते ही हाथ-पैर धो नित्य-नैमित्तिक नियम निभाता। सूर्योदय से सूर्यास्त तक सारा समय कर्म की ही नियोजना में बीतता, एकस्वरता नाम की कोई वस्तु ही नहीं उसकी कल्पना में, फिर उसको भंग करने के सिनेमा, क्लब या विश्रांतिगृहों का ही कौन ठिकाना?

अपना साथी और सखा किशोर आप ही था बचपन में। एकान्त उसकी परम प्रिय साधना थी। जब कभी अवकाश मिलता, वह नदी के किसी मोड़ पर बालू के घरौंदे बनाता, पत्थरों से देव-मन्दिर चुनता या नदी से छोटी-छोटी नहरें निकालकर पनचक्कियों की कल्पना करता। कभी वह किसी सूने देव-मंदिर के आँगन में बैठ जाता और देवताओं से विहीन उन खंडहरों पर विचार करता। उन देवताओं की अजर और अमर संज्ञा कहाँ चली गयी?

खंडित होकर भी वे पत्थर की प्रतिमाएँ क्यों नहीं अब तक सजीव हो उठीं ? पुजारी कहां चला गया और भक्त क्यों उन भग्नावशेषों के शेष पत्थर खिसका चले ! वह अपने मन की देवी को उस शून्यता में स्थापित कर सकेगा क्या कभी ? कैसे ? उस मूर्ति को गढ़ सकेगा कोई शिला की कठोरता पर ?

जब वह अपर प्राइमरी दर्जे में पढ़ता था, गाँव के निकट ही एक एकांत शिखर में चला जाता था। वहाँ एक दिन उसने अपने मन के किसी अस्पष्ट विचार को स्पष्टता दी, उसने दो-तीन फीट भूमि का समतल खोदकर घास और पत्थरों से विहान किया, फिर किसी प्रेरणा से उसने उसके बीचों-बीच में एक छोटा-सा गड्ढा खोदा। इसके पश्चात् उसने पास ही उगा हुआ एक छोटा-सा देवदारु का पौधा उस गड्ढे में लगा दिया। इसके पश्चात् उसने हाथ जोड़कर उस पौधे की कई बार परिक्रमा की और फिर घर चला गया। तब किशोर का उपनयन नहीं हुआ था। बरसात के दिन थे। देवदारु के पौधे ने जड़ पकड़ ली और वह बढ़ चला।

जब कभी याद आती, किशोर उस शिखर पर पहुँच जाता, उस बिरवे की प्रगति देखता और न जाने किस निराकार देवता का निवास उसमें समझता, अवश्य वह मनुष्य से शक्तिशाली था। किशोर की कल्पना उसे कोई पार्थिवता नहीं पहना सकी थी, न उसका कोई नाम ही उसको व्यक्त करने के लिए सूझ पड़ा।

विचार एक झोंके की भाँति पहले उदित होता है। बराबर घनत्व की ओर बढ़ना उसकी स्वाभाविकता है। किशोर के विचेतन मन में न जाने कौन एक लहर-सी आयी, वह चेतनता में प्रस्फुटित हुई और कर्म में बदल गयी। —उसने एक गड्ढा खोदकर उसमें एक अंकुर रोप दिया। एक केंद्र स्थापित हो गया और उसमें एक

तना शाखा-प्रशाखाएँ फैलाने के लिए क्षण-क्षण प्रयत्नशील हो गया। मनुष्य से जिस बड़ी शुभकरी शक्ति की कल्पना है, वह देवत्व की है। किशोर ने उस वृक्ष के मानसिक प्रतिबिम्ब में देवत्व का भाव उत्पन्न किया। मन से बाहर निकलकर वह प्रवाह मन में कुछ और घनीभूत हो गया।

किशोर ने उस वृक्ष की परिक्रमा करनी आरंभ की। विचार एक केन्द्र में जमा होने लगा। धीरे-धीरे किशोर नित्यशः उस वृक्ष की परिक्रमा करने लगा। कुछ ही दिनों में वह उसके स्वभाव की गहरी रेखा हो गयी। आँधी, वर्षा और हिम में भी दौड़कर वह अपनी परिक्रमा पूरी करता। बड़ी सावधानी से वह छिपकर ही वहाँ जाता और छिपाकर ही अपनी परिक्रमाओं को रखता था। प्रकृति के एक रहस्य की जो प्रेरणा उसे हुई, उससे वह सर्वदा अज्ञात था, जो भी देखता, उसे उसका अज्ञान और केवल खिलवाड़ ही समझता। किशोर जब तक नित्यशः उस वृक्ष की परिक्रमा न कर लेता, उसे चैन ही नहीं पड़ता था। जब वह परिक्रमा कर घर को लौटता, एक अलौकिक संतोष उसके हृदय में खिल उठता। धीरे-धीरे वह वृत्ति उसके तन और मन के सामंजस्य में विकसित होने लगी।

उपनीत होकर भी कुमार का वह बचपन का खिलवाड़ भूला न जा सका। वह पेड़ उसकी आयु के साथ बढ़ा जा रहा था। अब तो वह कुमार की ऊँचाई के साथ स्पर्धा भी करने लगा था। वह हिंदी-मिडिल की कक्षा में प्रविष्ट हुआ। बुद्धिवाद ने उसपर आक्रमण किया और वह उस वृक्ष की नियमित परिक्रमा को त्याग देने के लिए चिल्लाने लगा। इतने दिनों का अभ्यास सहज ही नहीं छूट सकता—नहीं छूटा! कुमार मन में सोचने लगा—"संध्या करते समय जो मैं हाथ को जनेऊ से बाँधता हूँ, उसकी

भला क्या तर्कना है ?" उसने उस वृक्ष की परिक्रमा नहीं छोड़ी, तो नहीं छोड़ी।

एक और प्रतिक्रिया हुई। उसने उस बुद्धिवाद की आँखों में धूल झोंक दी। एक दिन एक सुंदर सुडौल पत्थर वह खिसका लाया और उसने उसे उस देवदारु के वृक्ष के पास रख दिया। उस वृक्ष से उठकर उसकी भावना ने उस शिला को अपना आधार बना लिया।

वृक्ष किशोर की ऊँचाई से ऊपर उठ गया था। जिस प्रकार उसने अपनी उपासना को छिपाकर रखा था, उसी प्रकार उसने उस पत्थर के आस-पास की घास को बढ़ने दिया कि देवता भी उसमें छिप जाय। उसकी परिक्रमा के पदांक जब उस शिला-वृक्ष के चारों ओर चक्र उपजा देते, तभी वह उसे मिटा देता।

एक दिन की बात है। उसके एक समवयस्क सहपाठी संबंधी को संशय हो गया कि किशोर अकेला ही क्यों वहाँ एकांत में जाता है। वह समझता था किशोर निश्चय वहाँ जाकर पिता-माता तथा और लोगों की ओट में सिगरेट पीता है। सहपाठी ने किशोर का छिपकर एक दिन पीछा किया। एक बाँज के वृक्ष के तने की ओट से उसने कुमार को देखा। सिगरेट के बदले जब उसे हाथ जोड़े वृक्ष की परिक्रमा करते देखा, तब उच्च स्वर से उस सहपाठी के मुख पर अट्टहास्य फूट पड़ा।

चकित-भीत किशोर ने अपनी प्रगति में विराम देकर उस दिशा की ओर देखा। सहपाठी हँसता हुआ उसकी ओर दौड़ा आ गया। उसका नाम था शंकर।

"किशोर, क्या कर रहे थे तुम यहाँ ?"

झूठ बोलना पाप समझता था वह। बात खोलकर उसने कह दी—"परिक्रमा कर रहा था।"

सहपाठी—"किसकी ? यहाँ कौन देवता है ? एक वृक्ष और उसकी जड़ पर एक पत्थर, क्या इसी को देवता कहते हैं ?"

किशोर—"देवता एक मान लेने की वस्तु है।"

"ठाकुर-गृह में, गाँव के मंदिरों में नहीं हैं क्या तुम्हारे देवता ?"

"हैं, ये उनसे कुछ अलग हैं।"

"अलग ? कौन है यह ?"

"माता, देवी माता हैं ये ?"

"एक गोल-मटोल पत्थर ! इसके अंग-प्रत्यंग तो कुछ भी नहीं हैं !"

"गांव के मंदिरों में जो टूटी हुई मूर्तियां हैं, क्या वे सब की सब ऐसे ही पत्थरों के रूप में नहीं थीं एक दिन। मूर्तिकार के हाथ जब उसमें वह रूप बना सके, तो क्या उपासक की आँख नहीं देख सकती उसे वहाँ ?"

"माता, देवमाता—कौन देवी माता है वह, तुम्हें तो उसका नाम भी नहीं ज्ञात है।"

"है भाई वह अवश्य है।" किशोर ने सिर पर हाथ रखकर मन की गहराई में टटोला—"नाम है उसका अवश्य। मान लो, यदि कुछ नहीं भी है, तो इससे हमारी हानि ही क्या होती है।"

शंकर हँस पड़ा फिर।

किशोर ने सहपाठी का हाथ पकड़ लिया। वह अप्रतिभ नहीं हुआ। निकट ही एक वृक्ष की जड़ पर उसे बिठा लिया और बड़े मीठे और मंद स्वर में कहने लगा—"देखो बंधु, हँसने की बात नहीं है। एक कागज का टुकड़ा ! फूंक मार दो, तो उड़ जाय, पानी में पड़े, तो तुरंत ही गल जाय, पैरों तले आ जाय, तो कुचकर फट जाय और आग में पड़ने पर, तो पता भी न चले उसका ! क्या

असलियत, क्या दाम हैं उसके ? दो-चार अक्षर और अंकों की टेढ़ी-सीधी रेखा ही तो पड़ी है उसमें ! यह पत्थर, अधिकांश प्राकृतिक आक्रमणों के लिए सुरक्षित है। इसमें भी रेखा और रंग ही नहीं, उस कागज के टुकड़े से अधिक सघनता है। ध्यानपूर्वक देखो भाई, इस पत्थर का ऊपरी गोल भाग––यह मुख है। इन दो रेखाओं में माता की भौंहें, इन रेखा-जालों में केश, और इधर ये ममता-भरी आँखे नहीं हैं। यह नासिका और यह रंग क्या उसके अधरों के सुमधुर हास में रँगा हुआ नहीं है ? और आगे बढ़ो, यह दो लहराती हुई रेखाएँ क्या उसकी माला की लड़ियाँ नहीं हैं ?"

सहपाठी आश्चर्य और मोह में पड़ा किशोर का व्याख्यान सुन रहा था।

किशोर कहता जा रहा था––"भावना को जगाओ भाई, उसपर विश्वास के भारी भवन से भारी भवन का निर्माण किया जा सकता है। वह तुच्छ कागज का टुकड़ा, हजार-हजार और सौ-सौ के मूल्य में बाजार में नहीं भुनाया जाता क्या ? किस कारण ? केवल भावना के ही बल पर तो। समझ में आया न ?"

साथी चुप रह गया। न "हाँ" के लिए, नहीं "नहीं" के लिए उसकी गरदन में गति उत्पन्न हुई।

किशोर ने फिर अपनी बात दुहराई—"ठीक नहीं है क्या ? भावना ही बड़ी वस्तु है, भावना जगाओ।"

"भावना जगाने के लिए क्या गाँव के मंदिरों में मूर्त्तियाँ नहीं हैं ?' सहपाठी ने अपने विचार प्रकट किये !

"उन्हें विदेशी आक्रमणकारियों ने खंडित कर दिया है।"

शंकर किशोर का हाथ पकड़कर उठ गया—"भाई, जब तुमने भावना को ही शक्ति दी है, तब फिर उसके टूट जाने का वह विदेशी आक्रमण कोई अपराध वहन नहीं करता।"

नहीं भाई, टूटी मूर्त्ति के आगे अपनी भावना को भी अक्षुण्ण रख सकनेवाला कोई विरला ही महात्मा होगा। जनता से यह आशा की नहीं जा सकती। सुनो, वे सब देवता पुराने पड़ गये, वे हमारी नयी समस्याओं को सुलझा नहीं सकते। भगवान् भी तो युग-युग में अवतार बदल देते हैं ! हमारे नये युग के लिए नया देवता चाहिए। चलो, इस नयी देवी की परिक्रमा करें, एक नवीन भावना जगाएँ।"

सहपाठी परिक्रमा के लिए तैयार नहीं हुआ। किशोर जब उसे सहमत नहीं कर सका, तब उसने उसे अधिक अनुरोध करना उचित नहीं समझा। दोनों गाँव के मार्ग पर उतर पड़े।

मार्ग में किशोर ने साथी के कंधे पर हाथ रखकर कहा—"तुमने छिपकर मेरा रहस्य जान लिया, मैं तुम्हें उसके भीतर घेर कर नहीं रख सका। परंतु मेरे मन में विश्वास है, एक दिन तुम्हें इस देवी के आगे विनत देख लूँगा।"

"भाई, मैं तो भारत के अधःपतन का मूल कारण उसके इन देवी-देवताओं की भारी भीड़ को ही समझता हूँ।"

गाँव निकट आ गया था। किशोर ने आग्रह के साथ कहा—"मित्र, मेरी इस छिपी हुई देवी को तुम गाँव में प्रकट न करोगे।"

"लाभ ही क्या है !" साथी विदा हो गया।

कुमार ने हिंदी-मिडिल पास किया। परंतु उसकी परिक्रमा के नियम में विवशता पर ही कोई बाधा पड़ जाती होगी, तो होगी। वह देवदारु का वृक्ष नयी-नयी शाखाओं में उपशाखाएँ उपजाता हुआ ऊँचा होता गया। वह अज्ञात नाम-रूप की देवी हरियाली के बीच में मुसका रही थी और किशोर के मन की भावना दिन-दिन सघन होती जा रही थी।

द्वाराहाट में ईसाइयों की भी एक छोटी-सी बस्ती थी। विदेशी मूलधन से वे लोग शिक्षा-प्रसार, औषधि-वितरण आदि से निर्माण और सेवा के कार्य जनता के लिए करते थे। साथ ही ईसाई-धर्म के उदार विचारों को भी फैलाते थे। उनके धार्मिक प्रचार के खंडन-मंडन तो कुछ जड़ न पकड़ सके, परंतु उन्होंने शिक्षा-प्रसार में अच्छा काम किया। द्वाराहाट में अंगरेजी का मिडिल स्कूल था। कुमार उसकी सर्वोच्च कक्षा में पढ़ने लगा।

स्वामीजी की 'भाषा और राष्ट्र की एकता' नामक पुस्तिका का प्रचार पर्वत-प्रदेश के गावों की ओर भी हो चला। उसकी एक प्रति कुमार के भी हाथ पड़ गयी। वह उसे घर ले गया और पढ़ने लगा।

विषय-प्रवेश के कुछ ही वाक्यों के पश्चात् पुस्तिका का अंश इस प्रकार था-"जिस प्रकार हमारे व्यक्तिगत जीवन में माता हमारे आदर और स्नेह की मूर्त्तिमती है, वैसे ही हम सबकी–हमारे एक-राष्ट्र की माता है। हमारी माता अपनी गोद में से हमारे मैल को उठाकर फेंक देती है और वह राष्ट्रमाता उसे सहन कर लेती है। जैसे जननी की छाती हममें जीवन जगाती है, वह राष्ट्रमाता हमारी जीविका के लिए अपने वक्ष में हमारे लिए अन्न उपजाती है। मृत्यु के पश्चात् जब अपने संबंधियों से हम परित्यक्त किये जाते हैं, तब भी वह माता हमसे घृणा नहीं करती और हमारे भस्मावशेष को धारण कर लेती है। उस राष्ट्रमाता को धन्य है!"

पढ़ते-पढ़ते किशोर के मन में एक दीपक-सा जल उठा और एक दिव्य प्रकाश उसकी आँखों में चमकने लगा।

किशोर सँभलकर बैठ गया। मानो उस पुस्तक की वाक्यावली उसके अस्पष्ट विचारों को ही बोलने लगी थी। वह रीढ़ सीधी कर, विश्व को भुला पढ़ने लगा—"उस राष्ट्र-माता का जन्म बंग-विहार में, कोई द्रविड़-तामिलनाड में, कोई महाराष्ट्र-गुजरात

में, कोई पंचनद-राजस्थान में बताता है और कोई कहता है इन नामकरणों से पहले ही उनका जन्म हो चुका है, पुराण काल में ही—वही हिमालय की पुत्री है, उसकी जय हो! वही जयदायिनी है। हम, हमारे व्यक्ति और राष्ट्र दोनों में व्याप्त है।"

कुमार एक अपार्थिव तरंग में मग्न हो गया। रह-रहकर उसको वह शिला स्मरण होने लगी, जिसकी परिक्रमा वह कई वर्षों से कर रहा था।

पुस्तक की आगे की पंक्तियाँ थीं—"यह हिम से सागर तक फैली हुई भारतभूमि ही वह माता है, इसके एक-एक रज-कण में भी उसी की आभा प्रतिफलित है।"

"एक-एक रज-कण में भी!" किशोर आनंद से नाच उठा। और उस शिला में भी तो? और आगे क्या है?"

आगे—"सूर्य के ताप के बाहर के सनातन हिम की चमक उसी के किरीट की है। अतल सिंधु के कमल से वह प्रस्फुटित हुई है। पूर्व की शस्य-श्यामलता और पश्चिम की शुष्क सैकतता उसकी दो भुजाएँ हैं। उसके एक हाथ में रिपु के लिए त्रिशूल है और दूसरे में वत्सलता भरा वराभय! उस राष्ट्र-माता का नाम भारतमाता है, उस स्नेहमयी का नाम भारत-जननी!"

"उस माता का नाम भारतमाता है, उस जननी का नाम भारतजननी है। उस शिला में भी वही है, उस शिला का नाम भारतमाता है—उसकी साक्षी कलाकार देगा। वही पश्चिमी विज्ञान में भूले हुओं में विश्वास उपजायेगा।" किशोर पुस्तक को छाती से लगाकर उठ खड़ा हुआ। उस शिला के अनाम होने के कारण शंकर उसपर विश्वास नहीं उपजा सका, मैं अभी जाकर उसे यह पवित्र नाम सुनाऊँगा।"

किशोर उस पुस्तक को लेकर उसी समय शंकर के घर की

ओर दौड़ा चला गया और भावावेश में उसने पुकारा—"शंकर! शंकर!"

किशोर ने शंकर के द्वार पर जाकर पहले कभी इस प्रकार नहीं पुकारा था। उसकी माता ने दौड़ती हुई खिड़की से झाँककर कहा—"किशोर, कुशल तो है? तुम इतने उतावले क्यों हो रहे हो? क्या काम है?"

"शंकर नहीं है घर में?"

"नहीं, दुकान पर गया है तेल लेने।"

"उसी से है कुछ काम।" कहता हुआ कुमार बाजार की ओर लपका और मार्ग में ही शंकर को पकड़ लिया। दूर ही से उसे देख वह चिल्लाया—"मित्र! उसका नाम ज्ञात हो गया!"

"किसका?"

"उसी का, वह भारतमाता है। वह मेरी भी माता है और तुम्हारी भी। वह हमारे पिता-माता की भी माता है, पड़ोस तथा गाँव की भी। सुनो, कैसी वह एक अद्भुत माता है। वह छूत और अछूत दोनों की माता है। उस एक माता को धन्य है जिसने सारे छिन्न-भिन्न परिवार को एक नाते में बाँध दिया।" किशोर उस पुस्तक का पृष्ठ खोलकर शंकर को दिखाने लगा।

शंकर अचकाकर उसे देखने लगा। वह अभी तक कुछ भी नहीं समझ सका, 'भारतमाता' अपने जीवन में इन दो शब्दों का इस प्रकार का साम्य अभी तक कभी नहीं सुना था। बोला—"बकते ही चले जा रहे हो? पहले यह तो बताओ किसका है यह नाम?"

"उसी प्रतिमा का, जिसकी परिक्रमा करने का मैंने दो वर्ष पहले अनुरोध किया था। वह हमारी जन्मभूमि है, उसी को

माता की संज्ञा दी गयी है। तुम्हें संशय है? पढ़ो यह पुस्तिका, देश के बड़े-से-बड़े विद्वानों ने इसको माना है।"

शंकर ने किशोर के पुस्तकधारी हाथ से कुछ हटकर कहा —"धीरज तो रक्खो। ऐसी शीघ्रता क्या है! हाथों में तेल लगा है। पुस्तक कलंकित हो जायगी। बोतल तो रख आऊँ। भीतर हाथ धोकर फिर पढ़ूँगा।" दोनों चलने लगे।

"अच्छा, धरती को माता का रूप देने में तुम्हें कोई आपत्ति है? जन्मभूमि को भारतमाता क्यों नहीं कहा जा सकता? पालने वाली शक्ति माता क्यों नहीं है? क्या विद्या की शक्ति को सरस्वती का रूप नहीं दिया गया है?"

"दिया गया है।"

किशोर ने संतोष की साँस ली—"भारतमाता का अस्तित्व तुम्हें मान्य है?"

"हाँ, मान्य है।"

"एक अद्भुत बिजली नहीं प्रवाहित कर दे रही है यह कल्पना तुम्हारी चेतना में?

"परन्तु वह शिखर पर पत्थर में माता की कौन-सी अनुरूपता है?"

"भारत की भूमि को जब तुम्हें माता मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है, तब फिर शिला को मान लेने में ही क्यों हो? क्या वह शिला उसी धरती का एक टुकड़ा नहीं है?"

"हाँ तुम्हारे तर्क ने हृदय में स्थान तो किया।" शंकर ने गंभीरता से उत्तर दिया।

वे दोनों गाँव में आ गये थे। शंकर ने माता को तेल देकर हाथ स्वच्छ किया और शीघ्र ही किशोर के पास आ गया।

दोनों घरों से दूर एक खेत में जा बैठे और पुस्तिका पढ़ने लगे। उसे समाप्त कर किशोर ने पूछा—"ठीक है ?"

"हाँ।"

"तो चलो उस शिखर पर, शिला की कठोरता में माता के करुण-कोमल दर्शन को।"

"चलो।"

३

स्वामीजी समस्त भारत को जगाने का ठेका समझते थे अपना। वनवासी जॉन की भाँति आनेवाले नवीन युग का अग्रदूत समझते थे अपने तईं को। मैदान पर की लू की बचत से हो, चाहे लोक-जागरण की भावना, स्वामी जी पहले तो प्रति वर्ष फिर दूसरे-तीसरे वर्ष गरमियों में पहाड़ का दौरा लगाते ही थे। रानीखेत में मिलिटरी और नैनीताल में सिविल और मिलिटरी दोनों के कठोर प्रतिबन्ध थे।

प्रतिबंध ? कैसे ? अधिकारियों के बीच में प्रजा के घाव खोलकर दिखाने के, जनता की पीड़ा का स्वर ऊँचा करने के। अत्याचारों को वरदान समझकर चुप रहो। पबलिक के बंबों में लाकर अपने गंदे अँगौछे मत धोओ। यह आज्ञा थी।

स्वामीजी ने अनेक बार नैनीताल के प्रतिबंधों का सामना करने की चेष्टा की; परन्तु कई पुलिस और सी० आई० डी० के अधिकारियों ने उनसे एक ही बात कही—"स्वामीजी, कोई लाभ नहीं है वहाँ जाने से। मुँह खोलते ही आपके लिए जेल के द्वार

खुल जायँगे और बहुत संभव है हममें से बहुतों को रोटी से भी हाथ धोने पड़ जायँगे। आप जहाँ जाते हैं, वहीं जावें। यदि आपकी बात में सच्चाई है, तो चाहे जिस कोने से आप उसे चारों ओर फैला सकते हैं,,

बिना कुछ रचनात्मक काम किये ही अपने को जेल की सीखचों के भीतर डाल देना स्वामीजी ने बुद्धिमानी नहीं समझी और वीरभट्टी की चढ़ाई छोड़कर अल्मोड़े के ही फेरों में पड़ना उचित विचारा।

अल्मोड़े में उनका संदेश अंकुरित हो रहा था। जन-साधारण में उनकी वाणी—अक्षर और व्यक्तित्व का बहुत अच्छा आदर था। बहुत-से उनके भक्त तो उनके पदांकों के लिए अपने वस्त्र भी मार्ग में बिछा देने को तैयार रहते थे।

नगर से दूर एक रमणीक शिखर पर उनके एक भक्त का बँगला था। निर्जनता और एकांत के कारण वह बँगला कम किराये पर लगता था। स्वामीजी प्रायः वहीं रहते थे। अध्ययन, लेखन और विचार के लिए वह स्थान बहुत उपयुक्त था।

स्वामीजी का इंगलैंड के राजा, भारत के राजेश्वर की धर्म-रक्षक की पदवी पर विश्वास था। वह भारत के प्रत्येक धर्म को अछूता रखने की घोषणा को उसके भारतीय अस्तित्व के लिए मूल आधार मानते थे। आरंभ ही आरंभ में तो नहीं, बाद को उन्होंने अपने वस्त्रों में भी कुछ हलका नारंगी रंग देना आरंभ कर दिया था। संदेशों में धार्मिक रंग था, ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक और आत्मिक चरित्र-बल का। कुछ लोग समझते थे पुलिस की दृष्टि में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए ही उनकी यह कूटज्ञता थी।

जो भी हो, स्वामीजी ने इस पर्वत प्रदेश पर पहली जागृति फैलायी थी। अवश्य ही भारत के अनेक तत्कालिक धर्म, साहित्य

और राजनीतिक नेताओं के विचार और उद्देश्य-साधनों से यह प्रदेश अवगत था ; परन्तु बहुत थोड़ा—केवल विज्ञ समाज । पथ पर के नागरिकों में भी राष्ट्रीय चेतना की कोई चिनगारी नहीं पड़ी थी, मजूर और किसान का तो कहना ही क्या है ?

सभी जनता उनका व्याख्यान सुनने नहीं आ सकती थी । इसमें संशय नहीं कि उनकी वाणी की गरज और निर्भयता उनके भाषणों में बिजली भरकर निर्जीव से निर्जीव प्राणी में भी अद्भुत् उत्साह जगा देती थी । उनकी लेखनी में भी अच्छा बल था, वह भी पर्याप्त प्रवाह की भरी थी । शुद्ध हिंदी को उन्होंने अपने अन्तर की अभिव्यक्ति का साधन बनाया था और यह पहाड़ी भाग प्रांत भर में सबसे अधिक साक्षर था और वह साक्षरता थी हिंदी की ही ; अत: स्वामीजी का अक्षरों में वंदी मूक संदेश नगर की परिक्रमा कर उसके चारों ओर फैलने लगा।

एक दर्जन से अधिक पुस्तकें स्वामीजी लिख चुके थे । राजनीति, धर्म, साहित्य के अतिरिक्त कुछ यात्रा-विवरण थे । उनकी मनोरंजकता में कोई कसर नहीं थी । स्थान-स्थान पर जहाँ अवसर मिला, स्वामीजी ने उनमें स्वदेशाभिमान, राष्ट्रीयता, हिंदी-प्रचार और स्वदेशी का प्रेम कूट-कूटकर भर रखा था ।

स्वामीजी अपने भाषणों में उन पुस्तकों की चर्चा करते थे और भाषण के अंत में स्वामीजी का एक भक्त उन पुस्तकों की अच्छी बिक्री कर धन बटोरता था । देशोद्धार की स्वार्थहीन भूमि पर कुछ लोगों ने स्वामीजी के इस विज्ञापन और व्यापार की कटु आलोचना की । परन्तु क्या यह विचारणीय नहीं है—उनको यात्रा के लिए, भोजन-आच्छादन और निवास के लिए रुपये को ही बजाना पड़ता था । उस समय कौन हमारा ऐसा राष्ट्रीय संगठन था जो अपने फंड में से उनका व्यय चलाता ?

व्यक्तिगत देशप्रेमी पूँजीपति ? स्वामीजी किसी के भी आगे हाथ फैलाना पाप समझते थे। वे पुस्तकें किसी के सिर पर मढ़ी नहीं जाती थीं। जनता प्रसन्नता से उनका मूल्य देती थी और निश्चय उसका पर्याप्त बदला पा जाती थी। वह स्वामीजी के स्वावलंबन का चरित्र-बल क्यों न समझा जाय ?

भवदा अपने देश-प्रेम और उग्र विचारों के लिए नगर में पहले ही से प्रसिद्ध थे। उन दिनों प्रयाग विश्व विद्यालय के विद्यार्थी थे। संस्कृत अंग्रेजी के अतिरिक्त और भी एकाधिक प्रांतीय भाषाएँ वह जानते थे, कुछ फ्रेंच और जर्मन की ओर भी अभिरुचि थी। इतिहास और अर्थशास्त्र उनका प्रिय विषय था, तथापि वह साहित्य और दर्शन के भी मर्मज्ञ थे। देशी-विदेशी साहित्य का उनका विस्तृत अध्ययन था। संसार के साहित्य की प्राय: सभी पुस्तकें उन्होंने पढ़ी थीं। कबाड़ियों की दुकानों पर बहुधा वह पहुँच जाते। घंटों उनके पुस्तकों के ढेर से किसी प्रसिद्ध लेखक को ढूँढ़ते और उसकी धूल झाड़ घर ले जाते। उनकी वाणी में विद्वत्ता और माधुर्य था, वेश और व्यवहार में सरलता। एक सहज अस्फुट हास उनके मुख पर सर्वदा चमकता रहता।

स्वामीजी अपनी पहली यात्रा में ही भवदा की ओर आकर्षित हो गये और भवदा भी उनमें विचार-साम्य पा उनके निकट बढ़ गये।

काव्य, कला और योग की सूक्ष्मता में भी भवदा की पहुँच थी, स्वामीजी में इसका प्राय: अभाव ही था। परंतु उनकी यह कमी पूरी हो जाती थी उनके अमेरिका-भ्रमण से। उनके अंतर्जातीयता के उद्धरण भवदा के आकर्षण थे। यद्यपि उन्होंने उसका परिचय पाया था, लेकिन वह अनुभव-प्रसूत नहीं कल्पना-

जन्य, देखा हुआ नहीं, पढ़ा हुआ। देश-विदेश की परिक्रमा के लिए भवदा के मन में पहले ही से एक लहर-सी उठती थी। इसी के लिए उन्होंने कई पदाधिकारी बंधु-बाधवों के उपदेशों की भी उपेक्षा कर स्वामीजी का साथ नहीं छोड़ा। वह प्रायः कहते थे—"देश-प्रेम अपना पुरस्कार आप ही है। विदेशी सरकार की नौकरी, उसके पाश को दृढ़तर करना है और अपने राष्ट्र का विश्वासघात है!"

स्वामीजी ने जो उपसर्ग धारण किया था, उसके अनुसार उन्हें योग की आरूढ़ता न होती, अनुसंधान भी न होता, न सही उसपर कदाचित् अधिक विश्वास भी नहीं था। अमेरिका की जड़ वैज्ञानिकता ने उन्हें सुख का स्वप्न कुछ दूसरे ही रंगों मे दिखाया था। भवदा विज्ञान में जड़ता देखते थे और मशीनों में हमारा दैन्य, रोग और बेकारी की प्रगतिशीलता! इसीलिए वह ऐच्छिक विषय के लिए बी० एस-सी० की प्रयोगशालाओं की ओर नहीं दौड़े।

उन दोनों के विचारों में यह एक छोटा-सा अंतर था। हिंदी का विशुद्ध प्रेम दोनों के हृदयों में समान रूप से था और वे दोनों इसी एक बात को हमारी राष्ट्रीयता का आधार मानते थे। भवदा हिंदी-समिति के प्रचार के लिए सतत प्रयत्नशील रहते। उसके लिए सभासद् जुटाते, पुस्तकों का प्रबंध करते और उस सीलन और अंधकार भरे गोठ में नित्य ही अपनी उपस्थिति से जीवन जगाते।

पहाड़ में स्वामीजी के विचारों का प्रतिनिधित्व वहन करने के विशेष अधिकारी भवदा ही थे और कई वर्षों तक उन्होंने उस कर्तव्य को पूरा किया।

स्वामीजी के विरोधियों में सरकारी नौकर और पेंशनरों का होना, अपने स्वार्थ के लिए, स्वाभाविक ही था। कुछ स्वतंत्र पेशेवाले वकील भी थे, जो हिंदी के प्रचार में ग्रामीणता के बढ़ जाने का

भय देखते थे। वे भारत की संस्कृति, साहित्य और सामाजिक उन्नति के लिए अंगरेज, अंगरेजी और अंगरेजियत को ही मूल आधार समझते थे। कुछ बंद गले का कोट पहननेवाले भी थे। वे अंगरेजियत से तो नहीं, पर अंगरेजों की उँगली पकड़कर ही भारत की उन्नति के स्वप्न देखते थे।

एक विरोधी और भी थे उनके—पंडित विशालजी। यद्यपि राष्ट्रीयता उनका धर्म और राष्ट्र-भाषा उनकी जीविका का आधार था, फिर भी स्वामीजी के साथ उनकी पटरी नहीं बैठ सकी थी!

कहते हैं, वह पहले किसी मिलिटरी के दफ्तर में क्लर्क थे। वैसे आदमी बड़े सजीव, हँसने-हँसाने को हर समय तैयार रहते थे। स्वभाव के बड़े अक्खड़ और मुँहफट थे। जो भी सोचा, तुरंत ही मुख से निकाल देते थे। यह नहीं विचारते थे, इसका प्रभाव श्रोता पर क्या पड़ेगा।

वह पतलून के ऊपर बंद कॉलर का पारसी कोट पहनते थे। जहाँ तक याद आती है, कपड़े की स्वदेशिता पर पहले उदासीन थे। बाद को नये युग के चक्र में तो वह सिर से चोटी तक पूरे खद्दर-वादी हो गये थे। अंतःपुर की हम नहीं जानते उनकी। कितना ही बड़ा लोकनायक हो, कुछ न कुछ आलोचक तो रखता ही है। वही लोग कहते थे, विशालजी के भीतरी कपड़ों का कुछ दूसरा ही रंग है।

मिलिटरी दफ्तर में विशालजी की एक गोरे से बिलकुल नहीं पटती थी। एक दिन उस गोरे ने, कहते हैं उन पर एक गिनी गोल्ड के छल्ले की चोरी लगा दी। विशालजी मान-संभ्रम रखते थे और उसकी रक्षा के लिए सब कुछ निछावर कर देने को हर समय प्रस्तुत रहते थे।

विशालजी तुरंत ही आवेश में आ गये। उन्होंने न नौकरी

देखी, न बड़े-बड़े ऑफिसर ! तमककर मुट्ठी बाँध उसकी भूरी खोपड़ी पर जमा ही दिया ! विशालजी नाम के अनुरूप शरीर भी रखते ही थे, और वह अपेक्षाकृत भारी परिमाण का घूँसा आत्म-लांछन पाकर क्रोध के वेग से और भी भारी हो गया था।

गोरे ने चोरी भी लगायी। "यू निगर स्लेव" भी कह दिया था। विशालजी ने ज्यों की त्यों गालियों का मूलधन लौटाकर, घूँसा सूद में दिया था। और भी दूसरी आवृत्ति करना चाहते थे वह, पर गोरा चक्कर खाकर चित गिर पड़ा भूमि पर। अपने-अपने कमरों से कई ऑफिसर आ धमके, विशालजी पर मामला चला।

ब्रिटिश 'प्रेस्टिज' की रक्षा करने के लिए गोरे सब एक हो जाते थे। यह समझा जाता था, गोरा भारतवर्ष में कोई अपराध करने के लिए उत्पन्न नहीं हुआ है। जब गोरे की ठोकर से काला मर जाता था, तब वह अपराध गोरे का नहीं होता था, उन दिनों के अभागे भारतीय की ही दुर्बल तिल्ली का होता था !

विशालजी को नौकरी छोड़ देनी पड़ी। अपना मान-संभ्रम बचाकर वे घर चले आये और उस दिन से गोरे मात्र की शत्रुता साधने लगे।

घर आकर कुछ जीविका चाहिए। सरकार के किसी अन्य विभाग में उन्हें नौकरी नहीं मिल सकती थी। सरकारी नौकरी में सिर खपाने का जो मधुर पुरस्कार उन्हें मिल चुका था, वह इस जन्म में भूल जाने की वस्तु नहीं थी। वह सरकारी नौकरी के बिलकुल विरुद्ध हो गये और खुलकर कहते—"विदेशी जूआ, उनकी नौकरी कर हमने स्वयं ही अपने देश के गले में डाल रक्खा है। हम अपनी दासता के कारण आप हैं।" सरकारी नौकर इस आक्षेप को पाकर आपस में कहते—" अंगूर खट्टे हैं।

नौकरी से निकाले जाने पर ही तो हमें कोसता है। अपने मन से छोड़ता, तो हम भी जानते।"

विशालजी ने सोचा-विचारा—"अंत में किया क्या जाय? कुछ तो करना ही पड़ेगा। स्त्री-पुत्र हैं, पत्नी का फैशन न सही, पुत्र की शिक्षा को तो चाहिए ही। खाना-कपड़ा, मकान का किराया, रोग और पीड़ा, उत्सव-त्योहार सभी रुपया चाहते हैं।"

म्युनिसिपल्टी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी उन्हें उन दिनों नहीं भाते थे। वह उन्हें लोक-शासन का ठेठर कहते थे। कहते थे पहला मज़-दूरों का और दूसरा किसानों का स्वांग है। विशालजी प्रतिभाशाली थे, इसमें संदेह नहीं। ऑफिस के रूटीन कार्य से पूरे परिचित, नौकर-चाकरों के संगठन में अनुभवप्राप्त—चाहते तो उपरोक्त किसी भी दफ्तर में घुसकर अच्छी-से-अच्छी कुर्सी पर शोभाय-मान हो सकते थे।

परंतु नहीं! उन्होंने बार-बार अपने मित्रों के बीच में हथेली पर मुट्ठी मार-मारकर अपना निश्चय दृढ़ किया था—"नहीं, विशाल गुलामी की कड़ियाँ तोड़ चुका। अब तो वह किसी स्वतंत्र वृत्ति से ही जीविका उपार्जित करेगा।"

परंतु वह स्वतंत्र वृत्ति क्या? "जीवन एक उद्देश्य के लिए है। केवल गृहस्थी का पालन! एक पशु- वृत्ति! नहीं विशाल! तू नौकरी छोड़कर ऊपर उठा है।" विशालजी ने सोचा—"अब स्वावलंबन पर ही तू ऊँचा होगा। परंतु वह स्वावलंबन है क्या वस्तु? वह जीवन का उद्देश्य है कौन जानवर?"

जीवन का उद्देश्य तो विजाति के शासकों की कूटता का भंडाफोड़ था, वह उसे जनता में फैलाना चाहते थे और उसके बीच में घुसने का मार्ग टटोलने लगे। कभी सोचते—"चौराहे की किसी नोक पर पान की दूकान खोल लूँ। कत्थे और सफेदी का

हरियाली पर मेल कराता हुआ, हर गाहक का मुँह भरूँगा पान से और कान इस स्वार्थी शासन के कुचक्रों से।" इस विचार पर जब वह और गहरे धँसते, तब देखते-"लेकिन गाहक तो सब बँधे ही होंगे और उनमें भी अस्सी प्रतिशत तो बाबू लोग। उनके लिए सरकारी नौकरी कामधेनु है और उनका मेरी बात पर विश्वास न जमना स्वाभाविक ही है। गाँव की जनता—भारत की रीढ़ वही है, उसको मेरी बात मान्य होगी, क्योंकि राजनीति का बड़ा भार उसी को ढोना पड़ता है। उसके संसर्ग को बढ़ाने के लिए आटे-दाल की दूकान कैसी होगी? एक ओर किसान, दूसरी तरफ बाबू!"

जब उन्होंने पत्नी पर ये विचार खोले, तब वह झुँझलाकर कहने लगी-"छी! छी! क्या इसी दिन के लिए तुमने पढ़ा-लिखा था? आटे और धूल की बोरियाँ झाड़ते हुए तुम कैसे दिखाई दोगे? इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती मैं। घी और तेल में सनी तुम्हारी पतलून और कोट की बाँह कैसे सहन कर सकूँगी मैं। पैसा अच्छा कमा लोगे, तो क्या केवल वही एकमात्र इष्ट है। नहीं—यह हो न सकेगा।"

यह हुआ भी नहीं फिर। विशालजी ने हिंदी की सेवा कर जीविका का प्रश्न हल करना निश्चित किया। कुछ कविता की ओर झुकाव था। देशभक्ति रस के गीत लिखने आरंभ किये पहले, फिर लेख लिखना और पब्लिक में बोलना। परंतु जन-साधारण में इससे उनकी पहचान तो बढ़ चली, रोटी का सवाल हल नहीं हुआ।

कुछ दिन हिंदी-समिति में भी उन्होंने आना-जाना आरंभ किया। जब यह देखा कि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है, न कोई नगर के बड़े लोगों का ही उससे संपर्क है, वह उससे कतरा गये। आर्य-समाज के जलसों में कविता पढ़ते, कभी कोई

भाषण भी झाड़ देते। वहाँ भी अपनी दाल न गलने पायी, न राजनीतिक और सामाजिक विचारों में ही साम्य पाया। छोड़ दिया वहाँ जाना ही। हिंदू त्योहारों का संगठन कर उनके अधिवेशनों में भाषणों का संयोजन करते। कुछ ट्रेक्ट छपा लिये थे उन्होंने। स्वामीजी की भाँति उनका एजेंट भीड़ के निकट चादर बिछा ट्रेक्टों को फैला उन्हें बेचता। दस-बीस प्रतियाँ बिक भी गयीं, तो उससे क्या होता?

विशालजी सहज ही निराश हो जानेवाले व्यक्ति न थे। इच्छा के दृढ़ और लगन के पक्के थे। बुद्धि के तीव्र और परिश्रम करने से भागते न थे। उन्होंने सोचा—"हिंदी के प्रेम से भरण-पोषण कठिन बात है। सब स्थानों से निराश साधक ही उसके मैदान में आता है। जब तक हिंदी को राज्याश्रय नहीं मिलेगा, कोई भी उससे लाभ नहीं उठा सकता। विदेशी शासन ने उसकी बाढ़ रोकने को जगह-जगह उसके लिए काँटे बिछाये हैं।"

उन्होंने हिंदुस्थान का प्रेम हो जाना अधिक लाभदायक समझा और जनता का सेवक हो जाने से घर और बाहर दोनों जगह प्रकाश हो जाने की संभावना देखी।

परंतु प्रकाश हुआ तीसरा ही बटन दबाने से। वह बटन था दी हिरण्यकश्यप बीमा कंपनी का एजंट होना। विशालजी कुछ ही दिनों में अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर कुछ जमा भी करने लगे। फिर तो बराबर उनकी आमदनी बढ़ती ही गयी।

भरण-पोषण की चिंता से मुक्त होकर ही मनुष्य जनता की कोई सेवा कर सकता है। पैसा हो जाने से अब विशालजी की वाणी और लेखनी दोनों में शक्ति प्रगट हो गयी!

उस बार जब स्वामीजी अपने पहाड़ी दौरे में आये तब विशालजी ने उनका विरोध करने की ठानी। विशालजी की

वक्तृत्व-कला स्वामीजी के सामने कोई रंग नहीं जमा सकती थी। वह सोचते—"यह एक दूर देश का, इसका अधिकार क्या है, जो यह हमारी भोली-भाली जनता को बहका जाय।"

भवदा भी गरमियों में कालेज की छुट्टियाँ होने से पहाड़ पर आ गये थे। स्वामीजी का कार्यक्रम सहकारी भक्तों को पाकर द्विगुणित उत्साह और बल से आगे को बढ़ चला।

विशालजी को पैसे का अभाव रहा नहीं था, पर उनके मन में जनता का नेता बनने का चाव दिन-दिन गहरा होता जा रहा था। धन की लोलुपता है, परन्तु कीत्ति की इच्छा एक उज्ज्वलता है। वह एक ओर जनता की सेवा है और दूसरो ओर आत्मा की पहचान!

स्वामीजी के व्याख्यानों में जहाँ प्रत्येक देश-प्रेमी खिंचकर चला जाता था, वहाँ विशालजी निमंत्रण पाकर भी नहीं गये। झूठे बहानों में छिप गये। उनके मन का भाव जानकर फिर किसी ने उन्हें नहीं बुलाया।

भवदा बोले—"विशालजी की कविता स्वामीजी के भाषण में उस दिन नहीं पढ़ने दी गयी। समय कम था और कविता बहुत लंबी। फिर व्याख्यान का विषय था 'अमेरिकनों का स्वातंत्र्य युद्ध" और इनकी कविता का शीर्षक था 'नशे की बुराई'। सामाजिक सुधारों के मंच पर वह कविता अच्छी जमती। स्वतंत्रता के संग्राम से उसका क्या मतलब! इस पर मजे की बात यह है, कि विशालजी चाय न पिएँ, तो दिन ही आरंभ न हो और सिगरेट न चूसें, तो कविता ही समाप्त न हो!"

स्वामीजी ने मुसकराकर कहा—"राष्ट्रीय साधना में हम सब का भाग है। आपसी मतभेद भूलकर हम सब को उसमें एक होना है। यह न किसी एक व्यक्ति के विवाह की भीड़-भाड़ है, न

उसके जन्मोत्सव की धूमधाम। न कोई बाध्य है यहाँ आने के लिए, न किसी को हम भेजेंगे निमंत्रण-पत्र। यह मातृभूमि का आह्वान है—कौन नहीं सुन रहा है, वह शताब्दियों से चिल्ला रही है। जिसके हृदय में उसके लिए प्रेम, आदर और कर्तव्य-भाव होगा, वह आकर ही रहेगा यहाँ।"

किसी ने भवदा और स्वामीजी की इन बातों के शब्दों और ध्वनियों में हेर-फेर कर विशालजी के कान भर दिये। विशालजी उत्तेजना से उतावले हो गये। तुरंत नया जूता, पतलून और कोट डाटकर खड़े हो गये बाहर जाने को तैयार।

खटर-पटर सुनकर पत्नी बाहर निकल आयीं बैठक में—"चाय तो पी जाओ।"

"नहीं, देर हो जायगी, फिर नहीं मिलेंगे वह।"

"सीझ रही है, एक ही मिनट में क्या देर हो जायगी? कौन नहीं मिलेंगे?"

"साहब! साहब! तुम नहीं जानतीं। वह समय के प्रतिबंध से सब काम करते हैं।"

"बुलाया है उन्होंने?" पत्नी ने प्रसन्न मुद्रा बनाकर पूछा।

"नहीं तो। भेंट करने जा रहा हूँ मैं स्वयं ही।"

"तुमने तो अंग्रेजों का कभी मुख न देखने की शपथ खायी थी, फिर आज यह क्या?"

"तुम्हें समझाने को तो पूरा व्याख्यान चाहिए। उसके लिए कहाँ समय है अभी।" विशालजी ने कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा।

उनका छोटा-सा लड़का पिताजी को पूरे कपड़ों में देखकर रोता, उँगली बढ़ाता हुआ बोला—"मैं भी चलूँगा घूमने।"

"संभालो इसे, क्या देख रही हो ?" कहते हुए विशालजी बच्चे को रुला, बिना चाय पिये ही, जूता खटखटाते हुए बाहर चले गये।

तीव्र गति से रास्ते में चले जा रहे थे वह, रेल छूट जाने के भय से त्रस्त किसी यात्री के समान। इधर-उधर, शत्रु-मित्र, किसी की ओर नहीं ताक रहे थे वह। धनुष से छूटे हुए बाण की भाँति, वेग और सीध दोनों में।

डिप्टी कमिश्नर के बँगले में वह कभी नहीं गये थे आज तक। वह अंग्रेज की परछाईं से भी घृणा करनेवाला क्यों आज उसके द्वार पर उसके दर्शन का भिखारी हो गया ? यह उसका उत्थान है या पतन !

"साहब अभी स्नानागार से आते हैं।" बैरा ने कहा—"तब तक इस बेंच पर बैठ जाइये और अपना नाम-पता इस चिट पर लिखिए।"

विशालजी ने चिट पर अंगरेजी में लिखा—

श्रीयुत 'विशालजी' कवि, लेखक और व्याख्याता

बैरा से लेकर साहब ने चिट पढ़ी। मन में विचारा—"आज तक कोई कवि मेरी भेंट को नहीं आया। यह तो कवि, लेखक और व्याख्यात तीनों का संग्रह—देखूँ कैसा पक्षी है।" जिज्ञासा बढ़ी उनकी। बैरा से पूछा—"धोती पहने, सिर पर ट्रेडमार्क भी छाप रक्खा है क्या ?"

बैरा साहब से खुला हुआ था। तत्क्षण ही बोल उठा—

"हुजूर, पतलून की क्रीज तो सीधी है नीचे, मगर ऊपर कोट की खिड़की बंद है।"

साहब हँस पड़े—"सलाम दो। ड्राइंगरूम में बिठाओ। हम आता है।"

विशालजी को शुद्ध धाराप्रवाह अंगरेजी में बोलता हुआ साहब ने पाया। उसका भ्रम दूर हुआ। विशालजी को कुर्सी देते हुए साहब ने पूछा—"किस काम से आये हैं आप?"

"एक बहुत आवश्यक और प्राइवेट काम।" विशालजी ने बैरा की ओर देखा।

साहब ने बैरे पर संकेत किया। वह चला गया।

"आप क्या काम करता है? गवर्नमेंट दफ्तर में किसी?"

विशालजी ने अतीत पर आवरण डालकर कहा—"नहीं इन्स्योरेंस कम्पनी का एजेंट हूँ।"

साहब चौंककर उठ खड़े हुए—"नहीं माँगता, नहीं-माँगता।"

विशालजी अधीर होकर कहने लगे—"नहीं साहब, नहीं साहब, मैं आपको इन्स्योरेंस के लिए बुक करने नहीं आया हूँ।"

"फिर क्या माँगता है—नौकरी? जल्दी बोलो।"

विशालजी कुर्सी पर जमे ही हुए थे, टस से मस नहीं हुए। बैठे-ही बैठे बोले—" सरकार खतरे में है।"

"कैसा खतरे में है, होने नहीं सकती। तमाम जात का पल्टन उसके पास है—छूत के लिए अछूत, अछूत का वास्ता छूत, अछूत और छूत दोनों का वास्ता हमारा गोरा पल्टन! एकदम लैस—कपड़ा, खाना-पीना, बम, बारूद, घोड़ा-खच्चर, भिश्ती, बावर्ची, परेड-कसरत—"

विशालजी ने साहब को वाक्य पूरा भी नहीं करने दिया। बीच ही में बोल उठे—"हुजूर, बगावत फैल रही है।"

"कौन फैला रहा है?"

विशालजी कुर्सी पर से उठे। साहब के कान पर मुँह ले जाकर फुसफुसाए—"स्वामीजी!"

विशालजी यह क्या कह गये तुम? कितना ही तुम्हारा मतभेद था स्वामीजी से, कितना ही तुम्हारा उनसे मार्ग अलग था, पर लक्ष्य तो एक ही था न? आपसी बैर के लिए एक विदेशी सहायता से राष्ट्र का द्रोह मोल लेने लगे। भगवान्! सुमति दो।

"स्वामीजी! वह दयानंद का चेला है। सामाजिक सुधार! कोई खतरे की चीज नहीं। वेद के पन्ने खोलता है, तो हमारा क्या बिगड़ता है। गाड़ी पीछे को जाती है। हमने पहिये में भाफ और बिजली के दाँत लगाकर उसकी वेलासिटी को इतना बढ़ा दिया है कि कोई छू नहीं सकता है!"

"यह सब सही है। स्वामीजी की धार्मिकता उसका पाखंड है। वह गेरुए रंग के परदे में बम बनाना सिखाता है। ब्रह्मचर्य का लेक्चर देकर पल्टन की भरती कर रहा है। गीता के बहाने लोगों को मौत से निडर बना रहा है।"

साहब कुछ चिंताशील होकर बोला—"लेकिन हमारे पास ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं आयी है।"

"मुझे राय बहादुरी से मतलब नहीं, नौकरी का भी भूखा नहीं हूँ। हाँ, राजा और प्रजा दोनों की भलाई जरूर चाहता हूँ। और एक बुराई वह फैला रहा है। वह लोगों में हिंदी जगा रहा है।"

"उससे क्या होता है फिर?"

"होता कैसे नहीं? हिंदी-उर्दू का झगड़ा जो चल पड़ा है।"

"हा! हा! हा!" साहब हँस पड़े। ओह! उससे हमारा क्या बिगड़ता है? हिंदी में साइंस का किताब नहीं है। हम डरता है तो साइंस से। तुम्हारा हिंदी और तुम्हारा संस्कृत हमारा कुछ नहीं कर सकता।"

"ध्यान दीजिए साहब, भवदा नाम का एक पहाड़ी नवयुवक है। उसने बी० ए० पास किया है और वह कहता है, हम अखबार निकालेंगे और अंगरेज की बड़ी-से-बड़ी तोप का सामना कर अपने मुल्क को आजाद कर लेंगे।"

माथा ठनका साहब का—"हम उस युवक को अच्छी सरकारी पेंशन की मलाईवाली नौकरी दिला देगा। उसको हमारे पास ले आओ।"

"वह कभी न आवेगा साहब। वह स्वामी से भी भयानक जीव है। वह कहता है, कानून एक खयाली डर है और निर्दोष आत्मा को जेल के सींखचे बाँध नहीं सकते। घोषणा करता है—"स्वराज्य हमारा मौरूसी हक है, स्वदेशी हमारी स्वाभाविक साधना और हिंदी हमारे ऐक्य का मंत्र है। स्वामी दयानंद, तिलक और अरविंद घोष! इन तीन नामों को जरा ध्यान से तो विचारिए।"

"स्वामी दयानंद—वह तो बड़ा अच्छा आदमी था। उसने वाइबिल पढ़ी थी और उसने बुतपरस्ती को वाहियात बात बतलाया था।"

विशालजी अपनी धुन में कहते जा रहे थे—" इन्होंने नगर के एक कोने में—अँधेरे गोठ में हिंदी-समिति नामक

एक संस्था खोल रक्खी है। इन षड्यंत्री क्रांतिकारियों एक क्लब समझिए उसे। हिंदी तो एक नाम का धोका है। ये जरूर वहाँ छिपकर बम बनाते होंगे। हाँ, एक बात याद आयी—भवदा हिंदी बंगाली और मराठी की तमाम जब्त किताबें वहाँ ले जाकर बाँटता और पढ़ता है। कह देना मेरा फर्ज था, आगे आप जानिये।"

डिप्टी कमिश्नर बहुत होशियार आदमी था। विशालजी के इस विस्फोटक व्याख्यान का कुछ प्रभाव पड़ा नहीं उसपर। मन में सोचने लगा—"यह आदमी बड़ा चालाक मालूम पड़ता है। पतलून से तो यह हमारी ओर हाथ बढ़ाता है और कोट का कॉलर बंद कर यह हिंदुस्थानी बनना चाहता है। इसका कोई गहरा मतलब है। इसकी लपेट में जरा खबरदारी से काम लेना पड़ेगा।"

विशालजी जाने के लिए उठ खड़े हुए।

साहब द्वार तक उन्हें पहुँचाने के लिए गये, विदा देते हुए बोले—"इस खबर के लिए हम आपको बहुत-बहुत थैंक्स देता है। हम जरूर इसका पक्का इन्तजाम करेगा।"

विशालजी अधिक उत्साह से घर नहीं लौटे। उनका हृदय धक-धक कर रहा था और मन में कोई धूसर प्रतिमा उनपर लांछन बरसा रही थी। विशालजी जूतों का खट-खट से उस ध्वनि को रौंदते हुए और हाथ से सिर खुजा उस छाया को मिटाते चले जा रहे थे।

इन्हीं दिनों कुमार द्वाराहाट की सर्वोच्च कक्षा में उत्तीर्ण हो अल्मोड़े के स्कूल में आगे पढ़ने को चला।

प्रस्थान के दिन उसने सोचा—"इतने वर्षों का यह नियम क्या तोड़ दिया जायगा ? शिला और वृक्ष दोनों में से कोई

मेरे साथ नहीं जा सकता ? परंतु मन में जो मेरे एक भावना जगती है, क्या उसका कोई रूप नहीं है। नहीं क्यों कहूँगा ? क्या स्वप्नों में वह स्पष्ट नहीं दिखाती ? जाग्रतावस्था में भी तो उसका भान होता है। जब वस्तु प्रतीक में है, तब प्रतीक ध्यान में। वास्तव जगत् का निवास कल्पना में भी है और कल्पना सदैव ही झूठी नहीं होती। यह वृक्ष और शिला मेरे प्रवास में साथ नहीं दे सकतीं, परंतु इनके नाम तथा रूप दोनों को मैं ले जा सकता हूँ।"

किशोर अल्मोड़े के एक हाई स्कूल में भरती हो गया। जिस देवता की एक रहस्यमयी विचेतनता में रचना हो गयी थी, उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट होकर उसने वहाँ पाया।

वह नियमित रूप से स्वामीजी के भाषण सुनने लगा। भवदा के सान्निध्य में आया और हिंदी-समिति का अटूट श्रद्धावान सभासद बन गया। वह नित्य संध्या समय, कृष्ण-पक्ष हो चाहे शुक्ल, गरमी हो चाहे जाड़ा, वर्षा हो चाहे हिम, समिति में पहुँच जाता था और मन में समझता था हिंदी-समिति की परिक्रमा उस वृक्ष की ही परिक्रमा है जिसे उसने अपने गाँव में आरंभ किया था।

नगर के कुछ दूर पर एक मकान के गोठ में वह रहता था। एक ही कमरा था। आधे में उसकी रसोई और गोदाम था, आधे में उसकी भूमि-शय्या और पुस्तकावलोकन का स्थान। आटा-चावल घर से आ जाता था, नमक-तेल बाजार से। चाय का चलन बढ़ा नहीं था तब इतना। वह दूर के जंगल से लकड़ी लाता और पास के जलाशय से पानी। भोजन स्वयं बनाता और बर्त्तन भी मलता था। गोठ के निकटस्थ एक दो खेतों में वह साग-पात भी उपजाता। दूसरी ओर स्कूल में भी वह सबसे अगली बेंच का विद्यार्थी था और कक्षा का मॉनीटर। वह तीव्रबुद्धि था। घर पर बहुत कम स्कूली किताबें पढ़ता था। वहाँ तो वही स्वामीजी

की पुस्तकें, समिति का साहित्य और सामयिक पत्र ही वह अधिकतर पढ़ता।

फुटबॉल, हॉकी और क्रिकेट इनमें से किसी में उसे कुछ आकर्षण न था। वह नगर में आया हुआ नया ग्रामवासी, स्नान-ध्यान का पक्षपाती था। जब चूल्हे पर उसके चावल भुद-भुद करते, तब जनेऊ से हाथ बाँधे उसके अधर गायत्री-मंत्र के अक्षरों के स्पंदन उपजाते। मंत्र गायत्री का था, परंतु उसके ध्यान में समा गयी थी भारतमाता!

वह भारतमाता, अपने मैले और फटे अंचल के आश्रय में अपनी दुबली-पतली संतान को समेटे अपने बीते हुए गौरव की चिंता करती हुई! सहसा पट-परिवर्त्तन हो जाता। वह देखता माता के चार हाथ हैं—एक में खड्ग और पुस्तक है, दूसरे में शस्य की बालें और माला, तीसरे में वर और चौथे में अभय! कौन कहता है माता दुःखिनी है? वह गायत्री का ही अपर नाम है। भुक्ति और मुक्ति दोनों के लिए वह जगत् की अपेक्षिता है। वह जयिनी है—उसकी जय हो!

कुमार बचपन से ही सच बोलना सीख गया था। वस्त्रों और भोजन के प्रकारों में कभी उसकी लालसा नहीं उपजी। वह सिर की चोटी और कंधे पर के उपवीत को सँभालकर रखता। तीनों जून संध्या करने का उसके पौराणिक पिता ने उसे विदा करते समय उपदेश दिया था। और कुमार ने उस आज्ञा पर अपना मस्तक विनत कर रक्खा था।

उसके उपनयन के उपलक्ष्य में ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या की गयी थी, वह उसकी समझ के बाहर थी और जो उसके पालन के नियम बनाये गये थे, वे उस संस्कृत में थे, जिसको अंग्रेजों के भारत-पदार्पण ने मृत-भाषा घोषित कर दिया था। कुछ भी हो; कौपीन, कृष्णाजिन, दंड और भिक्षा-पात्र लेकर कुमार ने उस दिन

जो घड़ी-दो-घड़ी की भूमिका ली थी, वह गड़ी हुई थी उसके मन में।

उसका वह धूमिल उद्देश्य स्वामीजी के व्याख्यान में बहुत कुछ प्रत्यक्ष होकर आया सामने। उसने उनका ब्रह्मचर्य पर व्याख्यान सुना और उस विषय पर लिखी गयी पुस्तक का अध्ययन किया। ब्रह्मचर्य के व्याख्यान में स्वामीजी अवश्य ही अपने उस व्रत को दोहराते थे—"पराधीन भारत में मैं विवाह करना पाप समझता हूँ। मैंने आजन्म अविवाहित ही रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया है—मैं दास-संतान उत्पन्न नहीं करूँगा।"

विवाह और ब्रह्मचर्य की आपसी शत्रुता का भेद तभी उसे ज्ञात हुआ—दास-संतान बढ़ाने की बात और भी रुचिकर प्रतीत हुई। एक बिजली-सी उसके सिर से पैरों तक चमक गयी। उपनयन के ब्रह्मचर्य में तुरंत ही परदा डालकर आगे के अंक दिखा दिये गये थे। परंतु कुमार का अभी विवाह नहीं हुआ था। उसने सोचा—"मैं भी तो यह व्रत ले सकता हूँ।"

पौराणिकता ब्रह्मचर्य की साधना का स्पष्ट मार्ग नहीं बता सकी थी। स्वामीजी ने सहज सामने रख दिया। दास-वृद्धि की जो राजनीतिक ग्रंथि उन्होंने उस व्रत में दी थी, उसने और भी अधिक कुमार का मन खींच लिया। उसने मन-ही-मन कहा—"कुमार! तू भी तो चिरकुमार रह सकता है।"

नारी एक पहेली-सी नाचती थी उसके मन में। बचपन ही से वह सोचता था—"मनुष्य विवाह कर क्यों अपने उत्तरदायित्व बढ़ा देता होगा!" गाँव में दो-तीन जोड़े जो उसने देखे थे, वे कलह-भरे थे। कई-कई बच्चे—रोना-चिल्लाना, भूख-प्यास, लड़ना-झगड़ना, कूड़ा-मैल, रोग और पीड़ा! विवाह का ऐसा पृष्ठ देखकर काँप उठा था कुमार और यही चित्र उसकी स्मृति में दृढ़

होकर रह गया ! उसने विवाह का अर्थ किया था, दरिद्रता और अशांति ।

स्वामीजी के व्याख्यान ने उसके विवाह की घृणा, ब्रह्मचर्य के आदर में बदल दी । घर लौटा वह । एक ही विचार की लहरें बार-बार उसके मन में 'निश्चय' में भी बदल जाने को उठ रही थीं ।

कुमार ने सोते समय प्रतिज्ञा की—"मैं भी आजन्म अविवाहित रहूँगा ।"

रात को स्वप्न में भारतमाता ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा--"बेटा, विवाह एक पवित्रता है ।"

४

जब रूस के टॉल्सटॉय की सरलता और रूढ़ि-विद्रोह, इंग्लैंड के रस्किन का सर्वोदय और अमरीका के इमर्सन के चेले थॉरो के 'सिविल डिसोबिडियंस' और 'पैसिव रेजिस्टेंस' भारतीय अहिंसा की पृष्ठभूमि में समन्वित होकर एक सर्वथा नवीन सूत्र को जन्म दे रहे थे । वह गाँधीवाद का शिशु था, जो अफरीका की मरुभूमि में पालने पर भूल रहा था ।

उस समय कौन जानता था कि गाँधीवाद एक दिन भारतव्यापी वातावरण में समाकर जनता के जीवन की साँस बन जायगा, उसके तर्क पर बुद्धिवादी पराजित हो जायगा, उसकी सरलता पर धनिक अपना मस्तक विनत कर देगा, उसका सत्य बक-धार्मिकों का पाखंड तोड़ देगा, और उसकी अहिंसा पर आततायी काँप

उठेगा। किसे पता था—सर्वस्व गँवाए हुए दीन-हीन का वह कल्प-वृक्ष नंगे और भूखों का वह सहारा तथा ओट, पराजित और थके हुओं की वह छाया, वह निराशों की आशा, निराधारों का आधार, मूकों की वाणी और निर्बलों का बल हो जायगा—एक दिन उसके आह्वान पर भारत जाग उठेगा और सारा संसार चकित होकर उसकी ओर देखने लगेगा ?

गाँधीवाद के लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार करने के लिए प्रथम विश्व-युद्ध की चिनगारी पड़ चुकी थी और वह अपनी भयानक ज्वालाओं में धधकने लगी थी। दया, धर्म और मानवता को तिलांजलि दे दी गई थी। भगवान् की दसों आज्ञाओं पर आक्रमणकारी, अस्त्र-शस्त्रों से सजे सिपाहियों के दलके दल पदाघात करते चले जा रहे थे। सहृदयता, सहनशीलता और अपने प्रति-वासी की प्रीति सिखानेवाली धर्म-पुस्तक पर मार्शल लॉ खोल दिया गया था।

चारों ओर ध्वंस, हाहाकार और मृत्यु अपना तांडव नर्त्तन करने लगे। संतान के रक्त से धरतीमाता लाल हो गयी। वैज्ञानिक चमत्कारों से परिपूर्ण नगर श्मशानों में बदल गये। शिक्षा, संस्कृति, मनोरंजन और सभागृहों की गगनचुंबी अट्टालिकाएँ भग्नावशेषों में परिवर्त्तित हो गयीं। कृषि और वाणिज्य चौपट हो गये। उद्योग और शिल्प की कोई कुशल पूछनेवाला न रहा। केवल युद्ध और सेना ! जल-स्थल और आकाश के ध्वंस ! मारकाट, लूटपाट, आक्रमण-संहार दिन-दिन अपने विस्तार से समस्त भू-मंडल को लपेटने लगे। सर्वत्र त्राहि ! त्राहि ! सेनावाद का नैतिक और चारित्रिक पतन ! साम्राज्यों की बस्तियाँ उजाड़ हो गयीं, बस्तियों के मनुष्य मिट गये और मनुष्यों की दया-माया तिरोहित हो गयी ! साम्राज्यों के एक-दूसरे को निगल जाने की स्पर्धा में निरपराध प्रजा की बलि चढ़ने लगी।

शीघ्र ही युद्ध की ये विशालकाय लहरें भारत से भी आकर टकरायीं।

युद्ध का खाद्य सेना और शस्त्र है तथा सेना का खाद्य है—अन्न-वस्त्र। इन दोनों का पेट भरने के लिए भारत की जनसंख्या और उसकी शस्य-श्यामलता दोनों ही खटखटायी जाने लगीं। महाजनों ने अपनी राजभक्ति की साक्षियाँ दीं; भूखों ने समझा—"यहाँ कौन-से उपभोग हैं? चलो युद्ध में ही चलो, मरना दोनों ही जगह है। भूखे मरने से भरपेट मरने में क्या हानि है? चलो संसार की सैर तो होगी।" भरती पर भरती आरंभ हो गयी। भारत की दुर्बल संतान ने मिलिटरी कोट-पैन्ट-बूट और पेटी कस अपना सितारा चमकता हुआ देखा! फॉल इन, लेफ्ट-राइट—लेफ्ट-राइट—क्विक मार्च! रेल और जहाजों में लाद दिये गये!

सब टपका ले जाने के लिए अन्न-वस्त्र आदि उपकरणों का भाव बढ़ा दिया गया। अखबारों के क्षेत्रफल और संख्या में नोटों के ढेर लग गये। पूँजीपतियों ने अधिक धन-संग्रह कर लिया, निर्धन और निरीह प्रजा और भी दरिद्र हो गयी! अन्न-कष्ट, वस्त्राभाव से जनता संत्रस्त हो उठी। दुर्भिक्ष और महामारी से बहुमत आकुल हो उठा।

और वह वेगवती लहर इस पहाड़ी जिले से भी टकरायी। वानस्पतिक और खनिज साधनों के लिए नहीं—मानुषी शक्ति के लिए—सैनिकों के लिए, मजदूरों के लिए, लोहार-बढ़ई आदि कारीगरों के लिए। भरती धारा-प्रवाह से चल पड़ी।

स्वामीजी और उनके भक्त आपस में कहने लगे—"साम्राज्यवाद का यह अक्षम्य अपराध है, जो अपने पापों के लिए भारत पर उत्तरदायित्व रखता है। पहाड़ पर के चीड़ के तने में घाव लगाकर जिस प्रकार उसकी सारी संजीवनी चुआ ली जाती है,

ऐसे ही ये भरती के दफ्तर भारतमाता के अंग पर के घाव हैं—जिनसे उसकी जन-शक्ति का अन्याय-हरण किया जा रहा है।"

उन्होंने इसका विरोध करने की ठानी, पुलिस की लाल आँखों का सामना करने को उनका साहस हुआ, परंतु प्रजा की आवश्यकता और दैन्य का प्रतिकार करने को उनके पास कोई साधन न था। वे कुछ न कर सके।

कुमार काँख में हिंदी-समिति के कुछ पत्र दबाकर घर को जा रहा था। अंधेरा हो चुका था। म्युनिसिपेलिटी के धूमिल मिट्टी के तेल के दीप-स्तंभ, पथिकों की ठोकरों पर प्रकाश दिखा रहे थे। कुमार गाड़ी की सड़क पर आया।

रामलीला के मैदान के ऊपर दीवाल के पास कुछ मनुष्य आकाश की ओर संकेत कर कुछ दिखा रहे थे। अधिक कौतूहल से भरे हुए थे, कुछ संशय में भी।

एक ने कहा—"वह पाकर के पेड़ से ऊपर!"

दूसरा बोला—"हाँ! हाँ!"

कुमार ने भी देखा, पूछा—"क्या है वह?"

सबसे चतुर दर्शक ने कहा—"हवाई जहाज है। जर्मनी का!"

कुमार ने विरोध किया—"नहीं तो।"

"देखते नहीं कैसी तीव्र गति से जा रहा है। सैकड़ों मील दूर है, होगा बंगाल के ऊपर, तभी तो उसकी गति का अनुमान करना पड़ रहा है।"

कुमार ने फिर कहा—"वह तो संध्या-तारा है।"

"संध्या-तारा? नहीं। वह आज-कल कहाँ उदित होता है? फिर न उसमें यह प्रकाश, न वह इतना बड़ा!"

कुमार ने फिर ध्यान से देखा। मन और शरीर दोनों

की अस्थिरता से पाकर की टहनियाँ हट जा रही थीं दृष्टिरेखा से और वह ज्योति-पुंज।अपने मार्ग में दौड़-गया प्रतीत होता था। कुमार ने फिर विरोध किया—"नहीं भाई!"

"जब विश्वास ही नहीं, तब क्या कहें तुमसे। जर्मनी आ रहा है। जल के मार्ग से उसके पनडुब्बों ने कैसी चोटें चलायी हैं? क्या तुम नहीं जानते? नित्य समाचार-पत्र पढ़ते हो। भारत-आक्रमण को, दुर्बल पक्ष के अनुसंधान के लिए आया है। संभव है राजनगरी को बम गिराकर नष्ट-भ्रष्ट कर देना इष्ट हो! राजनगरी समाज की धुक-धुकी है—वह नष्ट कर दी गयी, तो समझो सब समाप्त हो गया!"

घर जाकर कुमार ने फिर उसे देखा। अपना एक स्थान नियत कर उसने उसकी स्थिति नियत की। खा-पीकर फिर देखा। सोते समय फिर देखा। किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा कुमार।

दूसरे दिन नगर में यह चर्चा घर-घर फैलने लगी—"जर्मनी आ रहा है! भारतवर्ष की समस्त और शुद्ध वेद-विद्या वहीं है। उसने संस्कृत के पांडित्य से वेदों के ताले खोल डाले हैं। उसने विमान बनाये हैं, अग्नि-बाण सिद्ध कर लिया है! वह भारत पर आक्रमण करेगा, संसार की समस्त जातियों को पराजित कर देगा।"

"जर्मन कैसर आ रहा है। उसका हृदय भूमंडल के विजय की महत्त्वाकांक्षा रखता है। उसके मस्तिष्क में विशद कल्पना है और मुट्ठियों में दृढ़ इच्छा-शक्ति! कौन उसका मार्ग रोक लेगा? उसकी तीखी और घनी मूँछें आकाश की ओर उठी हैं, वह उनपर वाराहावतार के दाँतों के समान सारे भूगोल को उठाकर रख लेगा!"

चोर-डाकुओं से सुरक्षित पूँजीपति सोचने लगे—"आक्रमणकारी राजा और उसकी सेना का सामना कैसे होगा ? दीवालें तो दृढ़ कर रक्खी हैं हमने, छत का क्या होगा ? आँगन में कौन-सी छाया है ? हवाई जहाज उड़ने लगे तो ?—" वे कागज को मूल्यवान धातुओं में बदलने लगे। सोने-चाँदी का भाव चढ़ चला !

साधारण प्रजा कहती—"आ जायगा। जर्मनी आ जायगा, तो क्या खा जायगा ? क्या राज्य करने को प्रजा और शांति की आवश्यकता न होगी उसे ? यहाँ क्या है। एक संदूक में बंद न रहे दूसरे में सही।"

किसान सोचता—"आ जायगा, तो क्या ले लेगा ? यह जो धरती का टुकड़ा मेरे पास है, मेरे श्रम और भगवान् की करुणा की धारा ही से तो इसका मूल्य है। इसको कौन छीन सकता है मुझसे, कौन यहाँ से हटा सकता है ? उसके यानों में पशु नहीं जुते हैं, वे ऐंजिन से चलते हैं। हमारे खेतों की हरियाली हमारा जीवन है, उसपर कौन दाँत रख सकता है ?"

सरकार के प्रतिबंध बढ़ते जा रहे थे। लेखक और व्याख्याताओं की ध्वनियों से कहीं वातावरण न अशुद्ध हो जाय, यह पूरी चेष्टा की जा रही थी।

उस समय की कांग्रेस के पास केवल "रोटी दो" की माँग थी, रोटी का युद्ध न था। वह सिर का टोप उतार घुटने टेक अंचल फैलाती और कुछ मिल जाने की आशा में हारमोनियम को मृदंग का साथ देकर "गॉड सेव दी ऽ ऽ ऽ किं ऽ ऽ ऽ ऽ ग" का गीत गाती थी।

संत और गुरुओं ने सांस्कृतिक चेतना दे रक्खी थी। मुक्ति के उपाय भी बता रक्खे थे ; परंतु वह केवल एक काल्पनिक थी,

उसकी जड़ बाहरी दृश्य जगत् पर थी। लोकमान्य तिलक ने ऊँची ध्वनि कर कहा—"जब तक राजनैतिक पराधीनता है, हमें मानसिक मुक्ति नहीं मिल सकती। कुछ कर्म करो, कर्म ही योग है, युग की वाणी है।" वह रोटी की स्थूलता तक नहीं पहुँच सके थे, बुद्धिवादी थे, इसी कारण साधारण जनता से दूर रहे, परन्तु समाज के ऊपरी स्तरों में केवल उनका ही उस समय अचल नेतृत्व था।

बंगाल और महाराष्ट्र में माता की कुछ उग्र संतान—जिसे "साम-दाम" में विश्वास नहीं था, परंतु भारत-माता की भक्ति में जिनके कुछ भी कमी न थी—आतंकवादी हो गयी थी। उसका "दंड और भेद" पर अधिक विश्वास था।

स्वामीजी आतंकवादियों से सम्बद्ध नहीं थे। हाँ, और कई वादों के मिश्रण उनके व्यक्तित्व में अवश्य थे। स्वामी दयानंद को वह एक महान् सामाजिक नेता मानते थे, लोकमान्य तिलक पर भी उनकी अटूट श्रद्धा थी, स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द को वह विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाने का कारण समझते थे।

स्वामीजी ने अपने भक्तों से कहा—"कुछ करने का यह उपयुक्त समय है। बाधाएँ भी बहुत हैं। ध्वनि ऊँची करते हैं, तो पुलिस आकर गरदन दबाती है।"

बहुत-से उनके भक्त आज्ञा मिलने पर आग में कूद जाने की भी घोषणा करते थे। उनमें से एक बोला—"स्वामीजी, आप क्या यह समझते हैं हम जेलों से डरते हैं ?"

दूसरे ने कहा—"पराधीन भारत! हम सब के सब आज जेलों में हैं। अंगरेज ने रंग का भेद डालकर हमारी हीनता बढ़ा रखी है। शिक्षा के नाम पर दासता, न्याय के नाम पर

पक्षपात, रेल और तारों के सुभीते के नाम पर अपना बन्धन बढ़ा रखा है। भारत की सारी उपज लड़ाई के मैदान में भेज दी। महँगी और महामारी हमें निगलने को दौड़ रहे हैं। अपनी व्यथा के स्वर हम ऊँचे कर नहीं सकते, अपने व्रण खोल नहीं सकते। सींखचों के इस पार और उस पार में कोई अंतर नहीं है।"

स्वामीजी ने कहा—"पहाड़ी निर्भय होता है और कष्ट-सहिष्णु भी। कदाचित् प्रकृति के मुक्त संसर्ग ने उसे ये गुण दिये हैं।" पहाड़ियों के अनेक वर्षों के अध्ययन से स्वामीजी उनकी चपलता को भी पहचान गये थे। उन्होंने व्याख्याता के उत्साह को स्थिर रखा।

वह और प्रभावित होकर कहने लगा—"पशु भी तो अपना पेट भरते हैं। जीवन की सार्थकता राष्ट्रीयता की सेवा में है। वही जिया, जो दूसरे के लिए जिया, जो दूसरे के लिए मरा, केवल वही अमर हुआ!"

सबने ताली बजाकर अनुमोदन किया। मित्र लोग उनकी कुछ ऊँची गरदन होने के कारण उसे हयग्रीव कहते थे। आदमी सीधा-सादा था। नगर के अंगरेजी स्कूल में नवीं कक्षा तक पढ़ा था। साधारण व्यवहार का हिसाब-किताब अच्छा जानता था, असमय पिता के मर जाने पर गृहस्थी चलाने के लिए उसे उसकी नौकरी सँभालनी पड़ी। स्कूल में अधिक मन भी नहीं लगता था उनका, छोड़ दिया। नौकरी थी चुंगी में जानवरों के खोड़ की चौकीदारी और मुंशीगिरी की।

हयग्रीव के पिता सीधे-सादे स्वभाव के थे। व्यर्थ ही किसी से झगड़ा मोल नहीं लेते थे। खोड़ में बंदी किये जाने का अपराध लेकर जो भी पशु उनके पास लाया जाता, यदि तुरंत ही उसके पीछे उसका मालिक दौड़ा हुआ चला जाता, तो

हयग्रीव के पिता उस जानवर को छोड़ देते । गाय की बछिया को खोड़ में डालने के लिए कोई लाता, तो उसे अच्छी डाँट बताते। कहते—"अरे तुम्हें लज्जा आनी चाहिए, यह मूक पशु क्या जानता है, कौन तुम्हारे खाने की घास है या किस पर तुम्हारे रंग-विरंग फूल खिलते हैं। इनकी आँखों में सारी हरियाली एक ही सी है। यदि तुम इनके मालिक को असावधानी का दंड देना चाहते हो, तो वह भी भूल है। बालकाल एक चपलता का इतिहास है, और शिशु-पशु कोई अपवाद नहीं।"

जहाँ तक हमें ज्ञात है, उस खोड़-मुंशी का राजद्रोह के लिए कभी चालान नहीं हुआ। वादी-प्रतिवादी दोनों उनके व्यवहार की सरलता के लिए प्रसन्न थे।

पर हयग्रीवजी ने स्वामीजी के सम्पर्क में मनुष्य के अधिकारों का परिचय पाया था। वह हेड साहब की गाय को, पिरभू माली का खेत उजाड़ने के लिए, निश्चित रूप से खोड़ में बंद कर देता, चाहे लाट साहब ही क्यों न उसका सहायक होकर आया हो। और इसके विपरीत, वह कलक्टर साहब के फूलों के गमले तोड़, उनके फूलों की क्यारी को दाँतों और खुरों से बदरंग कर आनेवाले को सुखई धोबी के गधे को खोड़ से निकाल उसके घर तक पहुँचा आता। वह जाकर सुखई को साम्य का उपदेश देता—"सुखई भैया, तुम्हारी हाँडी के लिए तो पूरे चावल नहीं जुट पाते, और ये पाँच बार माल उड़ाकर अहाते को : ंग-रंग के फूलों से सजावेंगे कि साधारण जनता के मन में इनका आतंक फैले, वह इनके बड़प्पन की दुहाई दे, इनकी प्रतिष्ठा के मार्ग से हटकर इन्हें दंडवत् प्रणाम करे।" सुखई की समझ में बात तो कुछ आती न थी, परंतु गधे को सकुशल पाकर वह हयग्रीव के प्रति बार-बार कृतज्ञता प्रकट करता।

भवदा जानते थे, समय आने पर हयग्रीवजी दुम दबाकर

भाग जानेवालों में किसी से पीछे न थे। यदि कभी पकड़ में भी आ जायँ, तो माता की डाँट खाकर, माफी माँग, घर की दौड़ में भी पहले निकलते। परंतु भवदा चुप रहे। उनका विचार था किसी की देशभक्ति की उमंग को कली में ही तोड़ देना अक्षम्य अपराध है।

स्वामीजी बोले—"लेख और व्याख्यान के पश्चात् कुछ कार्य करना है हमें। कार्य करते हैं, तो प्रतिबंध हमें निगल जाने को मुँह बाये हैं।"

अनेक ध्वनियों ने स्वामीजी का उत्साह बढ़ाने के लिए कहा—'हम जेल से भयभीत नहीं है, हम जेल जाने को तैयार हैं।"

"परंतु हममें से जो दो-चार कार्यकर्ता हैं, उनके जेलों में बंद हो जाने से इस चिनगारी को बुझा देना भी मुझे इष्ट नहीं।" स्वामीजी ने कहा—"हम क्यों न सामाजिक सुधार-कार्य अपने हाथों में लें। सामाजिकता कोई स्वतः सिद्ध और स्वतंत्र वस्तु नहीं है। उसका जोड़ एक ओर धर्म से है, तो दूसरी ओर राजनीति से। मैं "भाई-संप्रदाय" नामक एक संप्रदाय को जन्म देना चाहता हूँ। संप्रदाय नाम सुनकर ही नाक-भौं सिकोड़ने की आवश्यकता नहीं है। कुछ विधि-विधानों की कल्पित योजना, कुछ वेश और रंगों की पहचान, कुछ माथे पर लगे हुए खड़े-पड़े चिह्न कुछ कनपटी, सिर या ठोड़ी पर के घटाये-बढ़ाये गये बाल और इन सबके ऊपर अपनी ही बात को सबसे बड़ी समझना, यही तो सांप्रदायिकता है। मेरी समझ में सांप्रदायिकता विचार का संकोच नहीं है, वह है उसकी जन-संख्या की कमी। 'भाई-दल' नाम भी रक्खा जा सकता है। पर मैं प्रचार-कार्य में अतिशयोक्ति का उपयोग अच्छा नहीं समझता, इसीलिए "संप्रदाय" शब्द ही को पसंद करूँगा। सांप्रदायिकता इसीलिए बुरी वस्तु है कि उसका विस्तार थोड़ा-सा

है—वास्तव में देखा जाय, तो जितने भी धर्म, दर्शन, राजनीति, और साहित्य के मत या वाद हैं, सब आरंभ में संप्रदाय ही थे। संप्रदाय की परिभाषा कठिन है। मैं तो सांप्रदायिकता की निकृष्टता वहाँ पर समझता हूँ, जहाँ किसी विचार या आदर्श की शैली बलपूर्वक खड्ग और विधान के बल से जनता पर लाद दी जाती है। मैंने जो कुछ सिद्धान्त एकत्र किये हैं, वह मेरे नहीं हैं। इस प्राचीन धरती पर नवीनता कुछ भी नहीं है। मैं उन विचारों को बलपूर्वक आपके माथे नहीं मढ़ देना चाहता। जिसकी श्रद्धा हो, केवल वही आगे बढ़े। कोई व्रत लेकर उसे तोड़ देना पाप है। इसलिए नवयुवको, सोच-समझकर इस आग में कूदना। माता के इस आह्वान में कोई आग्रह नहीं, कोई आधार नहीं और कोई बलप्रयोग नहीं। यह स्वयंसेवकता है। यह काँटों का बिछा मार्ग है, तलवार की धार पर चलना है। इसमें कोई लोभ नहीं, कुछ पुरस्कार नहीं। जिसको यह मान्य हो, वही इस कमरे में रहे।"

परंतु कोई भी अपने आसन से नहीं हिला। कुमार भी वहाँ उपस्थित था। शङ्कर भी अल्मोड़े स्कूल में पढ़ने के लिए आ गया था। कुमार ने शंकर के सिर पर भी लकड़ी घुमाकर उसे स्वामीजी का चेला बना दिया था।

स्वामीजी ने फिर ऊँचे स्वर से कहा—"जो यहाँ से चला जायगा, मैं उसे सच्चा समझूँगा। मैं उसके साहस की प्रशंसा करूँगा। मुझे उसकी देशभक्ति में भी कोई संदेह नहीं है। एक साधना के भी मार्ग अनेक हैं। देखें, कौन जाता है।"

तब भी कोई नहीं गया। स्वामीजी मुसकाये—"हमारा भविष्य हमारे विचार की लहरों में है। मुझे संख्या का कोई लालच नहीं। आरंभ में बुद्ध के चार साथी थे, ईसा के बारह।

आप जो दस नवयुवक यहाँ पर बैठे हैं, यदि मन-प्राणों की एकता साध लें, चाहें तो फिर भारतवर्ष की दसों दिशाओं में एक नवीन चेतना जगा सकते हैं।"

भवदा, स्वामीजी के सबसे निकट थे। स्वामीजी को उनका पूरा विश्वास था। वह स्वामीजी के पहाड़ पर के प्रचार के एक प्रकार के प्रधान मंत्री-से थे। परंतु स्वामीजी ने 'भाई-संप्रदाय' की रचनात्मकता अभी उनपर भी नहीं खोली थी। उद्देश्य तो सबको ज्ञात था, विधेय के लिए सबकी उत्सुकता बढ़ी हुई थी।

कमरे में एक रहस्य से रँगा मौन छाया हुआ था। नगर से दूर पर्वत के शिखर पर स्वामीजी की शांत कुटी चीड़ के सुवासित पवन में सिर उठाये खड़ी थी। वर्षा समाप्त हो गयी थी। धरतीमाता ने अपने हरित अंचल को पीले रंगों में रँगना आरंभ कर दिया था। हिमालय के आश्रय में दूर के धूसर पर्वतों में छोटे-छोटे गाँव दृष्टिगोचर हो रहे थे, जहाँ किसान के मन में अपने श्रम की समृद्धि एकत्र कर लेने का उत्साह भरा हुआ था। शुद्ध शरद् के आकाश की निर्मलता ने पृथ्वी को मधुर आभा दे रक्खी थी।

नगर में नवरात्रियों के उत्सव की धूमधाम थी। रामलीलाओं की चहल-पहल थी। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध की कमी और महार्घता सर्वत्र फैली हुई थी, तथापि उत्सव के रंगों में कोई फीकापन दिखाई नहीं दे रहा था।

पौराणिक न होते हुए भी स्वामीजी ने अष्टमी का दिन जान-बूझकर ही अपने नये संप्रदाय के जन्म के लिए चुना था। ज्योतिष में विश्वास न रखने पर भी उन्होंने उस विशेष दिन को विशेषता दी थी। क्या भारत के मातृत्व की कल्पना ने हमारी भक्ति में नवजीवन नहीं दिया ? क्या यह कवित्व कोरा स्वप्न था ?

राम के विजय की परावर्त्तिनी यह महाष्टमी, जिसमें माता का नाम संश्लिष्ट है, क्यों न उसके सेवकों के व्रतारंभ के दिन के लिए उपयुक्त होता ? स्वामीजी ने कहा—"मैं अच्छी तरह और विचार कर लेने के लिए पाँच मिनट और देता हूँ। मैं यहाँ से हट जाता हूँ कि मेरा कोई दबाव न पड़े।"

स्वामीजी वहाँ से बाहर चले गये। और घड़ी देखकर भीतर आये। उन्होंने द्वार पर से देखा, सब उसी प्रकार स्थिर थे। स्वामीजी ने द्वार बंद कर दिये और अपना आसन ग्रहण करते हुए कहा—"अच्छी बात है। जात-पाँत के अभेद की समता पर 'भाई-संप्रदाय' का मुख्य लक्ष्य होगा—भारतमाता को विदेशी बंधन से मुक्त करना। इस व्रत की पूर्णता के लिए उसके प्रत्येक सदस्य को आजन्म अविवाहित ही रहने की प्रतिज्ञा करनी होगी।"

सहसा श्रोताओं के तीन मस्तक हिल पड़े। भवदा तो उठकर खड़े ही हो गये।

स्वामीजी हँस पड़े, बोले—"भवदा, मुझे ज्ञात है तुम्हारा विवाह हो चुका है। तुम्हारी योग्यता, निष्ठा और तत्परता मुझे तुम्हें न छोड़ने को बाध्य करती है। नियम अपवाद पर स्थिर है, जैसे ध्वंस पर निर्माण। इन कुमारों के चक्र की अक्षुण्णता के लिए मैं तुम्हें इसके बाहर रखूंगा। मैं भीतर इनका नेता बनकर इनको राह दिखाऊंगा और तुम बाहर चौकसी पर रहकर हमारी रक्षा करोगे कि हम—रात-दिन हमारा भेद लेनेवाली—पुलिस के आने से पहले ही सावधान हो जायँ।"

भवदा बाहर चौकसी पर बैठा दिये गये। फाटक की ओर मुँह कर, वह एक कुर्सी पर विराज पुस्तक पढ़ने लगे।

सबसे अधिक उत्साह कुमार के मन में चमक रहा था।

उसके जो चिरकुमार रहने की इच्छा एक दिन खिल उठी थी, उसके फलने का समय आ रहा था। शंकर भी उठने लगा था, कदाचित् उसके पिता उसके उस व्रत के लिए सम्मत न हों। कुमार ने उसका हाथ पकड़कर उसे बैठा लिया और धीरे-धीरे उससे कहा--"मेरा साथ दो शंकर, हमारी बहुत दिन की मित्रता है। घर में बहू लाने के लिए तुम्हारे पिता के दो पुत्र और हैं; मैं अपने पिता का अकेला पुत्र हूँ।" शंकर ने कुमार की बात मान ली। हयग्रीवजी की गर्दन में भी एक बार कुछ हलचल मची थी, पर न जाने क्या सोचकर वह फिर स्थिर होकर बैठ गये।

स्वामीजी ने द्वार बन्द कर उसकी साँकल लगा दी और अपने तखत पर आकर पद्मासन बाँध उपदेश-मुद्रा में स्थित हो कहने लगे--"भाइयो, हम सब भाई-भाई हैं। तुम सबको अच्छी तरह देख सकूँ और तुम सब मुझे ठीक-ठीक सुन सको, इसीलिए मैं तुमसे ऊँचे आसन पर बैठा हूँ। सुनो, हमको कोई वस्तु ग्रहण करने से पहले बर्त्तन को देख लेना पड़ेगा, उसके छेद बंद कर, उसे माँज लेना आवश्यक है। नहीं तो हमारा संग्रह चू जायगा, या मलिन पड़ सड़ जायगा। यह शरीर ही हमारा बर्त्तन है। इंद्रियों के छेदों से नाना विषय के राग और रंग आकर हमें बहका जाते हैं। ब्रह्मचर्य ही वह साधन है, जो हमारे बर्त्तन--इस शरीर को--सुपात्रता देता है। शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। इसी सुपात्रता पर चरित्र का निर्माण होता है। जिसे हम आजकल की शिक्षा समझे बैठे हैं, यह कोरा पाखंड है, इसके द्वारा हम अपने हाथों से अपनी दासता की कड़ियाँ दृढ़ करते हैं। ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा शत्रु नारी है। उसकी पार्थिव सन्निधि से उसका मानसिक चित्र कुछ कम भयंकर नहीं है; इसलिए तुम्हें उससे सदैव ही दूर रहना होगा।"

हयग्रीवजी विनम्रतापूर्वक उठे और बोले—"महाराज प्रकृति ने मनुष्यों में ही नहीं, पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों और लता-वृक्षों में भी नारीत्व दे रक्खा है। ऐसे विश्वव्यापी नारीत्व का बहिष्कार कैसे हो ?"

"उसमें माता का रूप देखो, उसे मातृ संबोधन दो, तब तुम देखोगे उसमें सृजन का प्रकाश है, विनाश की छाया नहीं। इधर देखो, वह सारी मातृ-वत्सलता इसमें समायी हुई है।" स्वामी-जी ने भारतमाता के एक चित्र की ओर संकेत किया, जो एक विशिष्ट स्थान पर लटकाया गया था। "यह माता का रूप कितना दिव्य और उज्ज्वल है। भारत की प्रत्येक नारी में इसी की अनुरूपता, क्या तुम्हारे विचारों की पवित्रता न बन जायगी ? तुम्हें एक-एक कर अपना दाहिना हाथ उठाकर इसके सामने आजन्म अविवाहित रहने का प्रण करना होगा।"

हयग्रीवजी शांत होकर बैठ गये थे, फिर उनके मानस में कुछ खलबली मची और उठकर बोले—"एक शंका है महाराज, भारतमाता के चार हाथ क्यों बनाये गये हैं इस चित्र में ?"

"शंका ? नहीं, भाई को कोई शंका नहीं होनी चाहिए। वह बड़ी घृणित वस्तु है। जिसका कभी कोई समाधान नहीं कर सकता, उसी गर्हित वस्तु का नाम शंका है। मैं विचार की उलझन को शंका समझता हूँ। यदि तुम्हें शंका है, तो तुम उठकर चले जाओ अभी। मैं गुण का पक्षपाती हूँ, संख्या का नहीं।"

हयग्रीवजी पछताते हुए बैठ गये।

स्वामीजी ने फिर कहा—"तुम्हें धरित्री के मातृरूप की कल्पना स्वीकार्य है, परंतु तुम्हें उसके चार हाथों का दर्शन असह्य हो उठा ! तुम कैसे द्वित्रिंश कोटि भुजाओं की कल्पना कर सकोगे ?"

हयग्रीवजी ने हाथ जोड़कर क्षमा माँगते हुए कहा—"महाराज, क्षमा कीजिए, मुझे शंका न होगी अब।"

सब बारी-बारी से उठे और भारतमाता को साक्षी देख सब ने एक-एक कर आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की।

इसके अनन्तर स्वामीजी बोले—"हम सब भाई-भाई हुए। यह आजन्म अविवाहित होकर रहने का ब्रह्मचर्य-व्रत हमारी एकता है। भाई-संप्रदाय की एक चतुर्मुखी योजना है। पहली योजना है वाणी की। वाणी से ही व्यक्ति सामाजिकता में नियोजित होता है। समाज की व्यापकता से ही राष्ट्र की सृष्टि होती है। कूटनीतिज्ञ गोरी जाति ने हमारी टूटी मूर्त्तियों के तो संग्रहालय बना दिये। कला की पूजा के लिए या पहले आक्रमणकारियों की ध्वंस-लीला को जीवित रखने के उद्देश्य से? परंतु सारे भारत की राष्ट्र-वाणी को नष्ट कर दिया! उसने हमारे संस्कृत-साहित्य को बटोर पुस्तकालयों में बंद कर घोषणा कर दी—'संस्कृत भाषा मर चुकी!' संस्कृत भाषा अब भी नहीं मरी है। भारत की समस्त भाषाएँ क्या आज भी उसी से अनुप्राणित नहीं हैं? हिन्दी सब भाषाओं की रानी है। वह भारत के हृदय आर्यावर्त की सबसे अधिक समझी जानेवाली भाषा है। उसने अनेक संस्कृतियों का टक्कर खाकर भी अपनी रक्षा कर रखी है। हमे विदेशी शब्दों से कोई घृणा न होगी। जिन शब्दों को हिन्दी पचा चुकी है, वे हमारे हैं। हाँ, ढूंढ़-ढूंढ़कर हिंदी में दूसरे शब्द जान-बूझकर रखने से हम अपने भाव की कृत्रिमता बढ़ा देंगे; इसलिए हमें अपनी एकता साधने के लिए हिंदी का व्यवहार और प्रचार करना होगा। दूसरी बात है, हमें भारतवासी मात्र को अपना भाई समझना होगा, छूत और अछूत इन शब्दों का त्याग करना होगा, सबको शुद्ध समझना होगा। मनुष्य के श्रम से हमने यह भेद उपजाया है, इसकी समानता

साधने के लिए हमें श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित करनी होगी। हमें निरंतर काम के छोटे-बड़े होने का भेद छोड़ देना होगा। भाई-संप्रदाय के सदस्य के लिए नीच काम कोई नहीं है। पानी भरने, बोझ ढोने, कपड़े धोने, कूड़ा साफ करने से लेख लिखने, भाषण देने तक के काम उसकी दृष्टि में एक ही महत्व रखते हैं। पहला सूत्र है--भाषा की एकता, दूसरे का नाम हुआ--श्रम की समता। तीसरा—"

बाहर बैठे-बैठे भवदा पुस्तक बंद कर सोचने लगे थे—"आजन्म अविवाह की प्रतिज्ञा! एक अप्राकृतिक सत्य! कुछ वर्ष तक कुमार रहकर ब्रह्मचर्य द्वारा विद्या की साधना, यह तो एक उचित परंपरा जान पड़ती है। चिर-कौमार्य-व्रत, क्या यह एक असंभवता, प्रकृति को धोखा देना नहीं है। प्रकृति को धोखे में रखने से कोई भी सुरक्षित नहीं रह सकता। स्वामीजी का हठी स्वभाव, मैं क्या कहूँ, वह किसी की बात नहीं मानते।"

इतने में भवदा ने देखा--पाँच लाल पगड़ियोंवाले, जिनमें से एक उनका नेता जान पड़ता था, हाथों में दंड लिये बड़ी तीव्रता से उसी बँगले की ओर बढ रहे थे। भवदा ने शीघ्रता से द्वार खट-खटाकर स्वामीजी को सचेत कर देने के लिए कहा--"पुलिस आ रही है, सावधान!"

स्वामीजी कह ही रहे थे—"तीसरा सूत्र है स्वदेशी और बायकाट—"

वह इतना ही कह पाये थे कि भवदा ने डोरा काट दिया—"पुलिस आ रही है, सावधान!"

भवदा की परिकल्पना कुछ अयुक्त न थी। पुलिस का नाम सुनते ही हयग्रीव सबसे पहले सिर पर पैर रखकर भागा स्नानागार की ओर, और उसका द्वार खोल कूद गया जंगल में। सभी

ने उसका अनुकरण किया। केवल स्वामीजी और कुमार अपने-अपने स्थानों पर अचल और दृढ़ रहे।

पुलिस फाटक के भीतर घुस आयी। भवदा ने उसका सामना किया—"क्या है?"

"जूए का अड्डा है यहाँ।"

चारों ओर से बँगला घेर लिया उन्होंने। किसी ने झूठा सूत दे दिया था। पुलिस का नेता नया ही नया आया था वहाँ, स्वामीजी के प्रभाव से अवगत नहीं था। देखा भी नहीं था उसने उन्हें कभी। द्वार के पास जाकर उसने उसे खटखटाकर कहा—"कौन है यहाँ? खोलो द्वार!"

भवदा ने लाख प्रतिवाद कर पुलिस से कहा—"यहाँ तो भारत-विख्यात स्वामीजी का निवास है!"

"हाँ, हाँ, हमें पता है इन स्वामियों का। गेरुए रंग के भीतर सभी कर्म छिप गये हैं।"

"यह ईश्वर-भक्ति के नहीं, देश-भक्ति के स्वामी हैं।"

"सारी भक्तियाँ जानते हैं। यहीं पर खड़े रहो तुम भी। हमें तलाशी लेने की आज्ञा है। साक्षी मिल गयी, तो तुम्हें भी लपेट लेंगे।"

भवदा निश्चिंत होकर मन-ही-मन हँसने लगे।

स्वामीजी उसी प्रकार स्थिर रहे। कुमार ने उठकर द्वार खोला।

पुलिस अफसर ने लंबी सीटी दी। कमरे के भीतर घुसते हुए कहा—"क्यों, क्या हो रहा था? ताश या कौड़ियाँ, कहाँ छिपा दिये? सच-सच कहो, जूआ खेल रहे थे?"

कुमार ने प्रत्युत्तर में कहा—"हाँ।"

"तुम्हारी सचाई से प्रसन्न हूँ। सबूत क्या है?"

"कैसा सबूत?"

"ताश के पत्ते?"

"ताश के पत्तों से नहीं खेल रहे थे।"

"फिर?"

"नवीन अवस्था के वर्षों से।

उत्तर से पुलिस अफसर चौंका। वह अपने मतलब से नहीं हटा—"कितने-कितने के दाँव लग रहे थे?"

"जीवन का दाँव लगा रक्खा है।"

"किसके साथ खेल रहे थे?"

"माता के साथ।"

"कौन माता?"

"भारतमाता। मेरी ही नहीं आपकी भी। वह देखो सामने उसका चित्र!"

अफसर बोला—"कौन भारतमाता? असली हाड़-मांस दिखाओ उसका, हम चित्रों का सौदा नहीं करते।"

सारी पुलिस भवदा-सहित भीतर घुस आयी थी। भवदा कमरे का रंग देखकर मन में सोचने लगे—कुमार भाई सरक गये क्या? स्वामीजी की जेल से छूटे, जान पड़ता है पुलिस के चंगुल से भी खिसक गये!"

अफसर की दृष्टि स्वामीजी पर पड़ी, बड़ी तीखी और वेधक थी वह। कुछ हतप्रभ होकर उसने कहा—"तलाशी लेंगे।"

स्वामीजी ने बैठे ही बैठे कहा—"वारंट दिखाओ।"

अफसर ने वारंट निकालकर स्वयं पढ़ा—"इस बंगले का नंबर क्या है—'१०'?

भवदा ने कहा—"देखूं तो।" भवदा ने पढ़ा और बोल उठे—"सारा लेख अंगरेजी में है, गणित हिंदी के माथे पर क्यों मढ़ दिया आपने? यह हिंदी का दस नहीं है, अंगरेजी का नव्वे है नव्वे!"

अफसर की सारी अकड़ तिरोहित हो गयी। उसने अपनी भूल समझ ली और सिपाहियों को बाहर चले जाने का संकेत दिया। सिपाहियों के जाने पर वह हाथ जोड़कर स्वामीजी के निकट गया—"क्षमा चाहता हूँ महाराज!"

भवदा ने कहा—"दस नंबरिया समझकर चले आये हमें। स्वामीजी का प्रभाव विदित नहीं है तुम्हें? सारे संसार की परिक्रमा कर आये हैं यहाँ।"

"फिर दर्शन करूँगा" कहकर वह अपने साथियों के साथ चल दिया।

"मूर्ख कहीं के"—स्वामीजी ने झुँझलाकर कहा—"भाई-संप्रदाय को बुनियाद में ही खोद दिया। भवदा, देखो तो क्या सब के सब चले गये? बुला लाओ उन्हें।"

भवदा बाहर उन्हें ढूँढ़ने गये।

स्वामीजी ने कुछ देर की स्तब्धता भंग कर कुमार से कहा—"कुमार, तुम्हारे मनोबल और साहस की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। तुम अग्नि-परीक्षा में स्थिर-चरण रहे। तुम्हारी निर्भयता तुम्हारे आत्मबल की सूचना है। आत्मा सेना-पुलिस, बम-तोप, रोग-मृत्यु सबके प्रभाव से मुक्त है। धन्य! तुम्हारे-जैसा एक भी और मिल जाता, तो मैं निराश न होता।"

भवदा एक टोपी हाथ में लेकर आये और बोले—"किसी का पता नहीं है। मैंने दूर-दूर तक देखा। अनुमान जमाया, कहीं छिपे होंगे। कई बार पुकारा, कोई उत्तर नहीं मिला। जान पड़ता है

सबके सब भाग गये। एक यह टोपी पड़ी हुई मिली—हयग्रीव की है।"

"जाने भी दो। वे मुझे बात के आगे बढ़ जाने पर धोका देते, जो अधिक कष्टकर होता। कुमार, जाओ तुम भी।"

"नहीं महाराज, मैं अपने व्रत में अचल और उसकी साधना में निरंतर प्रयत्नशील हूँ। तीसरा सूत्र जो आपने स्वदेशी और बायकाट का दिया—उसकी व्याख्या कर दीजिए।"

"मेरे उत्साह का वेग इस समय टूट गया है। फिर कभी सही। भवदा से समझ लेना। इस टूट गये भाई- संप्रदाय की तुम अंतिम कड़ी हो। जाओ, मैं तुम्हें भी मुक्त करता हूँ।"

कुमार ने मन में सोचा—"स्वामीजी ने संप्रदाय तोड़ दिया, तो क्या। मैं अपनी प्रतिज्ञा में अचल रहूँगा।" वह स्वामीजी के आग्रह का आदर कर चला गया।

विशालजी उधर घूमने निकल आये थे। दूर से स्वामीजी के बँगले से पुलिस को निकलते हुए देख चौंके। कभी न कभी उनके पैर स्वामीजी के बंगले की ओर खिंच गये। स्वामीजी ने उन्हें खिड़की से आता हुआ देखकर भवदा से कहा—"मैं इनसे भेंट न करूँगा। कह दो स्वामीजी यहाँ नहीं हैं।"

परंतु विशालजी बाहर ही से झाँककर स्वयं ही चले गये थे।

५

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति हो गयी। भारत की साधारण प्रजा ने गोरी जातियों को उनके ही देश में उन्हें देखने का अवसर पाया। देवत्व से विभूषित जिस गोरे रंग की वे कल्पना करते थे, उनकी दुर्बलता भी उन्होंने देखी। उन्होंने अपना भ्रम दूर किया और समझा मानवता सर्वत्र ही समान है।

मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई। भारत की राजभक्ति और उसके सहयोग की प्रशंसा हुई। उससे बड़े-बड़े वादे किये गये और बड़ी-बड़ी घोषणाएँ हुई। हमारे प्रभु अपनी विश्व-विजय के उल्लास में मग्न थे और भारत को जो शासन-सुधार उन्होंने दिये, उनकी बहुमूल्यता आँक रहे थे। परंतु बंबई की कांग्रेस ने अपने इतिहास में पहली बार जो परंपरा तोड़ दी, क्या उसी दिन से हमारी मानसिक मुक्ति का आरंभ नहीं हो गया था?

सम्राट् के जयघोष पर अब तक कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होता था। इस बार वह जयघोष—"वंदेमातरम्" के सुमधुर मंत्र में बदल गया। वह मंत्र समस्त भारत को मोहित करने को बढ़ चला और विदेशी राजनीतिज्ञ घबड़ा उठे।

प्रस्तावित शासन-सुधारों के स्वर्ण पत्नी ने नरम और गरम दल के बीच में विग्रह बढ़ा दिया, जिसमें उग्र दल की ही जीत हुई। उसने अमृतसर की कांग्रेस को अधिकृत कर सुधार-योजना को "अनुपयुक्त, असंतोष और निराशाजनक" कहकर ठुकरा दिया।

भारत के राजनीतिक आकाश में एक नवीन तारे का उदय हुआ। अफ्रीका में पालना भूलकर वह शिशु अपनी जन्मभूमि में आया। माता ने हृदय भरकर उसे अपनी छाती से लगाया।

निर्धन-निर्जीव, असहाय और दलितों ने उसपर अपनी आशाएँ उगानी आरंभ कीं।

लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात् भारत की सारी राज-नीतिक चेतना जागृति के लिए गाँधीवाद की ओर बढ़ने लगी। जन-साधारण के हृदयों में सहज प्रवेश पाकर वह कुछ ही वर्षों में व्यापक हो उठी।

गाँधीवाद ने नरम और गरम, गोरे और काले, धनी और निर्धन, नये और पुराने, सनातनता और साइंस, ऊँच और नीच के बीच में साम्य की एक अद्भुत गाँठ लगायी। सरलता उस नवीन सूत्रधार के स्वभाव में थी, सत्य उसका व्यवहार और अहिंसा उसका शस्त्र था। वह शीघ्र ही भारत की झोपड़ियों से लेकर महलों तक महात्मा के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

वह नवीन संदेश दुर्लंघ्य गिरि-कांतारों को पार कर पहाड़ों पर भी फैल गया। देशभक्ति से ओत-प्रोत कुमार के हृदय में गाँधी-वाद ने सहज ही जड़ पकड़ ली। स्कूल की सर्वोच्च परीक्षा पास कर लेने पर जब उसके पिता बनारस या प्रयाग में उसकी आगे की शिक्षा के लिए चिंतित थे, तब वह राष्ट्रीय शिक्षा के स्वप्न देख रहा था।

राष्ट्रीय शिक्षा की लहर ने देश में अनेक विद्यापीठों और आश्रमों को उपजा दिया था। कुमार सोचता था—"भाई-संप्रदाय में लिये गये उसके अधूरे व्रत की पूर्त्ति किसी आश्रम में हो जायगी। कॉलेज की डिग्री लेकर जीवन का क्या सद्व्यय होगा?"

सरकारी नौकरी ने कभी उसे आकर्षित नहीं किया। वर्तमान शिक्षा पर किये गये महात्माजी के आक्षेपों ने तो विद्यालय और ऑफिस दोनों के प्रति उसमें घृणा उपजा दी थी। आश्रम शब्द रह-रह कर उसकी वृत्तियों को खींचता था। उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिक आविष्कारों में उसकी कुछ भी भक्ति न थी। वह अभी उनके

संपर्क में आ भी नहीं सका था। गाँव में तेल की लकड़ी का दीपक और अल्मोड़े में घासलेट की लालटेन। बिजली का बटन अभी उसके दबाव से दूर ही था। गाँव से अल्मोड़े तक वह पैदल यात्रा करता था, बहुधा पुस्तकों और खाद्य-सामग्री का भार लेकर भी। मोटर उन दिनों केवल गोरे प्रभु या रंगीन पूँजीपतियों के अधिकार की वस्तु थी! रेल उसने देखी भी न थी।

कुमार के पिता उसकी बनारस में कॉलेज की शिक्षा का प्रबंध कर रहे थे; परंतु पुत्र के मन में कुछ और ही विचार हिलोर ले रहा था।

उसने चुपके-चुपके तैयारी कर ली और एक दिन तीन ही बजे रात उठकर वह चल दिया। एक अँगौछे की पोटली उसकी साथी थी। पोटली में तीन चीजें बँधी थीं—एक तुलसी-दासजी की रामायण, एक लोटा और उसकी मटमैली धोती।

वह मटमैली धोती, उसे कुमार अपने ब्रह्मचर्य का प्रतीक समझता था। नगर के धोबी की भट्ठी में पड़कर वह अभी तक उज्ज्वलतर नहीं हो सकी थी। अपने ही हाथ से छुट्टी के दिन वह उसे धोता। एक दिन उजली-सी दिखाई देती वह, फिर कृष्ण पक्ष की चाँदनी की भाँति दिन-दिन श्यामलता की वृद्धि पर! कुमार स्नान और संध्या के नियम में बँधा, चूल्हे-चौके में अलग, पिता की सनातनता में श्रद्धा रखता था। उसकी वह कट्टरता धोती के रूप में उसके साथ चली। वह मैदान में उतर रहा था और काठ गोदाम के स्टेशन पर उदर में प्रदीप्त अग्नि रखे हुए, रेल का ऐंजिन उसकी कट्टरता को स्वाहा करने के लिए खड़ा था।

पीतल का लोटा उसके शौच की शुद्धि, तृष्णा की शांति और संध्या की पात्रता वहन करता था। उसमें वह श्रम की

समता साधता था। तुलसी-रामायण उसके मन में हिंदी के प्रेम की ज्योति जगाती थी।

पोटली पार्श्व में दबाये, वह ब्राह्मण-कुमार चला जा रहा है एक अज्ञात अपरिचित पथ में। सुदामा-सा उतर रहा था वह मैदान के पथ में। आश्रम उसकी द्वारिका थी और साबरमती का संत उसका देवता। भारतमाता की सेवा की सुपात्रता पा सकना उसका एक उज्वल लक्ष्य था। पत्नी के अनुरोध में ऐश्वर्य की माँग उसके पास न थी; क्योंकि आजन्म अविवाह का प्रण उसका दृढ़तर हो चला था।

मार्ग में जलाशय के निकट एक दूकान में उसने स्नान-ध्यान के अनन्तर चूल्हे-चौके की पवित्रता के साथ लोटे में खिचड़ी पकाकर खायी। उससे उसकी क्षुधा-तृप्ति ही नहीं हुई, साथ के नपे-तुले मार्ग-व्यय की भी सुरक्षा हुई। घर की ओर से किसी परिचित की पकड़ उसे तीव्रता से भगा ले जा रही थी और रेल का आकर्षण उसे खींच रहा था उसी चाल से।

धीरे-धीरे उसके जन्म के साथी, विशाल गहराइयों को अपने वक्ष में छिपाये हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वत उससे विदा होने लगे। छोटे-छोटे हरे-भरे खेतों की सोपान-श्रेणियाँ, उनके बीच में घास-फूस और पत्थरों से छाये गाँव, उसकी दृष्टि की ओट में होने लगे। ऊँचाई से उत्पन्न हुआ नदियों का षडज-निनाद और धारा का वेग धरती की समता पाकर न जाने कहाँ समा गया था!

वह मैदान पर आ गया। वह पर्वत पर के शीत से विदा होकर गहरे वातावरण में उतर गया। उसने भूमि की विषमता को नमस्कार किया और संध्या होते न होते रेल के स्टेशन पर पहुँच गया।

रेल के छूटने में अभी कुछ देर थी। कुमार पढ़ा-लिखा और तीव्र-बुद्धि का था। रेल और उसके स्टेशन का रूप और परिचय उसे प्राप्त था, चित्र की सानुरूपता और शब्दों की कल्पना में। कोई कठिनाई नहीं हुई उसे। कोई प्रश्न पूछने के लिए नहीं था उसके पास। वह परदेशी-सा प्रतीत नहीं हो रहा था।

उसने देखा, ऊँचे को नीचा कर और नीचे को ऊँचा कर समता के मैदान में रेल की दोहरी पटरियाँ बिछायी गयी थीं। जातियों के सारे भेद-भाव भुलाकर उसके यात्रियों के समूह की रचना हुई थी। इस समानता में उसकी कट्टरता की विषमता कैसे रक्षित होगी ?

स्वामीजी की शिक्षा से उसके छूत-छात का भेद-भाव, सिद्धांत में समाप्त हो गया था, परंतु प्रयोग में अभी तक कभी उसके टूट जाने का अवसर नहीं आया था।

उसने सुना था, पुराणों की वर्णात्मकता के सिर पर पहला आघात रेल की पटरी का था, दूसरा पानी के नल का। परंतु जब उसने रेल के डिब्बों का वर्ग-विभाग देखा, तो वह चकित हो गया। तीसरा, ड्योढ़ा, दूसरा और पहला—चारों वर्ण प्रस्तुत हैं—वर्ण का नाम बदलकर वर्ग रख दिया गया है, और बदल दिया गया है उसका आधार। पहले उसका मापदंड अक्षर था, अब अर्थ है। पहले भाव था भीतर मन का, अब है बाहर बाजार का।

कुमार समझता था, वर्णाश्रम का भेद मिटानेवालों में मुख्यता विदेशी शासन की है। जब उसने तीसरे दर्जे के टिकट की खिड़की पर एक भी गोरा न देखा, तब उसकी समझ में आया, धन के अंतर से वर्ग-रचना करने पर फिर वर्ण को ही प्रधानता दे दी गयी है। उसने सुना और पढ़ा था, पहले दरजे का

टिकट मोल लेकर भी हिन्दुस्तानी गोरे रंग के साथ-साथ यात्रा नहीं कर सकता।

विदेशी शासक भारतीयों के संसर्ग से बराबर बचता रहा था। उसके होटल, क्लब, खेल के मैदान, गिरजे, विनोदगृह सब विभक्त रहे। हिंदू ने प्रकट में अपने अछूत भाइयों की छूत मानी और उस चतुर विदेशी ने मन में हिंदू के लिए घृणा बढ़ायी!

काठ गोदाम उन्हीं की रचना है, वह मुख्यत: श्वेतांगों का ही स्टेशन बना था। काले संसर्ग से उन्हें दूर रखने के लिए ही यह बनाया गया था। उस स्टेशन के टिकट पर कई आनों का एक अतिरिक्त कर चिपकाया गया था। प्रसिद्ध तो यह था कि हल्द्वानी-मंडी जहाँ की तहाँ बनी रहे, उसकी प्रतिष्ठा में कोई अंतर न आवे; परंतु असली बात थी गोरे चमड़े की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने की, उसे हिंदुस्तानी गंध से बचाने की।

जो भी हो, कुमार की चिंता बढ़ी। वह रह-रहकर इसी सोच में पड़ गया, रेल के भीतर उसकी चोटी की रक्षा कैसे होगी। बाप-दादों का धर्म कैसे बचेगा? अंग-स्पर्श की छूत को तिलांजलि दे चुका था। वह अपने गाँव में तो नहीं, हाँ अल्मोड़े में स्कूल और स्वामीजी के व्याख्यानों में अवश्य ही वह उसे पचा चुका था।

सबके साथ बैठकर खाना कैसे खा लेगा वह रेल में? रेल से उतरकर बाहर प्लेटफॉर्म पर भी तो नहीं। कपड़े पहने ही? फिर न जाने किसके हाथ का? घी में बनी हुई पूरियाँ भी उसके धर्म को ग्राह्य न थीं। अंत में उसने निश्चय किया, दो ही दिन तो काटने हैं—थोड़ा दूध पी लिया जायगा, कुछ फल-फूल। "धर्म की जय!" उसके मानस में प्रतिध्वनित हुई। टिकट मोल लेकर वह तीसरे दरजे के एक डिब्बे को रिक्त और शून्य पाकर उसमें जा बैठा।

15373

खिड़की के निकट एक बेंच पर बैठ गया। बरसात का महीना था। यद्यपि अभी एक पूरी दिशा पहाड़ों से घिरी हुई उसके सामने खड़ी थी, तथापि गरमी से उसके प्राण घबराने लगे थे। उसे पसीने पर पसीना आ रहा था। आगे का प्रत्येक क्षण उसे बराबर निम्नतल की ओर ले जायगा, जहाँ उष्णता बढ़ती ही जायगी। उसने कोट खोलकर पोटली में ही बाँध लिया और पोटली बेंच पर ही पीठ के सहारे रख ली।

उसे प्यास लगी। प्लैटफार्म के नल पर जाकर वह कई बार पानी पी चुका था, गरम और विस्वाद जल! न पिये, तो और क्या करे, प्यास ही मरती न थी उसकी। बर्फ उसके धर्म में प्रविष्ट नहीं थी। इसके अतिरिक्त उसने यह भी सुना था, उससे तृषा और भी बढ़ जाती है। वह फिर नल की ओर बढ़ा। इस बार लोटा भी ले गया और उसे भर लाया कि गाड़ी के चल चुकने के पश्चात् उसका उपयोग हो सके।

कुमार जब अपनी सीट पर आया, तब क्या देखता है—कुलियों ने दो बड़े-बड़े बँधे विस्तर और कई छोटे-बड़े ट्रंक उसके बेंच के ऊपर और नीचे रख दिये हैं। दो मनुष्य जो वेश-विन्यास से किसी अंगरेज के बैरा-खानसामा-से प्रतीत हो रहे थे, उस सामान पर साधिकार दृष्टि जमाये हुए खड़े थे।

कुमार ने अपने लोटे को बचाते हुए खिड़की के सामने आकर नम्रता से कहा—"इस बेंच पर मैं बैठा हूँ।"

खानसामा पहाड़ी था। उस जाति का था जिसकी छाया-मात्र से हिंदू का धर्म संकट में पड़ जाता था। परंतु अंगरेज उसका बनाया भोजन खाकर भी अपवित्र नहीं हुआ।

लोटे को बड़ी सावधानी से कुमार को बचाता हुआ देखकर वह खानसामा तुरंत ही बात समझ गया। बड़े रूखे स्वर में

उसने उत्तर दिया—"रिजर्व करा रक्खा है क्या सारा डिब्बा तुमने ?"

कुमार को अछूत भाई पर प्रेम करना सिखाया गया था। लेकिन उसने नम्र निवेदन बड़ी कठोरता से ठुकरा दिया। कुमार ने फिर भी अपरिवर्त्तित त्यौरियों में कहा—"बेंच सामान रखने के लिए तो नहीं हैं ?"

तुम्हारे बैठने-भर को काफी जगह है। क्या रबड़ के फीते-से सारे बेंच पर तन जाओगे ? तुम्हीं खरीदकर लाये हो क्या अकेले टिकट ? मेजर साहब का सामान है।"

कुमार ने किसी पुस्तक में पढ़ा था, गोरे साहबों का काला खानसामा संसार में एक बड़ा अद्भुत जीव है। कभी वह आवश्य-कता से अधिक शिष्ट और कभी घोर अशिष्टता का गंदा नमूना ! कभी पहले दरजे का ईमानदर और कभी दस नम्बर का बेईमान !

कुमार ने उससे अधिक बात करनी उचित नहीं समझी। खिड़की की राह चुपचाप अपना जल-भरा लोटा सीट के ऊपर कोने में रख दिया, और स्वयं द्वार से होकर वहाँ जा पहुँचा।

खानसामा ने बात ताड़ ली—पानी शार्ट कट से और पीने-वाला परिक्रमा कर क्यों उस सीट पर पहुँचे। उस ऊँच-नीच की कल्पना को दीन पहाड़ी किसान सहन कर लेता। साहब का खानसामा साहब का-सा भोजन उड़ानेवाला, उनके डिब्बों की सिगरेट पीनेवाला और कभी-कभी साहब के रात-रात भर अखंड नाच में गायब रहने का निश्चय पाकर ,उसके कपड़े पहन सारे बाजार का चक्कर लगानेवाला, किस साहब से कम है। जीवन-धुवाँ देने से एक क्षण की प्रज्वलता में भारी विशेषता है। खान-सामा उस विशेषता में सन्निविष्ट समझता था अपने को।

साहब ने अपनी बोली भी तो सिखा दी थी उसे। उसे क्यों कुमार का पाखंड सह्य होता !

खानसामा ने मन में सोचा—"इसकी कट्टरता कैसे बचेगी रेल में देखूँगा।" खानसामा उस सीट पर का लगेज नीचे रख वहीं पर बैठ गया। उसके पार्श्व में बैठ गया बैरा, वह भी पहाड़ी ही था।

डिब्बे में और कई यात्री आकर बैठ गये थे। खिड़कियों के पास की सभी सीटें अधिकृत हो गयी थीं। गाड़ी के चल जाने पर सभी को ठंढी हवा का लालच था।

कुमार ने खानसामा और अपने बीच में अपनी गठरी को रख दीवाल बना देना चाहा।

खानसामा ने कुमार का हाथ पकड़कर यह जानना चाहा, उसमें छूत का तापक्रम कितना है। उसने हिन्दुस्तानी भाषा के विलायती स्वर में कहा—"अभी तुम बोला बेंच सामान रखने का वास्ता नई है। इसको नीचे रक्खो।"

कुमार ने प्रतिवाद किया—"इसमें किताब है, जूतों की जगह कैसे रख दूँ ?"

"तो ऊपर रक्खो।"—कहकर खानसामा ने वह गठरी उठाकर ऊपर रख दी। अब उसकी दृष्टि कुमार के लोटे पर मँडलाने लगी।

कुमार चुपचाप बैठा रहा, कुछ न बोला।

खानसामा ने प्रश्न किया—"कहाँ जायगा ?"

"बहुत दूर !"

"नौकरी की तलाश में ?"

"नहीं, पढ़ने जा रहा हूँ।"

"अगरेजी पढ़ता है ?"

"हाँ जानता हूँ।"

"अंगरेजी पढ़कर भी तुम जहाँ-का-तहाँ पड़ा है। सिगरेट पीना माँगता है ?"—कहकर उसने एक सिगरेट अपने साथी बैरा को दी, एक अपने मुहँ में डाली और एक सिगरेट का मुँह पैकेट के वाहर निकाल पैकेट किशोर की ओर बढ़ाया।

"नहीं, मैं नहीं पीता।"

दोनों धुआँधार सिगरेट पीने लगे। धुएँ से कुमार की नाक भर गयी, वह खाँसने लगा। उसने मुँह फेर लिया। डिब्बे के भीतर लोगों के भर जाने से गरमी और भी बढ़ गयी थी। प्यास से कुमार का गला तड़कने लगा था। बार-बार उसकी आँखें लोटे की ओर दौड़तीं और बार-बार उसके मन में एक हिचक उत्पन्न हो जाती।

इस प्रकार पंचायत के बीच में अभी तक उसने कभी पानी नहीं पिया था। उसके मन में तर्क उठा—"थूक तो निगलता जा रहा हूँ मैं, उससे धर्म नहीं गया, तो जल पी लेने से क्या हो जायगा ?" तर्क से पराजित हो जाने पर भी उसके संस्कार अपराजित ही रहे।

फिर उसके मन में लहर उठी—"यह जो सिगरेट का धुआँ इस खानसामा के मुख से निकलकर मेरी साँस में जा रहा है, यह तो छुआ ही नहीं, इसका जूठा भी है। फिर क्यों पवित्रता के एक पाखंड का भार मैं वहन कर रहा हूँ! विगत विश्व-युद्ध ने क्या हमारी इस बगुलाभक्ति का एक-एक पर, उसका एक-एक बाल नोच-नोचकर अलग नहीं रख दिया ? हमारी जात-पाँत के कितने ही लोग सात समुद्र पार गये। उन्होंने हिंदू आचार-विचार की रक्षा की, कोई साक्षी नहीं है इसका। सरकार

के भय से कोई भी उन्हें जातिच्युत नहीं कर सका। यह खान-सामा निरक्षर है, इसी से इतना उजड्ड है। कुमार! तूने भारत-माता की सेवा का व्रत लिया है, तू उसकी संतान से घृणा करेगा? भाई की छूत? क्या एक ही पवन हम दोनों के प्राणों का स्पंदन नहीं है? क्या एक ही विश्व-नाद हमारे अधरों पर नहीं बोल रहा है?"

कुमार एक क्षण के लिए विचारशील हो गया। उसने मन-ही-मन कहा—"झूठे अभिमान का नाश हो!" उसने लोटा उठा लिया और 'घट-घट' कर पानी पी लिया।

रेल ने सीटी दी और वह चल पड़ी! हवा के प्रवाह से कुमार की व्याकुलता घट चली।

कुमार के अभिमान-त्याग ने खानसामा का अहंकार भी चूर-चूर कर दिया। उसने विलायती उच्चारण छोड़कर कहा—"जात-पाँत न मानने से ये गोरे हमारे राजा हैं। और जात-पाँत के भेद में बँट जाने से ही हम उनकी प्रजा हैं। लेकिन एक भारी भूल कर गया यह।"

"कौन-सी?"—कुमार ने पूछा।

"यह जो हिन्दुस्तान की चारों जातियों को एक ही तीसरे दर्जे में भर दिया! उधर एक ही नल में भरे जाने पर भी छूत और अछूत के दो अलग-अलग प्याऊ उसने स्टेशनों पर बनाये हैं।"

कुमार और खानसामा की मैत्री चल पड़ी। बातों में दोनों एक-दूसरे के निकट पहुँचे। कुमार को फिर प्यास लगी। उसके लोटे का पानी समाप्त हो गया था। जब उसने खानसामा की सुराही का पानी लेकर पी लिया, तब खानसामा उसके हृदय के निकट आ गया और पहाड़ी में वार्त्तालाप करते हुए बोला—

"अंगरेज के संसर्ग में हमने स्वच्छता को अपना स्वभाव बनाया है।"

कुमार ने भी उसी भाषा में उत्तर दिया—"परंतु भाई, इसे मित्रता की बात समझो। भीतर की भी एक स्वच्छता है।"

"कैसी ?"

"वाणी की स्वच्छता। तुम यह जो गोरेशाही अंगरेजी बोलते हो, दो भाषाओं की खिचड़ी, यह बड़ी अस्वाभाविक और घृणित वस्तु है। या तो शुद्ध हिंदी बोलो, या साबुत अंगरेजी।"

"साबुत अंगरेजी ? सुनो भाई ! कुली गोरे साहब को सड़क पर देखता है, बाबू दफ्तर में। हमने उसे घर के भीतर देखा है—टब, तश्तरियों और बिस्तर पर। हमें उसकी भलाई-बुराई सब मालूम है। वे कहते हैं, काला आदमी कितना ही 'एमे' पास क्यों न हो, सही अंगरेजी बोल ही नहीं सकता। जब तुम्हारा यह हाल है, तब मैं तुम्हारा हलवाहा, काला अक्षर भैंस बराबर। बिना पढ़े-लिखे विलायती आलू में हिंदुस्तानी बैंगन न मिलाऊँ, तो रोटी कैसे खाऊँ ? तुमने तो स्कूल में फीस देकर अंगरेजी पढ़ी है। मैंने तनखाह पाकर अपने साहब से सीखी है।"

कुमार मुसकाने लगा।

खानसामा टिफन कैरियर निकालता हुआ बोला—"खाइयेगा कुछ ?"

"नहीं भाई।"

"फिर वही ऊँच-नीच की बात ले आये। तुम देश की सेवा करने चले हो। जब सबके हाथ का खाओगे नहीं, तब उनका विश्वास कैसे मिलेगा तुम्हें? जब विश्वास ही नहीं, तब सेवा कैसी? एक दूसरे के हाथ का न खाने की बात दोनों के मन में एक

ऐसी खाई खोद देता है, जिसे दुश्मनी न कहने पर भी उसी का सँगी-संबंधी कहा जा सकता है। अपने जिले के उत्तराखंड के असली निवासी भोटियों की बात जानते होवोगे तुम ? तिब्बत का हूण और भोटिया जब तक एक साथ बैठकर, खाना नहीं खा लेते, कोई व्यापारिक संबंध उनके बीच में स्थापित नहीं हो सकता। बातों का केवल बाहरी दिखावा है, आपस में प्रेम तो भोजन से ही बढ़ता है ।"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं है। दिन में खिचड़ी खायी थी, अभी भूख ही नहीं है।"

"झूठी बात !"

"सच भी सुन लो। यह अंग्रेजी खाना होगा। मांस उसका आवश्यक अंश है। मुझे मांस-भोजन से विरोध है।"

"नहीं जी", खानसामा ने डिबबा खोला—"शुद्ध देशी घी की बनी पूरियाँ हैं। एक-दो तो खा लो।"

कुमार का माथा घूमा। क्रम-क्रम से ही होनेवाली क्रांति अधिक सफल और स्थायी होती है। क्षणिक आवेश में बहुत दिनों के जमे संस्कार तोड़ने पर भी टूट नहीं सकते। व्याख्यान में जो भाईचारा कुमार ने खानसामा पर प्रकट किया था, व्यवहार में उसका पोलापन उसकी चारित्रिक दुर्बलता सिद्ध होगी। कुमार इस विचार से विकल हो गया। नियम ने बीच में आकर उसकी रक्षा कर ली।

कुमार को चुपचाप देखकर खानसामा ने कहा—"क्यों किस सोच में पड़ गये ? बात के दाँत दूसरे और भात के दूसरे—क्यों ?"

कुमार ने उत्तर दिया—"तुम्हें ज्ञान होगा कदाचित्, दिन

डूब जाने पर बिना संध्या किये हम लोग कुछ नहीं खाते। जल की गिनती नहीं है।"

"और चाय ?"

"हाँ, कुछ लोग पी लेते हैं।"

"फिर मलाई का लड्डू ? दूध और चीनी उसमें भी है।"

"मैं अपनी जानता हूँ। जब चाय ही नहीं पीता, तब लड्डू की बात क्या जानूँ ?"

"ईश्वर न करे, जब आप कभी बीमार पड़ जाते हैं, तब संध्या और भोजन कैसे चलता है ?"

"बीमारी में नियम की टूट, दोष नहीं है।"

यह रेल की यात्रा किस बीमारी से कम है ? आज कुछ कम भीड़ है, नहीं तो पैर फैलाने को जगह नहीं। नींद हराम, भूख के लिए कोई चारा नहीं। कपड़े और बदन में भीतर से पसीना और बाहर से गर्द और धुएँ की परत पर परत जमी, नहाने को समय नहीं। अगर एक-दो रात की लंबी यात्रा में फँस गये तो फिर राम ही मालिक हैं। आज ही अभी रेल का मुँह देखा है आपने। दस-पाँच घन्टे बाद ज्ञात हो जायगा। खा लो, मेरा कहना मानो। प्लेटफार्म पर की पूड़ियों से ये अधिक शुद्ध हैं।"

"जागरण में उपवास सहायक होता है।"

"मैं नहीं सह सकता यह दोहरी मार। मुझे तो बड़ी भूख लगती है रेल में। कुछ देर यहीं बैठे-बैठे आँख मूँद कर लो संध्या।"

"नहीं।"

"अच्छी रही यह। अपने तो न खाया, भगवान् को भी भूखा ही मार दोगे क्या ? वे तो नहीं कर रहे हैं रेल से यात्रा।"

कुमार ने प्रकरण दूसरा छेड़ दिया—"साहब को कब खिलाओगे?"

"हम तो कुली आदमी, जब बखत पा लिया, जो मिला, ठूँस दिया गले के नीचे। साहब साहब ही ठहरे, उनके खाने का ठीक समय भी है और पूरी लिस्ट भी। बरेली उतरकर ही करेंगे वह पेट-पूजा। वह तो घड़ी देखते हैं घड़ी, सूरज डूबा है या उतराता—इसकी परवा नहीं उन्हें।"

"होने भी क्यों लगी, जब कि ब्रिटिश साम्राज्य में कहा जाता है कि कभी सूर्यास्त होता ही नहीं।"

"यह तो आप पढ़े-लिखे ही समझें। न खाओगे तो? जहाँ दूर परदेश में जा रहे हो, वहाँ तो बिना खाये गुजर होगी नहीं। यहाँ अभी घर के निकट ही हो, क्यों खाने लगे मेरे हाथ का?"

बैरा और खानसामा दोनों मिलकर पूरी उड़ाने लगे। और कुमार मन-ही-मन अपनी रूढ़ि के वंधनों पर विचार की चोटें चलाने लगा।

सब से बड़ा भय उसे पिता का था। वह भले प्रकार जानता था—"पिता किसी भाव पर अपनी परंपरा का त्याग नहीं कर सकते, वह भी न करता, यदि उसके पिता उसे नगर के वातावरण में न भेजते। पुराने पत्ते गिरकर नये आते हैं, तभी तो वृक्ष बढ़ता है। परंपरा नष्ट नहीं होती, एक के प्राचीन पड़ शुष्क हो जाने पर दूसरी नवीन और हरित उसकी जगह ले लेती है।"

"क्या सोच रहे हो मित्र! दस-बीस मिनट का साथ और है हमारा-तुम्हारा।" खानसामा ने खा-पीकर कहा।

कुमार ने पूछा—"सोनिया के लिए गाड़ी कहाँ से जायगी?"

"सोनिया? बम्बई, कलकत्ता पूछते तो बताता भी, मैसो-

पोटामिया तक हो आया हूँ मैं पिछली लड़ाई में। सोनिया आज ही सुना है यह नाम। मुझे तो उसकी दिशा भी नहीं मालूम है। क्या करोगे वहाँ जाकर ?"

"तुम्हारे हाथ की रोटी खाने की झिझक दूर करूँगा।"

"घर ही पर नहीं हो सकती थी यह प्रेक्टिस ? रेल में ही अवसर दे दिया था मैंने। किधर है वह ?"

"आगरे के पास।"

"घरवाले कैसे राजी हो गये ?"

"भागकर जा रहा हूँ।"

"कहीं की भरती खुली है क्या ? तनखा क्या मिलेगी ?"

"भरती राष्ट्र की है, पुकार माता की। गुरु महात्माजी हैं और वेतन में मिलेगी कष्ट-सहिष्णुता।"

"उनका नाम मैंने सुना है। सुना है, वह सरकार की तोप और मशीनगन से भी नहीं डरते। मित्र, तुम्हारी नवीन अवस्था पर मुझे दया आती है। माता-पिता ने किसी आशा पर तुझे पढ़ाया-लिखाया और तुम इस तरह उन्हें धोखा देकर क्या देश का भला कर सकोगे ? बरेली में उतर जाओ, मैं अपने साहब से कह-सुनकर पलटन के किसी दफ्ततर में तुम्हारी सिफारिस करा दूँगा।"

परंतु कुमार को वह बात किसी प्रकार मान्य न थी। बरेली के स्टेसन पर खानसामा जी उतर गये और उनकी सीट पर आकर विराजमान हुए भारी भरकम शरीर के तिलकधारी एक पंडाजी।

"कहाँ जाओगे ?"—पंडाजी ने पूछा।

"आगरे।"

"बड़े पुण्य से प्राणी भारतवर्ष में जन्म लेता है और उतने ही पुण्य से इस ओर आता है। मार्ग में आनन्द-कंद भगवान् श्री कृष्णचन्द्र का दर्शन नहीं करोगे? उनकी लीला-भूमि ब्रज की रज माथे पर चढ़ाकर दोनों लोक सुफल कर लो। यह अवसर सौभाग्य से मिलता है।"

कुमार ने पंडाजी के माथे पर का श्रीयुक्त तिलक देखा। वह उसके हृदय में शूल-सा विंधने लगा। वह भी नित्य तिलक धारण करता था। आज ही उसका वह नियम टूटा था। उसने उनकी बातों का कोई उत्तर न देकर पूछा—"महाराज, इस तिलक के धारण करने से क्या लाभ है?"

"पहचान है एक। नाम धारण करने से ही क्या लाभ है?" कहकर पंडाजी ने फिर गाड़ी अपने ही पथ पर घुमा दी—"एक-एक स्थान का दर्शन करा देंगे तुम्हें रह गयी दक्षिणा—जो तुमसे हो सके, दे देना। हमें कोई लालच नहीं है।"

नहीं महाराज, मुझे एक अत्यन्त आवश्यक काम से जाना है। फिर लौटते समय देखा जायगा।"

"सम्मुख भगवान् को क्यों छोड़ जाते हो? सबके पहले भगवान् के दर्शन कर लोगे, तो सभी आवश्यक काम सिद्ध हो जायँगे। केवल भगवान् के निमित्त किया जानेवाला कर्म ही आवश्यक है, और सब तो भ्रम-जंजाल है।"

एक लालसा जागने तो लगी थी कुमार के हृदय में, परंतु जब उसने अपनी पूँजी पर ध्यान दिया, तब पंडाजी व्यर्थ परिश्रम करते प्रतीत हुए। उसने उनका अनुरोध स्पष्ट ही बात खोलकर टाल दिया।

पंडाजी भी जब उस लोहे के अखरोट को न तोड़ सके, तब साथ के रूमाल में बँधे कटोरदान का ढकना खोलने लगे—"कई लोगों से भेंट करनी थी। बातों-ही-बातों में गाड़ी का समय आ गया। ठिकाने पर भोजन करने का भी सुयोग नहीं मिला। डिप्टी साहब की बहू ने पूरियाँ रख दीं, साथ में मिष्ठान्न भी। भगवान् में बड़ी भक्ति रखती हैं।"

"संध्या-वंदन हो चुका क्या?"

"ह! ह! ह! संध्या-वंदन हर समय साँस के साथ लगा है बेटा। भीतर साँस गयी—'सो' बेटा! बाहर आयी—'हम्!' सो-सो, हम्-हम्! सोहम्, सोहम्, जो तुम सो हम। सदैव ही यह तार लगा रहता है। संध्या-वंदन तो शिक्षार्थियों के लिए है। वर्णमाला की पुस्तक 'अ-आ-इ-ई'। याद हो गयी, तो फिर आगे बढ़े, और आगे बढ़े—गीता-भागवत मनन किया, और आगे बढ़े, तो फिर लौटकर ही अक्षरों में आ गये सो-ह-म,-सो-ह-म।"

कुमार को पंडाजी की बातों में आनन्द आने लगा। उसने मन में सोचा—"जब यह स्थिति है, तब फिर पंडाजी के मानस में दक्षिणा का पूर्णचंद्र क्यों चमक रहा है?"

पूरियों का डिब्बा खोलते-खोलते हाथ रोक दिया पंडाजी ने—"जय जमनाजी की! लोकतारिणी, यम की सहोदरा, मृत्यु का भय मिटानेवाली जमना, साक्षात् भगवान् की लीलाओं की साक्षी—मैया जमना! केवल पापी ही इसमें संशय कर सकता है। कौन वर्ण है तुम्हारा?"

"पहाड़ी ब्राह्मण।"

"मुख, मन का दर्पण कहा जाता है। मैं जानता हूँ तुम्हारे मन में भक्ति है। अंगरेजी भी पढ़े हो?"

"हाँ, एंट्रेस पास किया है, पहले डिवीजन में।"

"सोई मैं कह रहा हूँ। लेकिन अंगरेजी-सी पढ़ी नहीं ज्ञात होती। अंगरेजी पढ़े-लिखे जज-कलक्टर भक्तों से मेरी पहचान है। कौन कहता है हिन्दुस्तान अंगरेजी की पढ़ाई से डूबा है? सच तो यह है कि अंगरेजी पढ़ा-लिखा भक्त अडिग होता है अपने विश्वास में, केवल हिंदी पढ़ा दुकुर-मुकुर कभी कृष्णपक्ष में और कभी शुक्लपक्ष में। कभी धर्म की दुहाई देता है, कभी कहता है—'धेले की जय!'"

"नहीं महाराज मैं नहीं मानूँगा आपकी बात। दो परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ टकरा रही हैं भारतवर्ष में। हम आत्मवादी हैं और अंगरेजी की शिक्षा ने हमें रागात्मक बना दिया है। हम अक्षर से ऊपर थे, उसने हमें अर्थ से भी नीचे रख दिया। हमारे प्रभु का विश्वास था, उसने हमें साइंस की दीक्षा दे दी।"

"तुमने संस्कृत पढ़ी है?"

"हाँ महाराज, अंगरेजी स्कूलों में अंगरेजी व्याकरण की सहायता से। वह भी क्या संस्कृत की शिक्षा है?"

"गीता-उपनिषदों का भी अध्ययन किया हुआ जान पड़ता है। सुनता हूँ पहाड़ों पर बड़े सच्चे और सीधे मनुष्य रहते हैं।"

"रहते होंगे महाराज कहीं, जहाँ सिक्के और नोट नहीं फैले होंगे, जहाँ ताले और चाभियाँ नहीं पहुँची होंगी। मैंने तो यही देखा, जितनी-जितनी सड़कें चौड़ी होती गयीं पहाड़ पर, लोगों के हृदय संकुचित होते गये उतने-उतने। लेकिन एक बात है महाराज, जैसे जागृति के लिए बल पाने को एक व्यक्ति सोता है—वैसे ही राष्ट्र भी। हमारी संस्कृति हमारी प्रकृति है। वह विदेशी की भाषा से बदल नहीं सकती। हमारी प्रकृति हमारे वातावरण का गुण है, वह हमारी भूमि की उपज है। दूसरी संस्कृति पनप नहीं सकती यहाँ।"

"बदरीनाथजी की जात्रा का सुजोग आवे, तो पहाड़ों के दर्शन मिलें। तुम गये हो वहाँ?"

कुमार ने देखा अब तो उल्टी गंगा बहने लगी। पंडाजी पथ-प्रदर्शक होने के बदले यात्री हो जाने को तैयार हो रहे हैं। "नहीं महाराज, मैं नहीं जा सका हूँ अभी तक।"

"सुनता हूँ, बड़ी भयानक यात्रा है। हथेली भर चौड़ा मार्ग, फूँक-फूँककर पैर रखना पड़ता है। फिसले तो फिर लुढ़क चले खड्ड में मीलों तक। चारों ओर से झपटते हुए गिद्धों के पंखों की फड़फड़ाहट में! मिनटों में मांस सफा और हड्डियाँ बिखर जायँ टूटी माला-सी!"

"यह केवल एक अतिशयोक्ति है महाराज! पथ सुगम नहीं है, कष्टसाध्य है। कभी-कभी घटनाएँ भी हो जाती हैं। भक्ति की अद्भुत शक्ति है। मैंने सुना है वैशाखी के सहारे लकड़ी के पैर लेकर भी यात्री वहाँ पहुँचे हैं।"

"ठीक है।"—पंडाजी ने फिर कटोरदान को गुदगुदाना आरंभ किया—"खाओगे कुछ?"

कुमार को भूख लग रही थी अवश्य। पंडाजी के हाथ की पूरियाँ खा लेने में श्रद्धा भी उसकी थी। परंतु कैसे? छूत-अछूत की जन्म-जात बात भुला भी दी जाय, तो वह मैला-कुचैला संसर्ग, वह जूते-चमड़े का संस्पर्श तो आँखों के सामने रक्खा है। कुमार दुविधा में पड़ा चुप ही रह गया।

पंडाजी ने ढकना खोला—"देखो गरमागरम हैं! भूख लगी हो, तो खा लो।"

"गाड़ी में? पैर में जूता है। कपड़े पहने हैं।"

"घी-दूध का सिद्ध अन्न सब शुद्ध है, कोई दोष नहीं।"

"आप चौथेपन में अतिक्रमण कर रहे हैं। परंपरा तोड़ देने की वस्तु है क्या ? मैं शिक्षार्थी होकर आपसे पूछ रहा हूँ। क्या रूढ़िपूजा हेय है ?"

"भोले बालक, रूढ़ि अपनी ही जीर्णता से टूट जाती है और एक के स्थान पर दूसरा कदली का स्तंभ निकल आता है। पहाड़ में रेल के न होने से परंपरा शीघ्र बुढ़ाती नहीं। यहाँ तो रेल है रेल। इसने भारत की दसों दिशाओं और बारहों जातियों का एक ही में जोड़ लगाया है। लो हाथ ही में ले लो।"—उन्होंने पांच-सात पूरियाँ कुमार के हाथ पर रख दीं और उसके ऊपर रख दिया आलू का सूखा साग।

"नमक में मिल जाने से पूरी अशुद्ध हो गयी !"

"कौन कहता है ?"

"गुरुजनों से सुना है।"

"कोई लौकिकता होगी। जहाँ हो, वहाँ की रीति बरतो। देखो, मैं तो खा रहा हूँ।"

कुमार ने पूरी का ग्रास तोड़ा, चारों ओर यात्रियों को देखा।

"सर्वत्र ही वह घट-घटवासी बोल रहा है, इस ज्ञान से मनुष्य की घृणा को पराजित करो। मुख में, क्या अन्न और नमक, एक न हो जायँगे ?"

पंडाजी के तिलक और तर्क से बल मिल गया कुमार को और उस नये साधक ने रूढ़ि तोड़ने के लिए हथौड़ा उठा लिया।

पूरियाँ खिलाकर पंडाजी ने उसे लड्डू भी खिलाये, मथुरा के स्टेशन पर वह विदा हुए, अपना पता बता दिया और कभी मथुरा आने पर भेंट करने का आग्रह किया।

आगरे पहुँचकर कुमार भी गाड़ी से उतरा। 'जैसा देश वैसा

वेश' का एक नया सूत्र पंडाजी उसके मस्तिष्क में रोप गये थे। पुराने संस्कार की लीक को छोड़कर वह नये मार्ग में पैर रखने चला। वह मुसाफिरखाने की एक बेंच पर बैठ गया, जिसके एक ओर एक कॉलेज का विद्यार्थी, दूसरी ओर एक सेठजी, आकर बैठ गये।

कुछ ही देर की बातचीत से कुमार की उस विद्यार्थी से घनिष्ठता बढ़ गयी। दोनों ने एक-दूसरे पर अपने-अपने जीवन की आकांक्षाएँ प्रकट कीं।

विद्यार्थी दूसरे मत का था। उसका आदर्श था—"संसार कठिन-से-कठिन श्रम करने और श्रेष्ठ-से-श्रेठ उपभोग की भूमि है।"

कुमार ने उसका विरोध किया।

विद्यार्थी ने अपनी बात में केवल एक ही संशोधन दिया--"छात्रावस्था के अपवाद को माना जा सकता है। निश्चय उस अवधि में सरलता और सच्चा मनोयोग ही सफलता है। उसके पश्चात् अर्थोपाजन पौरुप है और धन का संग्रह कर उसका उदार व्यय ही जीवन की सार्थकता है। पहले अपनी सेवा, फिर समाज की सेवा! क्या हम धन से समाज की सेवा नहीं कर सकते। मित्र, मैं तुम्हारी बात नहीं कहता। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि अपने व्यक्तित्व की साधना में विफल, अपने सुधार में पराजित ही समाज-सुधार के लिए कमर कसता है? इसलिए तुम्हें अपनी शिक्षा का क्रम तोड़ न देना चाहिए।"

"यह वर्तमान शिक्षा-क्रम विषैला है। विदेशियों के स्वार्थविंदु पर निर्मित है। यह हमें आत्मनिर्भरता नहीं सिखाता। यदि सरकारी नौकरी की चक्की घुमाने को न मिले, तो फिर दूसरे किसी उद्योग के योग्य रहता ही नहीं मनुष्य।"

"अंगरेजी-शिक्षा का अर्थ ही सरकार की नौकरी है। तुम कहते हो तुम्हारे घर खेती है। उससे बढ़कर आत्मनिर्भरता और आत्मसंयम कहाँ है? क्यों उसे छोड़कर तुमने अंगरेजी के स्कूल में नाम लिखाया। जब यह गाड़ी तुमने स्कूल तक खींची है, तब फिर इसे कॉलेज तक क्यों नहीं पहुँचाते! तुम कहते तो, पिता की अनुमति और अर्थ इन दोनों में से कोई बाधक भी नहीं है।"

"शिक्षा के ही उद्देश्य से तो आश्रम को जा रहा हूँ। शिक्षा का उद्देश्य केवल अर्थोपार्जन ही है, यह मुझे मान्य नहीं।"

दोनों की बातचीत होती रही। एक-दूसरे के आदर्शों को मान लेने को तैयार न होते हुए भी, दोनों का मित्र-भाव बढ़ चला। और अनेक विषयांतरों में उनकी बातचीत चल पड़ी।

विद्यार्थी ने कुमार को सोनिया का मार्ग बताकर चाय का निमंत्रण दिया और हठपूर्वक उसे चाय-घर की ओर ले चला।

"मैं चाय नहीं पीता।"

"आश्चर्य है। तुम्हें पीना पड़ेगा। यात्रा की सारी श्रांति दूर हो जायगी क्षण-भर में ही। तुमने चाय कभी नहीं पी, तभी तो मैं उसे आरंभ कराकर अपने इस कुछ घंटों की मित्रता की स्मृति तुम्हारे हृदय में छोड़ जाऊँगा विदा होते समय। नहीं तो कौन किसे स्मरण रखता है।"

"मुँह भी तो नहीं धोया है। बासी मुख कैसे—?"

"थूक नहीं निगल रहे हो क्या? जल के पश्चात् चाय-पान ही तो मनुष्य का सबसे स्वाभाविक पेय है। और चाय की सबसे अधिक स्वादिष्टता उसे बिना मुख धोये पीने में है। मुख और अंग का स्नान बाहरी शुद्धि है, चाय-पान आभ्यंतरिक शुद्धि है।"

विवश होकर कुमार को चाय पीनी पड़ी। उसने मन में सोचा—"खानसामा की सुराही का पानी पी चुका हूँ, तो चाय पीने में कौन-सा धर्म चला जायगा।"

दोनों चाय पीने लगे। साथी ने दो प्लेटों में बिस्कुट भी ले लिये।

कुमार ने विरोध किया—"नहीं बिस्कुट तो कदापि नहीं।"

"कैसे नहीं। चाय के साथ निगलने के लिए कुछ अवश्य चाहिए। कोरी चाय हानिकर होती है।" कहते हुए साथी ने बलपूर्वक कुमार की चाय में एक बिस्कुट डाल दिया।

कुमार ने मन में सोचा—"गरम चाय में बिस्कुट—यह तो भात हो गया।" कुमार के धर्मशास्त्र में भात से बढ़कर छूत और किसी वस्तु की नहीं थी। इस बात को छिपाकर उसने कहा —"संध्या भी तो नहीं की।"

साथी ने बलपूर्वक बिस्कुट उठाकर कुमार के मुख में ठूँस दिया—"संध्या स्वयं हो जाती है।"

विना प्रयास ही रूढ़ि का टूटना कुमार के हर्ष का कारण था। मित्र विदा हुआ और कुमार अपना भार सँभाले सोनिया के आश्रम की ओर चल पड़ा, पैदल ही।

६

अन्यत्र कुछ करने-धरने के पश्चात् धीरे-धीरे विशालजी लोकतंत्र के चरम उपासक, जनवाद के प्रबल प्रचारक और वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रसिद्ध पुजारी बन गये !

गाँधीवाद की एक प्रचंड हवा बड़े वेग से नगरों से ग्रामों की ओर बढ़ रही थी। ग्राम ही भारत का हृदय है, विशालजी ने इस बात को समझा। उन्होंने उस वाणी में युग को बोलता हुआ पाया। बिना किसी बनावट का वह वाद था, सरल और स्पष्ट, न कोई जटिल दार्शनिकता थी उसके, न लंबे-चौड़े अंकों के सूत्र और कोष्ठक ! सहज ही वह अशिक्षित ग्रामवासी के हृदय में घर कर गया। विशालजी ने मन में कहा—"इस आँधी के साथ क्यों न बढ़ चलें ?"

मनुष्य दुर्बलता का बना है। उसकी उस चेतना का जागृत हो जाना ही उसका आत्मशोधक हो जाना है। विशालजी आत्म-शोधक थे। नये अनुभव से पुरानी भूल को दूर करने में हिचकते न थे।

धन-संग्रह अच्छा कर लिया था उन्होंने। उसका सदुपयोग करनेवाले को उसका अभाव नहीं रहता। वह कीर्त्ति और प्रतिष्ठा पाने को आकुल हो उठे। उसे स्थायी धन समझने लगे। त्याग सच्चा त्याग प्रसिद्धि का मूल-मंत्र ! गाँधीवाद की शक्ति त्याग ही है। मानव-हृदय पर सबसे अधिक प्रभाव त्याग ही का पड़ता है। सत्य त्याग ही का अपर नाम है। जहाँ त्याग है, क्या वहाँ सत्य नहीं है ? जहा सत्य है, वहाँ त्याग भी है।

विशालजी ने गांधीवाद का अध्ययन किया और उसका व्यवहार भी। प्रत्येक देवता का एक मूल-मंत्र होता है। गांधीवाद का मूल-मंत्र है--'सत्य-अहिंसा।' सर्वशक्तिमयी पंचाक्षरी! यही वह महाशक्ति है, जिसके चरणों पर आसुरी शक्तियाँ अपने अस्त्र-शस्त्रों को तोड़कर पराजित हो जाती हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक संप्रदाय को एक वेश बनाना पड़ता है, वैसे ही गांधीवाद ने अपनी पहचान बनायी। वह सिर पर से आरंभ हुई --शुभ्र और निर्मल टोपी। आरंभ में वह जेल के बंदियों के सिर का आच्छादन थी और फिर वह हमारी मुक्ति का मुकुट बन गयी। भारत के सिर पर जैसे हिमालय का श्वेत शिरस्त्राण है, वैसे ही वह दिन-दिन जनता के सिरों पर बढ़ चली। उस टोपी की शुभ्रता में सत्य सन्निहित था और उसके ताने-बाने में मनुष्य के हाथों का शुद्ध श्रम--हमारी आत्म-निर्भरता--वही तो अहिंसा है।

क्या बिजली और भाप से प्रवर्तित चक्र ही हिंसा की धुरी नहीं है? क्या उसी ने स्वर्ण के स्तूपों का निर्माण नहीं किया? क्या उसी के आधार पर पूँजीवाद ने अपना मस्तक नहीं उठाया? भूमिपति-वाद ने किसान का गला दबाया, तो क्या पूँजीवाद की बलि के बकरे मजूर नहीं हैं?

चमक उठी सफेद टोपी! आरंभ में वह टोपी घोर अराजकता की जननी हुई। श्वेतांग उसे देखकर भय से थरथराने लगा, किसान ने उसमें आशाएँ उज्ज्वल की। नगर में जब केवल उँगलियों में गिनी जानेवाली टोपियाँ पहनी गयी थीं, तभी विशाल-जी ने भी अपनी टोपी का रंग बदला था, अग्रगामियों में उनका नम्बर दूसरा न था।

विशालजी ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया, कि उनका आंदोलन नगरों में केंद्रित है, पर परिधि में उसके ग्राम ही हैं,

किसान ही उसकी इकाई है। नागरिक भीतरी मन से उस आंदोलन का समर्थक हो, परंतु अपनी जीविका के कारण वह उसके साथ खुलकर नहीं खेल सकता। किसान की जीविका उसके हाथ ही में है। विशालजी ने गाँवों की ओर पैर बढ़ाने आरंभ किये। ग्राम-मेलों का संगठन करना आरंभ किया, ग्राम-सभाओं मे जीवन और जागृति के संदेश देने लगे। ग्रामों के दिन-रात दौरे आरंभ हुए--ग्रामवासियों की कठिनाइयों को समझा उन्होंने, ग्रामवासियों को सुख-सौभाग्य के स्वप्न दिखाये। उनके दुख-कष्टों के निवारण का एकमात्र उपाय बताया—स्वराज्य, कांग्रेस—गांधीवाद।

विशालजी ग्राममय हो गये। ग्रामवासी उन्हें घेरे रहते, कभी किसी ग्राम में व्याख्यान, कभी किसी में शिविर! उन्होंने घर-घर तकली और चरखा-मंडल स्थापित किये। ग्राम-गीतों का संग्रह कर उनमें साहित्य-चेतना दी और कहीं-कहीं ग्राम-नृत्यों का भी संस्कार कर ग्रामवासियों की मनोरंजन और कलात्मक वृत्ति को जगाया। ग्राम की जनता उन्हें ऊँचे आसन में बिठा, उनके गले में फूल-माला डाल उनके गंध-अक्षत कर ऊँचे स्वर में पुकारने लगी—'विशालजी की जय।'

विशालजी गद्‌गद् हृदय से कहते—"भाई, मेरी जय क्या है, यह तो आपही की जय है। कहो—'भारतमाता की जय!'"

जनता का नेतृत्व पाकर विशालजी ने सोचा—"अब एक बीमा-कम्पनी का एजेंट रहना मेरी योग्यता के अनुकूल नहीं है। घर-घर बड़े लोगों से अनुनय-विनय कर उनको बीमे के लिए सम्मत करना अब मेरे लिए अपमानजनक है।"

इसके अतिरिक्त जन-आंदोलन ने उनकी सक्रियता इतनी बढ़ा दी थी कि उनको बहुत-सी व्यक्तिगत बातों के लिए भी अवकाश

नहीं मिलता था। जनता में अपनी उदीयमान 'जय' के सामने उनको 'कमीशन' का लालच बड़ा तुच्छ जान पड़ा। इसलिए उन्होंने बीमा-कम्पनी की एजेंसी अपने भाई के नाम में करा दी और लोक-सेवा के लिए मुक्ति पायी। जनता ने भी उनके उस त्याग की सराहना की।

कांग्रेस में अडिग श्रद्धा थी विशालजी की। उसके प्रोग्राम को स्वयं व्यवहार में लाते थे और जनता की अभिरुचि और विश्वास भी उत्पन्न कराते थे उसके प्रति। अपना उदाहरण दिखाकर ही तो कोई जनता की अनुचरता प्राप्त कर सकता है!

उन्होंने स्वदेशी की महिमा चारों ओर पहाड़ पर फैला दी। 'कातकर ही पहनो।' यह उनकी ध्वनि थी और यह बड़ी सफलतापूर्वक प्रतिध्वनित हुई। चरखा तो अधिक चला नहीं वहाँ, हाँ तकली प्रत्येक ग्रामवासी के हाथ की शोभा और रिक्त क्षणों का शृंगार हो गयी।

प्रकृति ने मनुष्य की क्षति के लिए पूर्त्ति भी दी है। कहते हैं, प्रत्येक प्रांतीय रोग के लिए उसने उसकी औषधि भी वहाँ उगायी है। गरम देशों में उसने कपास को बढ़ने दिया है, तो शीत-प्रधान देशों में पशुओं पर नरम और उतने ही गरम बाल भी उपजाये हैं। अल्मोड़े प्रांत को पड़ोसी प्रांतों से बहुत सुंदर ऊन प्राप्त है, साथ ही उन्हें हेमंत और शिशिर में कठोर हिम-तुषार और निर्दय हवाओं का सामना करना पड़ता था। विशालजी के स्वदेशी-प्रचार में लोगों को तुरंत फल दिखायी दिया और जनता उधर आकृष्ट हो गयी।

तकली घूमती तो थी उन दिनों भी पहाड़ों पर, पर आच्छादन के लिए नहीं, यज्ञ-सूत्रों के लिए। अपने ही हाथ के कते हुए यज्ञ-सूत्र की बड़ी महिमा थी। नगरों में भी वह घूमती थी, पर

ग्रामों में बहुत अधिक। धन्य हैं वे ग्राम जिन्होंने हमारी संस्कृति की रक्षा की है।

परंतु तकली चलाते थे केवल बड़े-बूढ़े और पंडित लोग ही। विशालजी ने उस एकाधिकार को पंडितों से लेकर सारी छूत-और अछूत जनता में वितरित कर दिया।

प्रत्येक ग्राम में एक नया उद्यम जाग उठा। उसकी एक आवश्यकता अपने ही अवलंब पर पूरी हो गयी, उसकी सांपत्तिक स्थिति में भी वृद्धि हुई।

ग्रामनिवासी थोड़े ही व्यय में अपने जाड़ों के कवच प्रस्तुत करने लगे। अधिक उद्यमशील उससे अच्छा पैसा भी कमाने लगे, नमक-तेल के लिए।

विशालजी जब ग्रामों का दौरा करने के लिए जाते, तब उन्हें मार्ग और वटियां पर, चक्की और पनघटों पर, घरों और खेतों पर दल के दल किसान ऊन कातते दिखायी देते। किसी के अंग में उसी के हाथ का कता और बुना स्वीटर था, तो किसी के कन्धे पर वैसा ही कम्बल। विशालजी वह दृश्य देख-देखकर गद्‌गद् हो जाते और कहते—"सूत के धागे में कैसे नहीं है स्वराज्य।"

वह स्वराज्य की एक और आध्यात्मिक व्याख्या भी करते थे, "स्व-राज्य—अपने में राज्य, अपने मन का आधिपत्य! इंद्रियाँ हमारी चपल हैं, किसी एक कर्म में उन्हें नियोजित कर देने से उनपर राज किया जा सकता है। यदि हम यह भीतरी स्वराज्य प्राप्त कर लें तो वाहरी स्वराज्य स्वयं हमारे पास आकर उपस्थित हो जायगा।"

एक गाँव में वागेश्वर के मेले में प्रचार कर लौटते हुए विशाल जी तकली की महिमा पर व्याख्यान दे रहे थे—"जब अपने हाथ के कते हुए थोड़े-से सूत्र तुम्हें पवित्र कर सकते हैं, तव अपने हाथ

का कता हुआ कम्बल—जो ओढ़ा और बिछाया जाकर तुम्हारे सारे अंग को ढक देता है, तुम्हें कितना पवित्र न कर देता होगा।"

एक माला और त्रिपुण्डधारी पंडितजी भी व्याख्यान में सन्नि-सहित थे, कुछ दूरी पर एक शिला पर बैठे अपने धर्म को सुरक्षित रक्खे हुए। विशालजी पर वह मन-ही-मन बहुत कुढ़े हुए थे, क्योंकि वह उस मेले में अंधविश्वास की जड़ पर कुठार चला आये थे। उन्होंने वहाँ श्रम को प्रतिष्ठित किया था। ब्राह्मण की संतान होकर वह वहाँ से हल चला आये थे, हजारों मनुष्यों की भीड़ में। मन-ही-मन वह कुछ गुनगुना रहे थे, पर उनकी सुनता कौन ?

विशालजी भाषण दे रहे थे, साथ ही कात भी रहे थे वह—"इस तकली की परिक्रमा मन में एक अद्भुत लहर उपजा देती है। यह अपनी एक ही दिशा की चाल से उसे एकाग्रता के मार्ग पर रख देती है। मन में कितने ही संशय भरे हों, जहाँ पाँच-सात मिनट यह नाची नहीं, कि सबके सब उड़े। कितना ही उलझा हुआ कोई प्रश्न हो, दुविधा उसमें से होकर मार्ग निकाल ही न पाती हो, तकली घुमाइये और कुछ ही देर में काले बादलों के बीच से जैसे चंद्रमा निकल आता है, वैसे ही आप की समस्या हल हो जायगी।"

'हल' शब्द सुनते ही पंडितजी का माथा ठनका, वह अपना संतुलन स्थिर न रख सके। तुरंत ही शिला पर खड़े हो गये और बोल उठे—"ऐसी-तैसी तुम्हारे हल की, उसे चलाकर तुमने समस्त ब्राह्मणों की नाक कटा दी !"

श्रोताओं का ध्यान खींच न सके थे पंडितजी के ये शब्द। विशालजी का व्याख्यान गतिशील था—"जो आध्यात्मिक फल माला फेरने से है, वही तकली घुमाने से भी है।"

पंडितजी ने इसे अपनी माला पर सीधा कटाक्ष समझा। इस बार भुजा उठा, स्वर पूरा सप्तक तक ऊँचा कर ललकारे—"जनता को धोखा देना घोर पाप है। तकली घुमाने में क्या आध्यात्मिकता है? ऊन कतता चला, तोलों पर छटाँक प्रकट हुए, छटाँकों पर सेर। यह वैश्य-वृत्ति की बाढ़ है या आध्यात्मिकता?"

श्रोताओं ने उसका भाव जानकर कहा—"चुप रहो, चुप रहो, बैठ जाओ, बको नहीं। क्या बढ़िया व्याख्यान जम रहा था।"

विशालजी बोले—"नहीं, कह लेने दो। सबको अपने विचार प्रकट करने का अधिकार है। हाँ, कहिए पंडितजी। क्या है फिर आध्यात्मिकता?"

पंडितजी साहस पा बोल उठे—"आध्यात्मिकता है यज्ञ-सूत्र के कातने में, वही अप्रत्याशित कर्म है। जब मिल का पहिया अशुद्ध है, तब क्या चरखे का उसका भाई नहीं, और क्या तकली में भी वही पहिया नहीं है। आध्यात्मिकता है उस सूत्र में जो तर्जनी और अंगुष्ठ की सहायता से काता जाता है और बटा जाकर भगवान् की आरती में जल जाता है। कर्म का बंधन समाप्त हो जाता है भगवान् की पूजा में। तकली की कताई में लालच बढ़ता जाता है। मनुष्य की यह स्वार्थपरता! अध्यात्म का घोर शत्रु है यह!"

कुछ स्कूली लड़कों ने ताली बजा दी।

पंडितजी समझे कदाचित् जनता उनका साथ दे रही है। और भी ऊँचा स्वर कर बोले—"जहाँ समता है, वहाँ है ही, परंतु जो इन पहाड़ों की उँचाई-निचाई में तुमने परिश्रम किया, तो मुँह की खाओगे।"

लड़कों ने फिर ताली बजाकर हल्ला कर दिया। कोई बोला—"चुप रहो!" किसी ने कहा—"पागल है!"

विशालजी भी पंडितजी के भाषण में कोई युक्ति या तर्क का अभाव देखकर मुँह बनाने लगे थे। लड़कों से बोले—"शांति! शांति! गड़बड़ न करो बालको! सुनने दो, सुनो।"

लड़के चुप हो गये। पंडितजी आपे से बाहर हो चुके थे। उनके पैर लड़खड़ा रहे थे। हाथ काँपने लगे। आँखें लाल होकर बाहर निकल आयी थीं। उन्होंने दुर्वासा की भाँति हाथ उठाया और घोर शाप की वृष्टि की—"याद रक्खो, तुमने छूत-अछूतों में फूट फैलाकर अच्छा काम नहीं किया है। तुमने बड़े को छोटा किया है और छोटों के धंधों को छीनकर उन्हें लूट लिया है। इसका फल कदापि श्रेयस्कर न होगा।" पंडितजी ने हाथ झटका, पीठ फेरी और बड़बड़ाते हुए गाँव की ओर चल दिये। उनका उत्तरीय कंधे पर से छूटकर भूमि पर लटकता जा रहा था। लड़कों के हुल्लड़ से चौंककर एक कुत्ता भी उनकी ओर से भौंकने लगा।

कुत्ते ने पंडितजी का पीछा कर उनके लटकते हुए उत्तरीय में दाँत गड़ा दिये। पंडितजी ने झटककर उसे खींचा, तो वह जीर्ण कपड़ा फटकर ही उनके हाथ में आया। उन्होंने क्रोधावेश में एक पत्थर उठाकर कुत्ते पर दे मारा। कुत्ता दुम दबा 'टाँय-टाँय' कर चला गया।

सारी सभा हँस पड़ी, और हँस रही थी क्रांति। पुराने पत्ते की विच्युति पर नयी कोंपल भी तो। अपराध किसका है? किसी का भी नहीं। हम सब एक पूर्वनिश्चित विधान पर ही आवर्त्तित हैं। प्राचीन भी एक दिन नवीन था और नवीन भी एक दिन प्राचीन हो जायगा। जब दोनों एक ही मार्ग के पथिक हैं, तब कैसी जय, क्या पराजय!

सभा को शांत कर विशालजी ने अपने व्याख्यान को समाप्त किया—"हमारा व्यक्तिगत न किसी से द्वेष है, न किसी से लड़ाई।

हम सैनिक हैं तो अहिंसा के, कोई हमसे शत्रुता साध नहीं सकता। हम सत्य के पुजारी हैं, हमसे किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।....''

कभी स्वदेशी पर भाषण है, तो कहीं वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली का विरोध। कहीं अदालतों के बहिष्कार की चर्चा है, तो कहीं पंचायती राज की महिमा। कहीं ग्रामों की स्वच्छता का प्रचार है, तो कहीं नशा-निषेध के धरने। कहीं किसी नेता या आश्रम के वार्षिकोत्सव हैं, तो कहीं किसी सत्याग्रह की धर-पकड़!

विशालजी की देशभक्ति में संशय न था कोई। गांधीवाद के प्रचार में तन-मन ही से नहीं, धन से भी सहायता पहुँचाते थे। एक ध्वनि, एक रूप और एक उद्देश्य--एक मार्ग में सारे प्रान्त को गूँथ कर भारतीयता में मिला देना उनका व्रत हो गया। क्या पुरस्कार का लालच था उन्हें? केवल एक राष्ट्र-प्रेम की प्रेरणा। रात-दिन ऊँचे पहाड़ों की पैदल यात्रा करते। मूसलाधार वर्षा में भींगते हुए दूर-दूर के छिन्न-भिन्न ग्रामों को एक संदेश में मिलाते। कठिन हिम को कूदकर ऊँचे-से-ऊँचे शिखर पर राष्ट्र की ध्वजा को ऊँचा करते, कभी-कभी अपना व्यय ही वहन नहीं करते, साथियों का भी मार्ग और रहन-सहन का भार उठाते।

एक दुर्बल पक्ष भी था विशालजी का, वह था उनके घर का भीतरी साम्राज्य। बहुधा उनके विरोधी कहते थे—"विशालजी, तो स्वदेशी के इतने बड़े समर्थक हैं, स्वयं स्वदेशी हाथ का कता कपड़ा पहनते हैं, दूसरों को पहनने का अनुरोध करते हैं; परंतु इनके अंत:पुर में दूसरा ही खेल चलता है। इनकी पत्नी के पास कुछ नहीं तो कम-से-कम आधे दर्जन ट्रंक तो होंगे ही पूरे ठसाठस विदेशी कपड़ों के। होलियाँ तो दूसरों की गठरियों पर जली हैं। पत्नी के किसी एक ट्रंक को छू भी सकें तो हम जानें।

यह पबलिक में ताल ठोंक-ठोंककर तर्कों के पहाड़ उठा देनेवाला, चूँ नहीं कर सकता पत्नी के सामने। वह इनके उपदेशों की ऐसी धज्जियाँ उड़ा देती है कि सुनते ही बनता है। कहती है, दो दिन के लिए संसार है। क्यों न मन का पहन-ओढ़ लूँ। अपना पैसा, अपनी पसंद, मैं क्यों मरूँ देश के साथ। मुझे नहीं सहन होता वह खद्दर, अंग में चुभता है। रूखा-सूखा खाकर जी सकती हूँ, परंतु बाहर मित्र-शत्रुओं के बीच में मैं जोगिन के वेश में नहीं निकल सकती।"

विशालजी की पहली संतान लड़की थी। दस वर्ष तक फिर उनके और कोई संतान ही नहीं हुई। लड़की का नाम था लक्ष्मी। पुत्रहीन घर में पुत्र की भाँति लड़की का लालन-पालन हुआ था। हँसमुख स्वभाव की, सुंदर और बुद्धि की तीव्र लड़की थी। बहुधा सभा-समितियों में पिता के साथ जाने से उसके कोमल मानस में देश-भक्ति का अंकुर उग चला था। बड़ा मधुर सुरीला कंठ था उसका। जब वह सभा के आरंभ में 'वंदे मातरम्' गाती तो सारी सभा मंत्र-मूर्च्छित-सी हो जाती।

माता और पुत्री में भूमि-आकाश का अंतर था, कदाचित् शिक्षा और वातावरण की भिन्नता से। फिर युग की हवा भी तो कोई वस्तु है! कौन उससे प्रभावित नहीं होता। गांधीवाद के कैसे-कैसे कट्टर विरोधियों ने भी अंततः उसकी शरण में अपनी पराजय छिपाकर अपने को गौरवान्वित समझा।

लक्ष्मी ने खद्दर में शुद्ध प्रीति उपजायी। पिता का कोई अनुरोध या बाध्यता नहीं थी—अपनी रुचि उसकी सहायिका थी। माता की भर्त्सना सहन कर जाती थी वह केवल एक ही वाक्य में—"देश के अनेक निर्धनों को रोटी देता है यह व्रत।"

घर के भीतरी भाग में जहाँ विदेशी चमक अपना प्रभुत्व

जमाये हुए थी, वहाँ स्वदेशी की सरलता का व्यवहार करनेवाली लक्ष्मी को पाकर विशालजी फूले नहीं समाते थे। उनको विश्वास हो गया था, लक्ष्मी उनकी दुर्बलता को जीत लेगी।

परन्तु लक्ष्मी भी एक दुर्बलता थी विशालजी की। उसकी विद्या में बड़ी अभिरुचि थी। ईसाइयों के स्कूल में अंगरेजी के दसवें वर्ग में पढ़ती थी। नित्य ठीक समय पर स्कूल जाती, मनोयोग से पाठ तैयार करती और ऊँचे नम्बरों से पास होती।

लोग कहते—"वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध विष उगल-उगलकर इन्होंने हमारे सैकड़ों बच्चों का स्कूल छुड़ाकर उन्हें बेकार बना दिया। उनका जीवन नष्ट कर दिया। उन्हें जीविका-उपार्जन करने योग्य न रक्खा। लेकिन इनके घर की बात देखो—लड़की बराबर स्कूल जाती है। क्या यह अंधेर नहीं है? दिया-तले अंधेरा? स्वयंसेवक बनकर नंगे पैर इनके पीछे-पीछे इनकी जय पुकारने के लिए दूसरों के लड़के, और अपनी लड़की उच्च शिक्षा के लिए? लड़की की इतनी उच्च शिक्षा! उसकी आवश्कता ही क्या है?"

इसमें संदेह नहीं, विशालजी ने कई बार अंग्रेजी की शिक्षा के विरुद्ध भाषण दिये थे। स्कूलों में हड़तालें भी करायी थीं। नवीन राष्ट्रीय-शिक्षा के लिए दो-चार विद्यापीठों के निर्माण में भी सहायता दी थी; परंतु लक्ष्मी का स्कूल क्यों नहीं छुड़वाया उन्होंने? क्या कारण है, बाहरी आवरण के लिए लक्ष्मी ने खद्दर पसंद किया, पर वाणी के शृंगार के लिए क्यों वह विदेशी उच्चारण पर टूट पड़ी! विशालजी ने भी उच्च शिक्षा के लिए क्यों नहीं उस कन्या को किसी राष्ट्रीय विद्यापीठ में भरती कराया? ऐसा हो सकता है, उन विद्यापीठों में उच्च परीक्षा का प्रबन्ध नहीं था और न कन्याओं के लिए कोई योजना ही।

विशालजी को यह दुर्बलता कभी अनुभव नहीं हुई होगी। ममत्व का मोह, अपनी आँख का जाला दिखाई ही न दे। स्वदेश का प्रेम रखनेवाली वह कन्या विदेशी भाषा के माध्यम के कारण दिन-दिन जीवन और जगत् के आदर्शों के लिए बराबर विदेशी नमूनों की ओर आकृष्ट हो रही थी। पिता उसको समाज की अन्य कन्याओं से भिन्न पाकर उसकी विशिष्टता अनुमान करने लगे। उसके विचारों की परिधि निस्संदेह विस्तृत हो उठी थी। उसने अपने इतिहास के साथ-साथ अंतर्जातीयता का इतिहास और भूगोल भी पढ़ा था।

विशालजी प्रफुल्ल हो उठते थे, जब लक्ष्मी भारत की मुक्ति-संघर्ष में सहायक विदेशी उद्धरण देती। वह लक्ष्मी की विद्या की तृष्णा को बीच ही में तोड़ देना नहीं चाहते थे, उन्हें कोई भय नहीं था कि लक्ष्मी की उच्च विदेशी शिक्षा उसके भारतीय आदर्श को कोई हानि पहुँचा सकती है।

प्रत्यक्ष में कोई ऐसा प्रभाव परिलक्षित भी नहीं हुआ था उस समय। पिता की आज्ञाकारिणी, विनय और शील की भारतीय प्रतिमा थी ही लक्ष्मी। माता से विचारों में अवश्य ही मतभेद था उसके। माता साधारण हिंदी पढ़ी-लिखी थी और लक्ष्मी अंगरेजी की उच्च शिक्षा की ओर बढ़ रही थी।

विचार न मिलने का एक कारण और भी था। चूल्हा और गृह, लक्ष्मी का क्षेत्र न रह गया था। वह था स्कूल का दरजा और सभा का मंच। लक्ष्मी माता की संगति में रहती ही कहाँ थी। संगति से विचार-साम्य होता है।

नारी आधा जगत है। उसने संसार के स्वातंत्र्य-युद्धों में बराबर भाग लिया है, भारत में भी और भारत के बाहर भी। घर की चार प्राचीरों में घेरकर उसे रोगयुक्त और संकुचित

मनोवृत्ति की बना देना अन्याय है। उसकी आँखों के आगे से संसार को ढक देना उसके अज्ञान को बढ़ा देना है। मनुष्य के साथ-साथ उसको उतने ही सामाजिक अधिकार मिलने आवश्यक हैं। राष्ट्री की पूजा में भी सहकारिता एकांत अनिवार्य है, विशालजी का यह अभिमत था।

नारी की बहिर्मुखी वृत्ति के लिए कोई विरोध न था विशाल जी के पास। वह उसे आर्य-गौरव के प्रति कोई आक्षेप नहीं समझते थे। परन्तु उनकी पत्नी इस बात का यथाशक्ति विरोध ही करती थी।

गांधीवाद ने चूल्हे-चौके से नारी को बाहर निकालकर राष्ट्र की समर-भूमि में रक्खा, यह सच है; परंतु इसका आरंभ और पहले से हो चुका था। महर्षि दयानंद भारत की नारी में देवी की प्रतिष्ठा कर चुके थे। उन्होंने उसे अज्ञान के अंधकार से निकाल कर प्रकाश में रक्खा, परदे के बंधन से मुक्त कर उसे सामाजिकता दी।

नारी को उच्च शिक्षा देने के पक्ष में होकर भी बहुत लोग अभी तक उसके पुरुषों के समाज में प्रवेश का विरोध करते हैं। विदेशों में नर और नारी की समानता दिखाये जाने पर उनका तर्क यह रहता है कि वहाँ की समाज-रचना दूसरे प्रकार की है तथा वहाँ का वातावरण भिन्न है; परंतु यदि देखा जाय, तो कुछ भौगोलिक अंतर्जन्य भिन्नता के अतिरिक्त मानवता सर्वत्र ही समान है। उसकी भूख-प्यास के आवेदन-संवेदन, उसके राग-द्वेष के आकर्षण-विकर्षण, उनकी ममता-माया के जाल-जंजाल, हिंसा-प्रतिहिंसा के आघात-प्रतिघात क्या सभ्य क्या आदिवासी सब में एक-से ही हैं।

वे ईश्वर की कल्पना करते तो हैं। उसका आकार हो चाहे

नहीं, उसका एक ही मुख हो या अनंत मुखों की विराटता, अंधविश्वासों में जकड़ा हुआ, मृत्यु के भय से आकुल—दीन मनुष्य सर्वत्र एक ही सा है। भूमध्य-रेखा पर वह काला हो गया तो क्या, ठंडे अक्षांशों पर उसने उज्वलता पा ली तो क्या? प्रकृति ने उससे अपने रहस्य इस प्रकार छिपा लिये हैं कि उसे अंधविश्वासों को पालना ही पड़ता है। कौन कहता है सभ्य मनुष्य के अंध रूढ़ियाँ नहीं होतीं और असभ्य का संसार केवल अंधता ही है?

लक्ष्मी ने एंट्रेंस पास किया। सफल छात्रों की सूची में उसका नाम बहुत ऊँचे पर चमका। इष्टमित्र और प्रिय-परिचितों ने बधाइयाँ दीं। सबको आश्चर्य हुआ जन-आंदोलन में इतना सक्रिय और सतत भाग लेनेवाली यह कन्या इतने ऊँचे नंबरों से कैसे पास हो गयी। निश्चय इसने लड़कों का मुख लज्जा से ढक दिया।

विशालजी ने इस प्रसन्नता में अपने विशिष्ट मित्रों को—ग्राम और नगर दोनों के—चाय पार्टी दी। उस पार्टी में लक्ष्मी की गुणावली का भी वर्णन किया गया और उसके जीवन के भावी कार्यक्रम पर भी मत संगृहीत हुए।

एक मित्र ने कहा—"पिछले झंडा-सत्याग्रह में लक्ष्मी ने जिस साहस और निर्भयता का परिचय दिया, वह जनता के भूल जाने की वस्तु नहीं है। मैं उसकी आँख-देखी साक्षी हूँ। किस प्रकार हाथ में झंडा फहराती हुई यह चली जा रही थी। उष:काल के तुषार की नंगे पैरों से अवहेलना करती हुई। गंध की रेखा इसके उज्वल भाल पर, हवा में लहराते हुए मुक्त कुंतल, एक हाथ से अंचल और दूसरे हाथ में ध्वजा सँभाले हुए आँधी और बिजली की भाँति यह चली जा रही थी। इसके

मुख पर गीत था—"चलो, चलो मिलकर सब भारत-संतान। मातृभूमि करे आह्वान।" एक सौ युवक मंत्र-मुग्ध-से इसके पीछे चले जा रहे थे। उनकी सारी चेतना, सारा वेग केवल मात्र लक्ष्मी की इच्छा पर निर्भर था। लक्ष्मी ही उनकी नेत्र थी, वह यदि आग, सागर और हिमानी में भी कूद जाती, तो स्वयंसेवक उसका अंध अनुसरण करते ही। वह शैलपुत्री दुर्गा-सी बढ़ी जा रही थी मानो समर के क्षेत्र में—ठोकरें माथा नवा रही थीं मार्ग को, त्रिशूल फूलों की पंखुरियों में बदलते जा रहे थे। पहले दिन डंके के चोट यह घोषणा कर दी गयी थी कि कल को म्युनिसिपल्टी के दफ्तर में हमारा जातीय झंडा फहराया जायगा। पुलिस-दल ने कल्पना की, इतने तीखे शीत में, इतनी रात रहते कौन आने लगा। जो पहरे पर थे, उन्होंने आधे स्वप्न और आधी जागृति में, मशालों के बीच में धावमान उस ध्वजाधारिणी को देखा। उसके शतकंठों में प्रतिध्वनित गीत ने और भी अधिक रहस्य से भर दिया था उस दृश्य को। सिपाहियों ने उसे एक दैवी चमत्कार समझा और वे भाग खड़े हुए। लक्ष्मी खंभों को पकड़कर छत पर चढ़ गयी और भवन के शिखर पर चढ़कर उसने झंडा बाँध दिया। भारतमाता की जय के सिंहनाद से गिरि-शिखर गूँज उठा। लक्ष्मी ने जन-अधिकार की रक्षा की और सारे नगर की सदल-बल परिक्रमा कर लौट गयी।

अपने साहस और बल की प्रशंसा सुनकर लक्ष्मी का मुख आभान्वित हो उठा। उसके पिता का मस्तक ऊँचा हो गया।

लक्ष्मी की आगे पढ़ने की बड़ी प्रबल इच्छा थी। विशालजी उसके उस उत्साह को तोड़ देना नहीं चाहते थे। उनके अनेक मित्र भी इसी पक्ष के थे। लक्ष्मी की माता इस प्रस्ताव की सबसे प्रबल विरोधी हो गयी।

लड़कियों के लिए कोई कॉलेज न था वहाँ। उन दिनों लक्ष्मी की माता अपनी पंद्रह-सोलह वर्ष की वयस्का कन्या को प्रवास में विद्याभ्यास के लिए भेजने को कदापि सम्मत न हुई।

विशालजी ने कहा—"छात्रावास में कन्याओं के रहन-सहन का अच्छे-से-अच्छा प्रबंध है। केवल महिलाएँ ही प्रबंधकर्त्री हैं। देश के बड़े-बड़े लोगों की कन्याएँ वहाँ शिक्षा पा रही हैं। तुम्हारा तो अद्भुत हठ है।"

पत्नी बोली—"नहीं, किसी प्रकार नहीं। तुमने पुरुषों की सभा में ले जाकर इस लड़की का साहस बढ़ा दिया है। मुझे भय है यह लड़की वहाँ अवश्य किसी आंदोलन में भाग लेकर जेल में बंद हो जायगी। यहाँ हमारा घर है, लोगों पर तुम्हारा प्रभाव है, पुलिस एकाएक छोटी-मोटी बातों में उसे पकड़ नहीं सकती।"

"उसे समझा दिया जायगा।"

"उसका विवाह कर उसे ससुराल भेजने की आपको चिंता करनी चाहिए या उसे कालेज में पढ़ने बनारस भेजने की? क्या करना है उसे बी० ए० पास कर? नौकरी करेगी क्या वह?"

"पढ़ना केवल नौकरी के लिए ही तो नहीं है। विद्याभ्यास की उसकी एक पवित्र इच्छा है। हमें उसे क्या इस प्रकार तोड़ देना चाहिए?"

"घर में मैं अकेली, तीन छोटे-छोटे बच्चे। अंततः गृहस्थी ही तो चलानी पड़ेगी न उसे। उसे मेरा हाथ बँटाकर मेरी सहायिका होना चाहिए और पारिवारिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए न। उसका जगत् दूसरा है—उसे एक न एक दिन जननी बनना ही होगा। यह इतिहास, भूगोल और अंगरेजी किस काम आयेगी उसके?"

"आयेगी कैसे नहीं ? सुशिक्षिता माता की संतान को पालने में से ही शिक्षा-प्राप्त करने का अवसर मिलता है।"

"तमाम स्वयंसेवकों की भीड़ को इसके पीछे दौड़ते हुए देखकर मुझे बड़ी लज्जा ज्ञात होती है। मुझे अपने स्वजन-परिजनों की स्त्रियों के बीच में जाने का अवसर मिलता है। कभी-कभी मैं उनके व्यंग्य को सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो जाती हूँ।" पत्नी ने बड़े दुःख-भरे स्वर में कहा।

अंत में पत्नी के विरोध पर माथा नवाना ही पड़ा विशालजी को। परंतु उन्होंने लक्ष्मी की आशाएँ भी नहीं तोड़ीं। उन्होंने एक मिस और मास्टर उसकी शिक्षा के लिए नियुक्त कर दिये। वे दोनों घर ही पर उसे पढ़ाने आते थे। लक्ष्मी प्राइवेट परीक्षा की तैयारी करने लगी।

एक दिन की बात है। विशालजी के एक मित्र उनके यहाँ आये हुए थे। कहते हैं, मित्र हाथ की रेखाएँ देखकर लोगों का भूत और भविष्य बड़ा सही-सही बता देते थे।

विशालजी का ज्योतिष में बिलकुल विश्वास नहीं था। वह हाथ की रेखाओं को उसके मांस सिकुड़न मात्र समझते थे। उन्हें कोट की बाँह में पड़ी हुई सलवटों से अधिक मूल्य नहीं देते थे। कोट की सलवटों का व्यक्ति के भूत और भविष्य से भला क्या संबंध हो सकता है ? परीक्षा के लिए भी नहीं, केवल मनोरंजन के लिए उन्होंने पुकारा—"लक्ष्मी !"

लक्ष्मी ने तुरंत ही कक्ष में पदार्पण किया।

विशालजी ने कहा—"अपना हाथ तो इन्हें दिखाओ बेटी।"

लक्ष्मी ने उत्कण्ठा के साथ अपना हाथ पसार दिया।

"कुरसी पर बैठ जाओ।"

लक्ष्मी कुरसी पर बैठ गई। हथेली का पाठक, करतल, पहुँचों और उँगलियों की उँचाई-निचाई और रेखाओं का अध्ययन करने लगा। मन-ही-मन कुछ विचार किया उसने, कुछ गणना भी। जो कुछ भूत काल की बातें बतायीं, उनमें बड़ी व्यापकता समायी हुई थी—पकड़ में न आ सका वह।

विशालजी ने पूछा—"यह बी० ए० पास कब होगी ?"

"चार साल में।"

यह एक मोटा गणित था। कोई भी जो लक्ष्मी को जानता होता, यह कह सकता था। उसकी पढ़ाई नियमित रूप से चल रही थी और वह अपने लक्ष्य पर दृढ़ थी।

"इसका विवाह कब होगा ?" विशालजी ने पूछा।

लक्ष्मी ने अपना हाथ खींच लिया।

"हैं, हैं, छिपाओ नहीं हाथ।" विशालजी ने फिर उसकी हथेली मित्र के सामने खोल दी।

एक रेखा को देखते-देखते अचानक मित्र चौंक उठा।

उस रेखा-जाल के सत्य का अविश्वासी होने पर भी विशाल-जी के हृदय पर एक आघात पहुँचा। उनकी इच्छा के विरुद्ध एक चिंता उनके अधरों पर फूट पड़ी। केवल एक ही शब्द निकला, पर उसमें कई वाक्यों की व्यथा समायी हुई थी—"मित्र!" विशाल-जी ने व्यथा भरे स्वर में कहा।

"हाँ देख लिया।" केवल यही उत्तर मित्र ने दिया।

विशालजी ने अनुमान किया, मित्र ने कोई भयानक गणना की है अपने मन में, और उसे लक्ष्मी के सामने कह देने में उन्हें आपत्ति है। उन्होंने फिर अपनी जिज्ञासा छिपा दी और कहा—"हो गया, जाओ बेटी।"

लक्ष्मी भी ऐसी अनजान न थी, जो बात को न समझती। वह चुपचाप उठी और भीतर की ओर चल दी। वह उनकी दृष्टि की सीमा तक चली, द्वार पर के परदे की ओट में होते ही वहीं पर खड़ी हो गयी, उनकी बातें सुनने के लिए परोक्ष से। वह भले प्रकार समझ गयी, ज्योतिषी उससे छिपाकर कुछ कहना चाहता है। लक्ष्मी का अनुमान ठीक ही था। कमरे में बातें चलीं और उसने सुनीं।

पहली शून्यता उसके पिता ने ही तोड़ी—"क्या देखा आपने ?"

"बुरा तो नहीं मानोगे ?"

"बुरा मानने की क्या बात है ?"

"तुम मेरे मित्र हो। जो समझ में आया, उसे तुमसे छिपा देना पाप है।"

विशालजी ने उस विद्या का अविश्वासी होकर भी व्यग्रता दिखाते हुए पूछा—"कहो तो सही, क्या बात है ?"

मित्र ने कदाचित् उस बात को प्रकट कर भी छिपी ही रहने देने के लिए अंगरेजी में कहा—"विवाह कब होगा, यह तो नहीं बता सकता, परंतु इस कन्या के हाथ में वैधव्य के संकेत हैं।"

विशालजी ने अट्टहास्य कर उड़ा दी बात—"मुझे तुम्हारी विद्या का कोई विश्वास नहीं है। सब पाखंड है।"

पर परदे के पीछे छिपकर लक्ष्मी सब सुन रही थी। उसके हृदय पर सहसा बिजली-सी गिरी और पिता के अविश्वास का अट्टहास्य उसे रंचमात्र सांत्वना न दे सका। वह एक गहरे विषाद में डूबती हुई अपने कमरे में चली गयी और शय्या पर पड़ गयी।

विदेशी भाषा का अध्ययन करने पर भी लक्ष्मी के हृदय में

भारतीय परंपराओं का ही अधिकार था। फिर नारी-प्रकृति, भाग्य में सहज ही विश्वास रखती है। रह-रहकर उस अंधकार और आँसुओं के सागर में वह कुमारी छटपटाने लगी

वह साहस कर एक तट की ओर बढ़ने लगी। उसने मन-ही-मन कहा—"झूठी बात! कौन जान सकता है, कल को क्या होगा? ऐसा हो कोई, तो घर बैठे ही पुज जाय।" फिर दूसरी हिलोर आती—"परंतु वह पिता के मित्र हैं, झूठी बात कहने से उनका तात्पर्य?"

अंत में लक्ष्मी ने थाह पा ली। वह अपने सारे विषाद को मलिन वस्त्र की भाँति त्यागकर उठी—"यदि वैधव्य भगवान् का विधान है, तो विवाह मेरे मन का निर्माण है। यदि मैं आजन्म विवाह ही न करूँ, तो वैधव्य के संकेत मेरा क्या बिगाड़ लेंगे?"

७

कुमार माग की कठिनाइयों को सहन करते हुए सोनिया के आश्रम में पहुँच गया। उसके हर्ष की सीमा न रही। प्रकृति और समाज की एक अद्भुत समता के बीच में उसने अपने को पाया। रूढ़ि के वे पर्वताकार पुंज, घने जंगल जहाँ प्रगति अपना मार्ग नहीं निकाल सकती, गहरी और विशाल खाइयाँ—जिन्होंने भिन्नता और भेद को प्रश्रय दिया है, एकाएक सब उसकी आँखों से ओझल हो गये!

एक भारतमाता के पवित्र मातृत्व की छाया में बढ़ता हुआ वह कुटुम्ब! एक स्वर्गीय भाईचारा, जो सारे भारत में छा जाने के

लिए अपनी भुजाएँ फैला रहा था। आर्यावर्त्त के अनेक प्रांतों के विद्यार्थी वहाँ थे। भिन्न-भिन्न मतावलंबी, भाँति-भाँति के भाषा-भाषी, नाना प्रकार की सामाजिक स्थिति और वर्ग-भेद का भाव भूलकर एक नवीन अंतरप्रांतीयता का सृजन करने लगे थे।

वहाँ प्रत्येक प्रांत अपना-अपना बल एक-दूसरे को दे रहा था और उनकी आपस की संकीर्णता घुलकर एक राष्ट्र की शक्ति में बदल रही थी। मनुष्य मनुष्य की घृणा भूलकर, सब के भीतर रहनेवाली एक ही आत्मा की प्रतिष्ठा के पाठ पढ़ रहा था। सदियों की विदेशी शृंखलाओं में जकड़े हुए एशिया के दुर्बल राष्ट्र करवटें बदलने लगे, बंधनों की कड़ियाँ झनझना उठीं—टूट जाने के लिए।

"अपनी संध्या और अपना भोजन" यह सूत्र घर से लेकर चला था कुमार। उन दोनों बातों में अपने शुद्ध ममत्व का त्याग नहीं करेगा वह, ऐसा विचार था उसका। रेल-यात्रा ने उन दोनों की अव्यवहारिकता सामने रख दी। भोजन को स्वास्थ्यकर नियमों से संबद्ध करना तो कोई बात है, पर उसका संबंध धर्म से जोड़ देने में उसे कोई तत्त्व नहीं दिखाई दिया। सहयोगियों के साथ कर्म की एकता साधने के लिए सहभोज वांछनीय था। उसने समझा, वह इतने दिनों से एक झूठी श्रेष्ठता को जमा करता जा रहा था। जैसे पूर्व समय में घर-घर की भिक्षा से जमा हुआ अन्न व्रती के अहंकार का नाश कर उसे पवित्र करता था, वैसे ही समाज के प्रत्येक छोटे-बड़े अंग के साथ का भोजन भी उस झूठे पाखंड को नष्ट करने के लिए आवश्यक है। उसका वह झूठा दिखावा एक दिन के लिए भी नहीं चला। आश्रमवासियों ने उसे आते ही यह बात समझा दी थी।

उसकी अपनी संध्या। बहुत दिन तक वह उस छकड़े को

खींचता चला। आश्रम में दोनों समय समवेत प्रार्थना होती ही थी। वह सबसे पहले उठकर अपनी संध्या को पूर्ण कर फिर आश्रम की प्रार्थना में भी सम्मिलित हो जाता। इसके लिए किसी ने उसे टोका तो नहीं, परंतु स्वयं ही धीरे-धीरे उसके मन में एक दूसरी ही विचार-धारा आरा चलाने लगी।

वह विचारता—"मेरी इस संध्या का उद्देश्य क्या है? अपने व्यक्तित्व में एक विशेषता उपजाना ही तो। दूसरों से तुलना कर अपने को श्रेष्ठता देना ही—एक झूठा अहंकार! यह मानसिक जटिलता उत्थान के मार्ग में सहायक नहीं है।"

विचार का प्रवाह दूसरी दिशा बदलता—"राष्ट्रीयता अलग वस्तु है, व्यक्तित्व दूसरी। यह भिन्न शारीरिकता, संध्या से मैं इसकी इंद्रियों की सम्पन्नता साधता हूँ। तन और मन की दृढ़ इकाइयों से ही तो राष्ट्रीयता अधिक शक्तिशालिनी होगी।"

फिर दूसरी तरंग—"क्यों मैंने फिर संध्या और प्रभात में से काटकर ये कुछ क्षण अलग रख दिये हैं। क्यों नहीं पानी भरते समय, खेत खोदते समय, मैं इस भावना को जागता हुआ ही रक्खूँ? फिर समवेत प्रार्थना में तो सम्मिलित होता ही हूँ।"

इंजिन के बंद हो जाने पर जैसे गाड़ी कुछ दूर तक और चली चलती है, वैसे ही कुछ दिन तक कुमार की संध्या चली। फिर टूटी तो नहीं, समवेत-प्रार्थना में मिल गयी।

कुमार श्रमसहिष्णु भी था और उसके हृदय में श्रम के प्रति प्रतिष्ठा भी थी। चौके और संध्या के नियम पर स्थिर रहने के उपदेश के साथ उसने पिता से यह उपदेश भी पाया था—"काम कोई छोटा या बड़ा नहीं है।" इसके बराबर अभ्यास के कारण उसे आश्रम के जीवन में कोई कठिनता नहीं जान पड़ी।

चरखा कातने में उसकी बड़ी प्रीति थी। अपने हाथ के पकाये हुए भोजन की पवित्रता उड़कर अपने हाथ के कते हुए वस्त्र पर आ गयी थी उसके।

छूत और अछूत ये हमारी भावना में अंततः चिपके ही रहते हैं। कुमार ने मनुष्य की छूत न मानी, विदेशी वस्त्रों की माननी पड़ी उसे। विदेशी ही नहीं स्वदेशी मिलों को भी त्याज्य समझा उसने। क्या यह सच है बाहरी उलट-फेर से मानसिकता में कोई अंतर ही नहीं होता ? जिन वृत्तियों को लेकर हम उत्पन्न हुए हैं, वे एक उपादान से हटायी जायँ तो दूसरे में चली जाती हैं।

भोजनशाला में भी उसने सरलता और सात्विकता पायी। इञ्जिन में कोयला-पानी देने का समर्थक था वह। उसकी रसस्वादिकता की शिक्षा नहीं पायी थी उसने। उसने चौके में व्यक्ति की छूत नहीं मानी, परंतु उत्तेजक मसालों और गरिष्ठ भोजन घृणा की।

आश्रम के समस्त व्रतों की वह धार्मिक पवित्रता से रक्षा करता चला जा रहा था। उसने अपने समस्त पाखंड चूर-चूर कर भूमिसात् कर दिये थे। एक व्रत और था उसका, बड़े यत्न से हृदय में छिपाकर रक्खा था उसने। उसको अप्रकट रख सकने के कारण ही उसने उसे पाखंड नाम नहीं दिया। आश्रम का समस्त कार्यक्रम उस व्रत का सहायक जान पड़ा उसे।

वह उसके आजन्म अविवाह का प्रण था। एक दिन हृदय की अत्यन्त पवित्रता से भारतमाता को साक्षी बनाकर उसने उसका आचरण लिया था। उसकी पूर्णता की रक्षा में वह सदैव ही सतर्क रहता था। आश्रम के उस पवित्र वायुमंडल में वह सध जायगी, ऐसा उसका विश्वास था।

कुमार एक-एक कर अपनी समस्त अंध रूढ़ियों पर विजय

पाता हुआ चला गया था। उसने तुच्छ मनोवृत्ति में घेरनेवाले बड़े-बड़े प्राचीरों को तोड़कर गिरा दिया था। परन्तु एक बाधा बड़ी विशाल होकर उसपर आतंक जमाने लगी।

नारी समाज का पूरक अंग है। प्रवेश-द्वार पर उसके लिए 'पदार्पण निषेध' की पाटी लगाकर जब हमारी सामाजिकता नहीं बन सकती, तब क्या राख राष्ट्रीयता का निर्माण होगा ?

आश्रम में नारी बहिष्कृत नहीं थी। क्या सचमुच यह कुमार की दुर्बलता नहीं थी जो वह वहाँ उसके अभाव की कामना करता था। नारी जाति का द्वेषी तो नहीं था वह। महिलाओं के आदर्श, पवित्रता तथा अन्य उदार भावों के लिए उसके मन में आदर था। वह उन्हें प्रातः पूजनीय समझता था। केवल एक सनक उसके मन में समा गयी थी। जैसा वह पहले गाँव में मनुष्य की छूत मानता था, अब नारी की छाया बचाने लगा !

वह कहीं पर कुछ काम करता हो, यदि वहाँ पर कोई नारी आ जाय, तो फिर उसके क्रम में भारी बाधा पड़ जाती। सभा में यदि एक भी नारी हो, तो उसके मुँह से आधी बात भी नहीं निकलती थी। नारी उसके मार्ग में सामने से आती दिखाई देती, तो तुरंत ही अपनी दिशा बदल देता।

निश्चय यह कुमार की दुर्बलता थी। अपने मन की वश्यता नहीं मिली थी, उसे उसका अविश्वास था, तभी तो वह नारी की परिछाया से भागता फिरता था। यह बाधा उसके मन ही में थी जिसने बाहर के भ्रम में सचाई उपजा दी थी।

उसके चिरकौमार्य का व्रताचरण तो खुला नहीं किसी पर, हाँ नारी की यह चिढ़ सभी मित्रों की समझ में आ गयी। कुछ सहचारी इसे उसकी चारित्रिक निर्मलता समझने लगे और स्वभावतः कुछ ने इसे उसका कोरा पाखंड अनुमान किया।

चिढ़नेवाले को चिढ़ाने में बड़ा आनंद आता है। उसके साथी तरह-तरह के चक्र रचकर किशोर की इस दुर्वलता की प्रदर्शनी रच देते। कभी नारियों के बीच में उसे भोजन करने बिठा देते, कभी भाषण देने। कुमार बड़ी व्यथा से दिन काटने लगा।

परंतु जब से एक विदेशिनी महिला आश्रमवासिनी होकर वहाँ आयी, कुमार सोचने लगा—"अब कुशल नहीं है, अब आश्रम छोड़कर भाग जाना पड़ेगा, एक पराजित सैनिक की भाँति पीठ दिखाकर।" वह फिर विचारता—"यह तो कायरता ही नहीं, अपने प्रांत पर भी कलंक है!"

एक दिन उसने सोचा—"आश्रम की रीति-नीति का बहुत कुछ अनुभव हो चला है। क्यों न सब की आज्ञा लेकर यहाँ से चला जाऊँ और पहाड़ पर इसी आदर्श के एक आश्रम का संचालन करूँ?"

परंतु उसका यह विचार भी सफलीभूत न हो सका। आश्रम के अनेक शिक्षकों ने इस पर अनुमति नहीं दी।

आश्रम की अन्य महिलाओं और उस विदेशिनी में बहुत अंतर था। उनकी सामाजिकता एक प्रकार की थी, उसकी नितांत भिन्न। उनके शील और आचरण का तुलादंड कुछ दूसरा था, उसका कुछ और।

अद्भुत रहस्यमयी रमणी थी वह। तरुण अवस्था की थी और थी वह सुन्दर। जिस वातावरण में उसका लालन-पालन हुआ था, वह स्त्री और पुरुषों के भिन्न विभागों में बँटा हुआ नहीं था। जब से वह आश्रम में आयी, कुमार के प्राण संकट में पड़ गये।

कुमार के विनोदी मित्रों की बन आयी। कुछ ने उस विदेशिनी

को उसे चिढ़ाने का साधन बनाया और कुछ उसकी सहायता से उसके पाखंड को तोड़ने के चक्र रचने लगे।

आश्रमवासियों के बीच में अत्यंत लगन से काम करनेवाला, समय का सच्चा, अत्यंत लज्जालु और दृष्टि फिराकर कम-से-कम शब्दों में उससे बातें करनेवाला कुमार उस विदेशिनी के मन में विशेषता पा गया।

प्रत्येक आश्रमवासी उस विदेशिनी के साथ हँसता-खेलता उसकी सहचारिता पर आकृष्ट होता, उसके देश-विदेश के अनुभव बड़ी प्रीति से सुनता; परंतु कुमार जब देखो तब उसका मार्ग काटकर चला जाता। रूपगर्विता वह विदेशिनी इसे अपना घोर अपमान समझती। मन-ही-मन कहती—"कैसा अद्भुत यह युवक है। किस बात का इसे इतना अहंकार है। कभी एकान्त में पूछना चाहिए इससे।"

आश्रमवासियों में से एक ने कहा उस विदेशिनी से—"आप से चिढ़ता है यह।"

"विदेशिनी हूँ इसलिए क्या? पक्का स्वदेशी है तब। वस्त्र ही नहीं विदेश के प्राणियों को भी छूता नहीं!"

"नहीं, नारीमात्र से भागता है।"

"क्यों, कारण क्या है?"

"हम नहीं जानते।"

विदेशिनी हँसते-हँसते उछल पड़ी!—"बड़ा अद्भुत नमूना है। साइकोलोजिकल ट्रीट—मनोवैज्ञानिक अनुसंधान! मैं अवश्य इस नवयुवक की मानसिकता का विश्लेषण करूँगी। मैं नयी और पुरानी दुनिया के सभी महाद्वीपों में घूमी हूँ, ऐसा विचित्र जीव कहीं देखने में नहीं आया।"

"परंतु उसे तुम्हारी छाया भी सहन न होगी, कैसे उसपर कोई प्रयोग कर सकोगी ?"

"देखते जाओ, मैं उसे कैसा पालतू बना लेती हूँ ।"

कुछ मित्रों के मन-ही-मन आनंद के लड्डू बँटने लगे। उन्होंने विदेशिनी को उस बात पर और दृढ़ता धारण कराने को कहा—"कभी नहीं, आपकी सारी चतुराई धरी रह जायगी।"

"कौन कहता है ? मैं रजत-पट की नटी हूँ । चाहे जैसा रूप रख सकती हूँ।"

"क्या करेंगी आप ?"

"देखते जाओ। अभी बता देने से बात बिगड़ जायगी।" विदेशिनी ने नृत्य की भंगिमा पर अपनी कटि लचकायी और हाथ-पैरों को आकर्षक गति दी।

सब श्रोताओं के मन में एक अजीब कौतूहल उत्पन्न हुआ और यह विश्वास भी कि वह अपने काम में सफल हो जायगी।

आश्रम नवीन राष्ट्रीय शिक्षा के लिए नये प्रयोग कर रहा था। उस विदेशी शिक्षा-क्रम का सबसे बड़ा लांछन यही था कि केवल बाबू-वृत्ति के अतिरिक्त और कुछ प्रयोग ही न था उसका। युवक शिक्षित हो जाता था कहने मात्र को, परंतु वह अपने लिए स्वतंत्र रूप से जीविका का उपार्जन नहीं कर सकता था—जब तक कि किसी दफ्तर के द्वार न खटखटावे।

आश्रम के शिक्षा-क्रम में शिक्षा के साथ-साथ किसी-न-किसी उद्योग को भी सिखाया जाता था। गणित, इतिहास, भूगोल, साहित्य के साथ-साथ उसे हस्तकौशल में भी दक्ष बनाया जाता था। कताई सबके लिए अनिवार्य थी। विद्यार्थी की उच्च भावनाएँ सेवा की निःस्वार्थ वृत्ति पर जगायी जाती थीं। उसको प्रत्येक

घड़ी यही सोचना पड़ता था कि वह एक छोटे-से परिवार का अंग नहीं है, वरन् समस्त भारतीय राष्ट्र की इकाई।

सब मिलकर खेत खोदते थे, पानी भरते थे, नगर से सामान ढोते थे, चौका-बासन करते थे, खेलते-कूदते थे, पाठ तैयार करते थे, समाचारपत्र पढ़ते थे, लेख लिखते थे, भाषण देते थे, वाद-विवाद करते थे और समवेत होकर भगवान् की प्रार्थना करते थे।

आश्रम नगर से कुछ दूरी पर एक ग्राम के निकट था। वहाँ एक वकील साहब का उद्यान था पहले। वकील साहब राष्ट्रीय विचार के थे। नगर में उनकी अच्छी वकालत चलती थी। उदार और भलेमानस थे। वकील एक ऐसा व्यक्ति है जिसके एक ओर शासक और दूसरी ओर शासित रहता है। वह नगर और ग्राम की संधि है। उसका आंदोलनकारी किसान ने भी भरोसा किया और उसकी न्याय-नीतिज्ञता का सरकार को भी विश्वास था।

उपरोक्त वकील साहब अच्छा पैसा कमाते थे, इन्हें जीविका की कोई चिन्ता न थी। उनके पास अतिरिक्त समय भी था जिसका सदुपयोग राष्ट्र की सेवा के लिए करने से वह न चूके।

उन्होंने वह उद्यान ही आश्रम के लिए नहीं दिया, प्रत्युत उसकी सारी योजना बनायी। स्वयं धन की सहायता देकर उसमें के टूटे मकान की मरम्मत करायी, उसमें अतिरिक्त कमरे जोड़कर उसे विद्यालय के योग्य बनाया। ग्राम और नगर में स्वयं घूम-फिर कर छात्रावास के लिए चंदा एकत्र किया।

वकील साहब उस आश्रम के प्रवर्त्तक और संरक्षक थे। जब कभी किसी चुनाव के लिए वकील साहब का प्रचार किया जाता, तब उस आश्रम का नाम भी उनके साथ जोड़ा जाता और जब कभी आश्रम अर्थ-संकट में पड़ जाता, तब वकील साहब ही उसकी नैया पार लगाते थे।

वकील साहब विशेष अवसरों पर ही आश्रम में जाते थे। राष्ट्र की कार्यकारिणी समितियों में, सरकारी विधान-परिषदों से उन्हें कम अवकाश रहने लगा था। आश्रम का सारा संचालन उन्होंने तीन व्यक्तियों पर छोड़ रक्खा था। उनमें प्रधानता दे रक्खी थी मंत्री को। मंत्री महोदय पढ़े-लिखे ग्रेजुएट थे, देश के लिए सरकारी नौकरी को लात मारकर आये थे। सुलझे-संस्कृत विचार के थे, हँसमुख-विनम्र स्वभाव था उनका. अपने ही हाथ के कते हुए वस्त्रों के सीधे-सादे वेश में वह रहते थे।

मंत्री महोदय के अधीन आश्रम के दो मुख्य विभागों के संचालक थे। साहित्य-विभाग के संचालक की पदवी थी मुख्याध्यापक की। वह छात्रों की पढ़ाई-लिखाई, अध्ययन-अभ्यास, शील-सौजन्य, दंड-पुरस्कार और परीक्षा तथा उत्तीर्णता के उत्तरदाता थे और शिल्प-विभाग के मुख्य संचालक महोदय प्रबंधक कहे जाते थे। वह समस्त उद्योगशालाओं के कार्य के संयोजक थे। खेती-बारी तथा चौके-चूल्हे के प्रबंधक भी वही थे। आश्रम के वेतन-मजूरी, रुपए-पैसे का लेन-देन आदि कार्य भी उन्हीं के निरीक्षण में होता था।

वह विदेशिनी एक विचित्र पहेली-सी थी उस आश्रम के वायुमंडल में। कभी इधर दौड़ती, कभी उधर नाचती। कभी नीम की छाया के नीचे पड़कर किताब पढ़ती, कभी आम के पेड़ पर झूला झूलती और भाँति-भाँति के गीत गाती। कभी खेत खोदती, पौधों को सींचती, कभी चरखा कातने लगती और कभी-कभी छोटे बालकों को जमाकर उन्हें नृत्य-कला की शिक्षा देती।

बड़ी चपलता समायी हुई थी उसके जीवन में। सतत चंचल केवल वायु-तत्त्व की ही बनी जान पड़ती थी वह। भय का नाम भी नहीं जानती थी वह। ऊँचे से ऊँचे पेड़ पर हँसती-गाती चढ़

जाती और श्रावण की परिपूर्ण-सलिला यमुना में कूदकर घंटों तैरा करती थी।

यह बात झूठी नहीं थी कि वह पहले हॉलीवुड में एक नर्त्तकी के रूप में रह चुकी थी। वह प्रथम श्रेणी की तारिका न हो, तीसरी श्रेणी की भी न थी। रूप, स्वर और हाव-भावों का आकर्षण जन्म-जात था उसके। यह आश्चर्य की बात थी, आयु की अपरिपक्वता में ही क्यों वह उस इंद्रलोक के विलासों को छोड़कर शुष्क धरती पर चली आयी! शुष्क धरती में भी क्यों उसे भारतीय दासों की भूमि ने आकृष्ट किया!

कहते हैं, उस विलास के आवास में एकाएक वैराग्य ने उसके हृदय पर अधिकार कर लिया। उस भूमि की कृत्रिमता पर वह ऊब उठी। उस नृत्य-नगरी के सारे कार्य-कलाप में उसे एक प्रतारणा दिखाई दी, उसके गीत-वाक्यों में हाहाकार के आख्यान मुखरित थे, उसकी चहल-पहल, चमक-दमक केवल बाहरी थी। वह एक छल-कपटहीन जीवन का लक्ष्य खोजने लगी। वह स्थायी शांति के लिए विकल हो उठी। अपने लक्ष्य के लिए जीवन की सरलता की ओर बढ़ चली।

कुछ लोगों ने अनुमान किया था, उसके उस सहसा मानसिक परिवर्तन का कारण उसके प्रेम की पराजय थी। वह जिस व्यक्ति से विवाह करना चाहती थी, उसने उसे बराबर धोके में रखकर अंत में एक दूसरी कुमारी से विवाह कर लिया।

और पहले-पहल कुछ लोगों की यह धारणा भी प्रबल हुई थी की वह विदेशी राज्यों में से किसी की कोई गुप्तचरी है। परंतु देश के जिन बड़े-बड़े नेताओं के परिचायक पत्रों को लेकर उसने आश्रम में प्रवेश किया था, उनपर कोई शंका नहीं हो सकती थी।

आध्यात्म की क्रीड़ा-भूमि भारत ने उसका ध्यान खींचा। वहाँ

कोई साधु-संन्यासी उसके भीतर, विना किसी कठिन श्रम के ही आत्म-ज्योति जगा देगा। ऐसी उसने एक धारणा बना ली थी। उसने अपने वेश-शृंगार, रहन-सहन के समस्त उपकरण ले-दे, बेच-बाच कर सब बराबर कर दिया। कुछ रुपया उसका बैंकों में जमा था, उसी के सहारे वह साधारण नित्य की आवश्यकता का सामान लेकर जहाज पर विश्व-यात्रा के लिए चल दी।

उसका लक्ष्य इस बात का अनुसंधान था कि संसार में शांति सबसे अधिक कहाँ पर है और क्यों है? घूमते-घूमते वह भारतवर्ष में आयी—गाँधीवाद के संपर्क में। उसे विश्वास हुआ, शांति त्याग में है, सभ्यता एक बंधन है और साइंस उसकी जटिल ग्रंथियाँ। उसने अनेक नये और पुराने पश्चिमी दार्शनिकों के मत भी संग्रह किये थे। भारतीय तत्व ने उस मत की भी पुष्टि की थी।

भारतवर्ष में चिरशांति के लिए उसे जीवन की सरलता और कर्म की लोक-सेवा का मंत्र दिया गया। नगर के संघर्ष से दूर उस आश्रम में इस तत्त्व की शोध करने के लिए वह भरती हुई।

रंग-विहीन एक श्वेत खद्दर की साड़ी उसने अपने आवरण के लिए स्वीकार कर ली। निरामिष और मसालों से विहीन भोजन पर वह चलने लगी। आश्रम के सभी कार्यक्रमों में वह भाग लेती थी, पर स्वेच्छा से—बंधन कुछ नहीं था उसके लिए।

छात्रावास से दूर एक अतिथि-गृह था। उसके ऊपरी भाग में सपरिवार मंत्री महोदय रहते थे। नीचे चार सेट् थे, उनमें बहुधा अतिथि-नेताओं के परिवार आकर कुछ दिन के लिए ठहरते थे। एक सेट् उस नट-योगिनी के रहने के लिए दे दिया गया था।

नट-योगिनी? केवल उसके भोजन और वेश में ही उसके वैराग्य की कुछ झलक दिखाई देती थी। स्वभाव की विलासप्रियता चली गयी हो उसके, नृत्य की चपलता नहीं गयी थी। शृंगार छोड़

दिया था उसने, सुंदर की कल्पना ज्यों-की-त्यों छिपी हुई थी उसमें। षट्रस छोड़ दिये थे उसने, रसात्मकता विद्यमान थी उसमें। स्वरों के आरोह-अवरोह भरे उसके वाक्यकलाप, काव्य का माधुर्ययुक्त उसका कार्य-कलाप और नृत्य की भंगिमा लिये उसकी गति-विधि को देखकर साधारण मनुष्य का उसे गुप्तचरी समझ लेना स्वाभाविक ही था। अनेकों ने उसकी चपलता को कलात्मकता का सुनाम दिया। आश्रमवासी उसे नट-योगिनी के नाम से पुकारने लगे।

संध्या हो जाने पर नट-योगिनी को अतिथि-निवास का अपना कमरा छोड़ने की आज्ञा नहीं थी। संध्या की समवेत प्रार्थना के पश्चात् वह अपने कमरे में चली जाती। रात का भोजन उसका वहीं पहुँचाया जाता था। प्रभात का भोजन सबमें मिलकर ही वह भोजन-शाला में करती थी। रात को उसके साथ के लिए एक कहारिन उसके कमरे की भूमि पर अपनी शय्या बिछाती थी।

एक सर्वथा भिन्न वातावरण में पली उस कन्या के लिए यह एक बंधन था, जो आरंभ में तो अत्यंत ही असह्य हो उठा था। फिर उसके देश की रात्रियाँ ही तो जीवन की सबसे सुंदर और चमक-भरी रातें थीं! इसपर वह हॉलीवुड की तारिका! भरे दिन में भी तो उसे चमकाने के लिए स्टूडियो के काँच ढककर अँधेरा करना पड़ता था।

दिन भर आश्रम में हँसते-खेलते परिश्रम करती हुई वह अपने जीवन की उदासी भुला रखती थी। रात्रि के अंधकार में, बिजली के उद्भासित कक्षों की अभ्यासिनी वह बाला, सरसों के तेल की क्षीण ज्योति में अपने को उस छोटे-से कमरे की बंदिनी समझती थी। कभी उसको वह अपनी वैराग्य-साधना एक बोझ-सी जान पड़ती। परंतु वह नटी, भाँति-भाँति की भूमिकाएँ खेल चुकी थी,

एक नयी भूमिका को विना पूरा किये भाग जाना कायरता समझती थी।

वह विचित्र स्वभाव का आश्रमवासी कुमार उसकी साधना का मुख्य केन्द्र बना। न जाने क्या वस्तु थी, नट-योगिनी उसकी ओर खिंचती चली। वह जितना कुमार की ओर आकर्षित हुई, वह उतना ही भागने लगा उससे।

दोनों के मस्तिष्क में एक-सा एक विचार था। वह प्रश्न था वैवाहिकता का। कुमार के मन में वह त्याग के व्रत के रूप में था और नट-योगिनी के निराशाजन्य घृणा। इसीलिए कदाचित् मन में एक ही विचार होने पर भी दृष्टिकोणों की भिन्नता ने उनमें मैत्री स्थापित न होने दी।

रात को उस एकांत कमरे में नट-योगिनी सोचती—"मैं चिर शांति की खोज में जन्मभूमि से इतनी दूर आयी हूँ। इस युवक ने मेरा ध्येय भुला दिया है। जब कभी इससे मेरी भेंट होती है, तब यह अत्यंत घृणा-भरी दृष्टि से मुझे देखता है और ऐसा भय प्रकट कर भाग जाता है, मानो मैं कोई विषभरी सर्पिणी हूँ। वह विना मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये ही चला जाता है। क्यों वह शिष्टाचार के साधारण नियमों की उपेक्षा कर जाता है? नहीं, वह इतना असभ्य तो नहीं है। जब कभी जो कुछ भी वह मुझसे बोला है, बहुत शुद्ध अंगरेजी में। फिर मैं क्यों उसे यह आक्षेप दूँ?"

वह पुस्तक उठाकर पढ़ने लगती। उसमें भी उसका मन न लगता। पंक्तियों के बीच में कुमार प्रकट हो उठता रह-रहकर। नट-योगिनी पुस्तक बंद कर देती।

आधी-आधी रात में वह सिहर उठती। द्वार खोल बाहर जाने लगती।

दासी भी शब्द सुन जाग उठती—"कुमारीजी बाहर कहाँ जाने लगीं ?"

"भीतर और बाहर न जाने क्यों इन दो भागों में तुमने भारत को बाँट दिया है। सारा बाहर-भीतर एक है। चार दीवारें उठाकर, तुम उसे धरती से काट नहीं सकतीं और न उसका नाम ही भीतर रख सकती हो। जा रही हूँ—मुक्ताकाश के नीचे खुली धरती पर, तारात्रों के अधिकार में निशा का सौंदर्य देखने के लिए।"

"यह भी कोई बात हुई !"

"तुम भी चलो। देख लोगी तो उसे सार्थक समझोगी क्यों नहीं ?"

"तुम्हारा साथ करने को क्या ?"

"नहीं, मुझे साथ क्या चाहिए ? तुम्हारी अपनी रस-जिज्ञासा के लिए।"

'रस-जिज्ञासा"—यह शब्द न आया दासी की समझ में; परंतु उस शब्द की ध्वनि ने उसे आभास दिया, वह कोई बुरा शब्द न था। वह बोली—"मुझे तो नींद लगी है।"

"कदाचित् कामना की ज्योति नहीं जलती है तुम्हारे हृदय में। उसका सबल होना ही उसकी श्रेष्ठता है।"

"दिन भर के काम से कमर टूट जाती है।"

"क्या मैं तुम से कम काम करती हूँ ? खेत, नदी, पाठशाला में भी, पाक, पाठ, सभा और प्रार्थना-गृह में भी। जहाँ तुम्हारा पथ और गति नहीं है, वहाँ भी ?"

"तब सो रहो बहन ! वृथा झगड़े बढ़ाकर करना क्या है ? सो रहो। नींद माता की गोद समान शांतिदायिनी है। अभी

तुम्हारा नया रक्त है, कुछ समझ नहीं पड़ता। मेरी अवस्था छू लोगी, तो पता लग जायगा।"

"श्रांति ? केवल एक नाम है। मैं एक,काम की श्रांति को दूसरे काम से मिटा देती हूँ। इसी से मेरी चपलता है। चपलता ही जीवन है, जीवन ही नहीं उसका प्रकाश-पुंज यौवन है। तुम भी तो कभी चपल थीं न ?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"यह तुम्हारी शिक्षा का दोष है।"

"भाग्य का कहो।"

"नहीं मानती यह बात। यदि तुम्हें मेरा शब्द मान्य नहीं है, तो तुम्हारा भी उपयुक्त नहीं है। भाग्य वह शब्द है जिस धूमिल आवरण में तुम एशियावालों ने अपने पुरुषार्थ को ढक रखा है। तुम्हारी यह राज-प्रणाली कही जा सकती है उत्तरदाता।"

"अंगरेज के राज में तो सिंह और बकरी एक ही घाट में पानी पीते हैं।"

"देखा भी है कभी ?"

"हाँ एक सरकस आया था, उसमें सभी ने देखा, अकेली मैंने नहीं।"

नट-योगिनी हँस पड़ी—"तुम कैसे प्राणी हो, तुमसे अच्छे तो हमारे यहाँ के खिलौने और गुड़ियाँ हैं।"

"एक बात बता दो बहन! ग्रामोफून के भीतर आदमी के गले की कुछ नसें लगायी जाती हैं, क्या सच है ?"

वह फिर ठहाका मारकर हँसने लगी—"तुम बात को बहुत दूर ले चली हो—मायावाद में। वह तुम्हारी समझ से परे है। उसे झूठा समझकर छोड़ दो। इस सिरे पर पूर्व की दार्शनिकता है,

उसे ही कैसे समझोगी। साइंस की कुंजी गणित है, दर्शन की क्या मैं नहीं जानती। सो रहो, तुमने इस निशा के जागरण में मेरे भ्रम भी उपजा दिया! सुनो तुम दिन भर काम नहीं करती हो, मन में श्रांति का भार जमा करती हो। निरंतर के इन विचारों ने तुम्हें श्रांति, नींद और रोग की सहचरी बना दिया! सो रहो। मेरी रात जागने के लिए है। मैंने तुम्हारी गीता में पढ़ा है—"संयमी रात में जागता है।"

"कोई भी नहीं जागता। ऊपर मंत्रीजी सो रहे हैं। आश्रम में समस्त उसकी जन-संख्या, गाँवों में किसान, धरती पर जानवर और घोंसलों में पक्षी। कुमारीजी, तुम भी सो रहो। रात में केवल भूत जागता है और जागते हैं भय।"

"मैं दूसरे बिंदु से सोचती हूँ। जागती है निर्भयता और प्रकृति के रहस्य। तारे धरती के अंधकार से बातें करते हैं उस समय, मैं सुनकर समझूंगी उसे।"

"मैं कुछ भी न समझ पाऊंगी। तुमने अभी-अभी हमारी भाषा सीखी है। कुछ तो वह समझ में नहीं आती और कुछ न जाने क्या?"

नट-योगिनी ने खुले द्वार फिर बंद कर दिये, वह अपनी शय्या की ओर बढ़ने लगी।

"क्यों? क्यों?" दासी ने सिर उठाकर पूछा।

"कुछ नहीं, कहीं न जाऊंगी आज। अब से बड़े धीरज और कौशल से सिटकनी खोलूँगी कि तुम्हारी नींद न खुले। मैं निशा की शून्यता में अपने चापों की ताल न दूंगी, मैं पवन के मंडल में अपनी साँस की टक्कर न दूंगी। जिस रात तुम जाग न सकोगी, वही मेरा दिन होगा।" नट-योगिनी शय्या पर चली गयी।

उधर कुमार भी संशय-त्रस्त रहने लगा आठों पहर ! दिन का श्रम और रात की श्रांति दोनों कलुपित होते जान पड़े उसके। आश्रम के अधिकारी उससे कहते थे कि उसे मन लगाकर अपना शिक्षा-क्रम पूरा कर ही जाना उचित है।

कुमार ने अपनी व्यथा किसी पर प्रकट नहीं की। आश्रम-वासी समझते, यह पहाड़ी पक्षी ठंडे जलवायु का अभ्यासी, हो-न-हो मैदान पर की गरमी से घबरा उठा है। परंतु बात यह न थी। मैदान पर गरमी की तीव्रता है, तो पहाड़ पर क्या शीत की ठरन नहीं है ? दोनों सिरे समान हैं !

कुमार एकांतप्रिय था पहले। श्रम और अभ्यास के घंटों में से अवकाश निकालकर वह अपने विचारों को साथ लेकर बहुधा कल्पना में व्यस्त रहता था। नट-योगिनी ने उसका एकांत छीन लिया। कुमार जब कभी एकांत में रहना चाहता, नट-योगिनी अपने प्रवेश से उसे तोड़ देती और न जाने क्या-क्या बड़बड़ाना आरंभ कर देती। कुमार अपने कानों में उंगलियाँ कोंच लेता और अन्य आश्रमवासियों की संगति में चला जाता।

कुमार का दृढ़ निश्चय हो गया, नट-योगिनी अपने उद्देश्य में निर्मल नहीं है । साक्षी उसे यद्यपि कुछ मिली नहीं थी, केवल अनुमान था ऐसा। उसका विचार था, न-जाने किस समय नट-योगिनी अपने आकर्पण से, उसे उठाकर पतन की ओर फेंक दे।

वह सोचता था—"आश्रम के ऐसे पवित्र वायुमंडल में अधिकारियों ने क्या समझकर इस कन्या को स्थान दिया होगा ? जीवन की आध्यात्मिकता उसका केवल एक बहाना है। मुझे इस चित्र की पीठ पर कुछ दूसरा ही दृश्य दिखाई देता है।"

वह नट-योगिनी की चपलता को उसका सहज स्वभाव नहीं समझता था। एक स्वतंत्र देश की सह-शिक्षा, सह-दीक्षा और सह-कारिता की उपज, उसे मान लेने का तैयार न था। उसकी

आंखों में उसे एक आकुल तृष्णा दिखाई देती—जिसकी दिशा रागमयी थी, वैराग्यमयी नहीं।

"लोग लाख कहें यह गुप्तचरी नहीं है,"—कुमार अपने विश्वास को दृढ़ करता—"यह गुप्तचरी से भी भयानक है। हमारे सत्य और अहिंसा के आंदोलन में छिपाकर रक्खा ही क्या गया है? जो है, वह सभी के सामने प्रकट है। न हमारे अंतर्भौमिक कोई बम फैक्ट्री ही है, न कोई संकेत-प्रवेश के षड्यंत्र। परंतु यदि यह मेरे व्रत को तोड़ने में समर्थ हो गयी तो फिर मैं उस पराजय पर अपना मस्तक न उठा सकूंगा कभी जीवन भर।"

"उसका दर्शन उचित नहीं, उसके साथ के वार्तालाप में मुझे भय है और जब वह कभी अचानक कहीं से आकर मुझे घेर लेती है तब मुझे अपने प्राण बचाना कठिन हो जाता है। हे भगवान्! क्या करूँ? कहाँ जाऊँ?"

एक दिन की बात है। मंत्री, मुख्याध्यापक, प्रबंधक तथा और भी अनेक शिक्षकों के साथ आश्रम के छात्रों का अधिकांश किसी नेता के स्वागत के लिए आगरा दुर्ग स्टेशन पर गया था। कुछ छात्र पाकशाला के प्रबंध में लगे थे और कुछ आश्रम के भवनों की साज-सज्जा ठीक कर रहे थे। कुमार दो अन्य छात्रों के साथ मुख्य प्रवेश-द्वार का फूल-पत्तियों, चित्र-वाक्यों और ध्वजा-तोरणों से शृंगार कर रहा था।

कुछ सुतली कम पड़ गयी थी। एक साथी आश्रम के भंडार से सुतली लेने और दूसरा पानी पीने चला गया। और दिन होता, तो कुमार कदापि उस फाटक पर अकेला न रह जाता। उस दिन उसने सुना था, नट-योगिनी के पैर में कुदाल से चोट लगी है और पट्टी बाँधकर अतिथि-शाला में बंद है।

"स्वागतम्" के अक्षर कागज पर काटकर एक कपड़े पर

चिपकाये गये थे। कुछ अक्षर चिपके नहीं थे, जैसा चाहिए था। कुमार उनमें फिर से लेई लगाकर उन्हें ठीक कर रहा था।

उसकी दृष्टि बचाती हुई नट-योगिनी कुमार के पास तक चली आयी थी। बिलकुल निकट पहुँचकर उसने कुमार के कंधे पर हाथ रखकर पूछा—"क्या लिखा है इसमें कुमार ?"

कुमार चौंक पड़ा ! काम छोड़कर उठ गया। वह जाने लगा।

नट-योगिनी ने उसका हाथ पकड़ लिया—"जाने नहीं दूँगी।"

"हाथ छोड़ दो।"

"नहीं छोड़ूँगी।"

"मेरे आदर्श को चोट पहुँच रही है।"

"क्या है तुम्हारा आदर्श ?"

"यह सुन्दरी नारी का स्पर्श—"

"तुम ब्राह्मण के बेटे हो। यह विधर्मिणी का स्पर्श तुम्हें अपवित्र कर देगा। परंतु आश्रम की नियमावली में छूत और अछूत ये दो संज्ञाएँ नहीं हैं। तुमने आश्रम में भरती होते समय क्या यह प्रतिज्ञा नहीं ली ? हाथ न छोड़ूँगी, जब तक मेरे समस्त प्रश्नों का उत्तर न दोगे तुम।"

"तुम्हारी छूत कहाँ मानता हूँ मैं ? बराबर तुम्हारी पंक्ति में बैठकर खाना खाता हूँ। हाथ छोड़ दो।" कुमार ने दृष्टि फिराकर कहा।

"मेरे मुख की ओर दृष्टि करो। तब यह हाथ छुड़ाने पर क्यों तुले हो, जब छूत नहीं मानते तो ?"

"नारी का स्पर्श ! युवती नारी का स्पर्श ! सुंदरी युवती नारी का स्पर्श ! मुझे कलुषित कर देगा !"

"नारी का स्पर्श कैसे कलुषित कर देगा तुम्हें ?"

"मेरा व्रत तोड़ देगा वह।"

"क्या है तुम्हारा व्रत ? लोक-सेवा ही तो न ?"

"हाँ, उसके अतिरिक्त भी कुछ।"

"क्या है वह ?"

कुमार इस बार पूरी शक्ति लगाकर हाथ छुड़ाने लगा।

"देखो बहुत शक्ति-प्रयोग न करो, नहीं तो मैं हल्ला कर आँधी उठा दूँगी कि यह युवक मेरे शील पर आक्रमण कर रहा था।"

"हाथ छोड़ दो।" कुमार ने घबराकर कहा—"मैं भागूँगा नहीं।"

"दृष्टि मेरी ओर करो। न भागोगे ?"

"भाग कैसे जाऊंगा ? संध्या समय तक स्वागत के लिए यह फाटक तैयार कर देना है। देर हो रही है।"

"इसकी कुछ चिंता मत करो। मैं पूरी सहायता देकर अभी इसे बना दूँगी। मेरे केवल एक प्रश्न का उत्तर दो, हाथ छोड़ दूँगी।"

कुमार सोच रहा था—"उसके वे दोनों साथी कहाँ अदृश्य हो गये ? क्या यह षड्यंत्र पूर्वनिश्चित था ?" उसने आधी-आधी आँखों से उसकी ओर देखकर पूछा—"क्या है तुम्हारा प्रश्न ?"

"तुम मुझसे क्यों भागे-भागे फिरते हो ? मैं इसे अपना अपमान समझती हूँ। तुम क्यों मेरे जगत् के टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहते हो ?"

कुमार ने कहा—"तुम मुझे देवी की भाँति मान्य हो।"

नट-योगिनी ने उसका हाथ छोड़ दिया—"फिर तुम भागते क्यों हो मुझसे ? क्या यही मेरी पूजा है ?"

कुमार को कह देना ही पड़ा—"मेरा एक व्रत है।"

"क्या है वह?"

"मैंने आजन्म अविवाहित ही रहने का विचार किया है।"

"तो फिर मुझसे बात कर लेने में तुम्हें क्या हानि पहुँचती है? तुमने क्यों नारी से घृणा आरंभ की?"

"अविवाहित रहना क्या नारी से घृणा का सूचक है? सुनता हूँ, तुम्हारे हृदय में भी मनुष्य से घृणा है। तुम्हारा भी तो कुमारी रहने का विचार है?"

"यह झूठा भ्रम है तुम्हारा।" नट-योगिनी ने फिर उसका हाथ पकड़ लिया।

"कोई आ जायगा, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ। छोड़ दो।"

"क्या हो जायगा, कोई आ जायगा तो? अछूत कोई नहीं है!"

कुमार बड़ी कठिनाई में पड़ गया। वधिक के घेरे में पड़े हुए पशु की भाँति उसकी दशा हो गयी थी। उसने अधीर होकर कहा—"यह फाटक तैयार करना है।"

"अच्छा, प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे देखकर अब से न भागोगे।"

बड़ी भयानक वह कुमार को दिखाई देने लगी। वह सोचने लगा—"यह नट-योगिनी नहीं है—बाघिनी-सी है। अवश्य मुझे खा जायगी।" कुमार ने पहले अपने मन में निश्चय किया कि अब इस आश्रम से भाग जाना चाहिए। फिर कहा—"नहीं भागूँगा तुमसे।"

नट-योगिनी प्रसन्न होकर उसका हाथ छोड़ फाटक को पूरा करने में उसके साथ लग गयी। उसके दोनों साथी भी सुतली लेकर लौट आये। कुमार मन में सोच रहा था—"बड़ी भयानक

है यह। यदि मैं इसकी इच्छानुसार नहीं चलता हूँ, तो यह मेरी झूठी बदनामी फैलाकर मुझे आश्रम की दृष्टि में पतित कर देना चाहती है।" उसने निश्चय किया— "झूठी बदनामी से डरना नैतिक दुर्बलता है।" पर वह एक प्रतिज्ञा कर चुका था।

रात को हारा-थका वह विश्राम के लिए छात्रावास में अपने कमरे में गया। घर से आये हुए उसे दो महीने हो गये थे। उसने अपना कुशल शंकर को तो दे दिया था, परंतु पिता को अब तक कोई पत्र नहीं लिखा था। उसने रामायण की पुस्तक निकाली, उसके भीतर एक डाकखाने का कार्ड रख छोड़ा था।

घर की स्मृति से वह विकल हो उठा। रह-रहकर माता-पिता के स्नेह-बंधन की याद कर उसके आँसू भर आये। उसने कार्ड निकालने को पुस्तक खोली।

फ्लाई लीफ पर कुछ न जाने किसने लिख दिया था। कुमार ने उसे पढ़ा, अंगरेजी भाषा में था। अर्थ यह है—"भगवान प्रेम है।" दूसरी पंक्ति में भी कुछ लिखा था जो इस कौशल से कटा था कि पढ़ा भी जा सकता था। उसका अर्थ था—"मैं तुमसे प्रेम..."

कुमार ने निश्चय किया, वे उसी के अक्षर थे। वह मन में कहने लगा—"वह कब लिख गयी! इस पुस्तक को मैं बाहर नहीं ले जाता। निश्चय उसने यहीं आकर यह लिखा।"

कुमार ने तुरंत ही घर को पत्र लिखा। पिता से क्षमा-याचना की और आश्रम में अपनी प्रगति का उल्लेख किया। शीघ्र ही छुट्टी माँगकर घर आने की बात का भी संकेत दे दिया।

दीपक बुझाकर कुमार सो गया। वर्षा ऋतु समाप्त होने को थी। उसके अनेक साथी बरामदे में सो रहे थे। जो दो-चार कमरों में विश्राम करते थे, वे खिड़की और प्रवेश के द्वारों को

खुला रखकर ही। कुमार द्वारों पर सिटकनी चढ़ाकर सोता था और कभी-कभी लोहे की छड़ें लगी हुई खिड़की को भी नहीं खोलता था।

विचारों के भारी उथल-पुथल ने उसकी पलकें नहीं लगने दीं। वह करवटें बदलता रहा। आश्रम से उसके पैर उखड़ चले थे। उसके सामने अब प्रश्न यही था—"वह जाय कैसे?"

राष्ट्रीय शिक्षा के मूल तत्त्व को ही नहीं, वह उसके योजना-क्रम को भी बहुत कुछ समझ गया था। उद्योग और शिल्प जो पूरक अंग था उस शिक्षा का, निश्चय ही उसके व्यावहारिक ज्ञान में वह अधूरा था। कुमार को विचार आया—"मुख्य बात आश्रम के प्रबंध-ज्ञान की है। उद्योग की शिक्षा के लिए शिक्षक रक्खे जा सकते हैं।"

इस तथ्य को लेकर कुमार दूसरे दिन आश्रम के अधिकारियों से बातचीत कर उन्हें सम्मत कर लेने के स्वप्न देखने लगा। परंतु नींद? ... नींद नहीं आयी उसे। पलकें बरबस मिलाकर रख छोड़ी थीं उसने।

खिड़की पर खट-खट के शब्द सुने उसने। अनुमान किया --"हवा होगी।" फिर वही नपी-तुली धीर-मंद्र खट-खट-खट! कुमार ने आँखें खोलीं। काँच की बंद खिड़की पर, बाहर के क्षीण प्रकाश में परिलक्षित किसी के उत्तरांग की छायाकृति! आँखें खोल कुमार उठ बैठा शय्या पर।

फिर वही खट्-खट्! उस छायाकृति के कंधों पर लहराता हुआ मुक्त कुंतल-जाल! पहचाना कुमार ने—"यह तो नट-योगिनी है।"

"कुमार! कुमार!" की फुसफुसाहट में वह पुकार रही थी।

वह पुकार जितनी ही धीमी थी, उतनी की कर्कशता से काँच को तोड़कर उसके हृदय को बिंधती जान पड़ी उसे। वह उठ गया।

"खिड़की खोलो कुमार! तुम्हें गरमी नहीं जान पड़ती? उस बासी हवा में कैसे साँस ले रहे हो?"

कुमार खिड़की के पास आ गया जब, तब सोचने लगा—"मैं पड़ा ही क्यों न रह गया? कुछ देर के पश्चात् यह निराश होकर स्वयं ही लौट जाती।"

"खोलते क्यों नहीं?" कुमार को उठ गया जानकर उसको धीरज हो गया था।

"निशा के अंधकार में तुम कौन हो?—" अजान बनकर कुमार ने पूछा—"लोहे की छड़ों से इस खिड़की पर का प्रवेश रोक दिया गया है—फिर तुमने क्यों उसी को चुना है?"

"बाहर आओ कुमार!"

"क्या अर्थ है तुम्हारा?" कुमार ने खिड़की खोलकर पूछा।

"यमुना में नौकाविहार करेंगे।"

"पगली हो गयी हो क्या? नदी में बाढ़ है।"

"होने दो। हृदय की निर्भीकता से उसे जीत लेंगे।"

"डूब जावेंगे!?"

"साथ ही तो। मृत्यु अकेली डरावनी है, जब हम एक-दूसरे के साथ होंगे, तब कुछ भी भय नहीं है।"

"तुम्हें यह आत्महत्या प्रिय हो सकती है, मुझे तो नहीं। जीवन के ऋण के लिए यह शरीर माता के पास धरोहर रक्खा है। मेरा क्या वश है इस पर!"

"जो एक के लिए प्राण-विसर्जन नहीं कर सकता, वह राष्ट्र की वेदी पर बलिदान नहीं चढ़ा सकता। सो जाओ कुमार, केवल तुम्हारी परीक्षा ले रही थी।"—कहकर अपनी स्वाभाविक चपलता में अंतर्धान हो गयी नट-योगिनी।

उस अर्द्धरात्रि की शून्यता में, वृक्षों की तामसी हरीतिमा के ऊपर तारे चमक रहे थे कहीं-कहीं पर। खिड़की का द्वार पकड़े-पकड़े कुमार ने सोचा—"अंधकार और भय की सीमाओं में भी निर्बंध यह कैसी भावुकता है? नियम के अपवादों में घिरी हुई यह कैसी शील-सौजन्यता है, कैसी मुक्त सामाजिकता है?" कुमार ने धीरे-धीरे खिड़की बंद की—"पैर की चोट की भी कोई गणना नहीं की इसने!" वह शय्या पर चला गया। उसकी उचट गयी नींद फिर न लगी। वह आधी जागृति और आधे स्वप्न में विचारता रहा—"संभव है, नट-योगिनी अपने कार्य-कलाप में निर्दोष हो सकती है। और यह मेरे मन का दोष है जो जाग रहा है। हम दोनों में से किसी एक को यह आश्रम छोड़ ही देना पड़ेगा।"

कुमार ने नट-योगिनी से जो प्रतिज्ञा की थी, वह उसे बड़ी भयानक भूल जान पड़ी। वह प्रतिज्ञा कैसे निभायी जा सकेगी? एक प्रकाश-सा उसके मन में जाग उठा। उसने जागृति के स्वप्न में अपने मन के भीतर देखा—"अनंत-सलिला यमुना में कुमार नट-योगिनी के साथ नौका-विहार कर रहा है। आकाश में रात, पवन में आँधी और नदी में बाढ़ थी। नट-योगिनी का आग्रह था—दोनों साथ-ही-साथ डूब मरेंगे। कुमार ने निश्चय किया, आत्महत्या पाप है। मैं क्यों मरूँ?"

कुमार शय्या त्याग कर उठ खड़ा हुआ। उसने दीपक जलाया—"कदाचित् फिर देर हो जायगी। यदि डूब जाना नहीं

है, तो पार उतर जाने के लिए सब से उत्तम उपाय यही है। आश्रम के क्षेत्र से कायर की भाँति भाग जाना, शील गवाँकर वहाँ रहने से कहीं अच्छा है।"

वह क्या साथ लाया था? लोटा, रामायण, एक धोती, जिसके स्थान पर उसके हाथ की कती उजली धोती उसने संग्रह कर ली। उसने रामायण का पृष्ठ खोला, लेखनी से उस कुमारी के लिखे अक्षरों को काट देने को। हठात् उसने हाथ रोक दिया—"भगवान् प्रेम है!"—"एक शाश्वत सत्य! उसे कौन काट सकता है?" कुमार ने मन में कहा—"दूसरी पंक्ति तो काटी जा सकती है।" कुमार ने उस कटी पंक्ति को और भी रेखाओं के जाल से भर दिया कि उसका अर्थ मिट जाय।

कुमार ने फिर वही पोटली बाँध ली। कमरे में जो बिछौना-ओढ़ना था, वह आश्रम का ही था। पाकशाला की एक थाली और गिलास था। पुस्तकालय की दो पुस्तकें और दो समाचार-पत्र थे।

कुमार ने मंत्री महोदय के नाम पत्र लिखा। उसका मुख्य अंश इस प्रकार था—

> "मैं घर से भागकर आया था, विना माता-पिता की अनुमति के ही। भागकर ही वहाँ लौटा जाता हूँ विना आपकी सम्मति के ही। परंतु इसका कोई कलंक मेरे चरित्र और मेरी राष्ट्रीयता पर नहीं पड़ना चाहिए।"

कुमार ने मेज पर उस पत्र को विशेषता से प्रकट कर रक्खा। वह उड़ न जाय, अतः उसका एक कोना पुस्तक से दबा दिया। पोटली उठा, चप्पल पहन लिये कुमार ने। जलते हुए दीपक को वैसे

ही छोड़ कमरा बंद कर दबे पैर चल दिया बाहर को। किसी ने न जाना। आकाश में मेघ थे, पर वर्षा की कोई आशंका नहीं।

फाटक के बाहर आने पर कुमार को विश्वास हुआ नट-योगिनी कहीं छिपी नहीं है, उसका मार्ग रोक लेने को। उसने आगरे के मार्ग में पैर रख दिया। जैसे आया था, वैसे ही लौट चला।

८

कुमार सीधा आगरा दुर्ग रेलवे स्टेशन पर पहुँचा। उसके पास पैसा एक भी न था। उसको स्टेशन पर पैसा कमा लेने का विश्वास था और पैदल ही घर तक चले जाने का उत्साह भी।

वह लौटा, धर्मशाला पर जा पहुँचा। वह राष्ट्र की शिक्षा में दीक्षित हो चुका था। उसकी आवश्यकताएँ कम-से-कम थीं और उसके अभाव कुछ भी नहीं। जिस शिक्षा ने वैज्ञानिक उपकरणों के आधार पर जीवन का स्तर ऊँचा किया, जीवन का स्तर ऊँचा हुआ क्या सचमुच में वह? नहीं, उसने समाज में विभीषिका उत्पन्न कर दी। जीवन के कुछ छोटे स्तर और भी छोटे दिखाई पड़ने लगे। जीवन में अशांतिकर तुलना प्रकट हो गयी।

केवल एक बटन दबा देने से ही प्रकाश और अंधकार हो गया। हमने कहा—"प्रकाश हो जाय!" और प्रकाश हो गया! हमारे पूर्वप्रस्तर युग के पितर अग्नि के जन्म के लिए न-जाने कितना परिश्रम करते थे—यह कठिन अनुमान है। हम ऊँचे हैं।

बिजली का बटन दीवाल पर था। हम जागृति और स्वप्न का जोड़ लगाने लगे शय्या में पुस्तक पढ़कर। नींद के झोंकों में जब पुस्तक हमारे हाथ से छूटकर शय्या पर गिर पड़ी, तब हमारा बढ़ता हुआ आलस्य उठकर बटन दबाने के श्रम पर कुढ़ने लगा। विज्ञान ने फिर हमारी सहायता की! उसने एक तार बढ़ाकर हमारे तकिए के नीचे वह यंत्र रख दिया जिससे होकर पड़े-ही-पड़े हमारी इच्छा दीपक पर अधिकार कर सके। यह मानव की जय का नाम है या पराजय का?

विज्ञान बराबर हमारे पथ को छोटा करता जा रहा है। उसने हमारे श्रम को घटा कर तृष्णा को बढ़ा दिया है। पहले का फल रोग है और दूसरे का अशांति। विज्ञान ने प्रकृति के रहस्य ढूँढ़कर हमें उसके मातृत्व से दूर कर दिया। उसने हमारे जीवन को जटिलताओं से भर दिया। वह हाथ के श्रम में पवित्रता का अनुसंधान करनेवाला कुमार, क्या भाप से चलनेवाली रेलगाड़ी की उपेक्षा कर पैरों के श्रम की पवित्रता का अनुमान लगाना चाहता है?

बालकाल से ही पर्वत की उँचाई-निचाई ने जिसके पैरों को सुदृढ़ किया है, उसके लिए दो-तीन सौ मील पैदल चला जाना कोई बात तो न थी। अंत में हल्द्वानी पहुँचकर वह यात्रा उसे पैदल ही तो सिर पर लेनी होगी।

मार्ग के भोजन-व्यय के लिए तो कुछ चाहिए ही। कुमार ने स्टेशन पर मजूरी करना निश्चय किया। जीवन का यह शुद्ध श्रम, किसने इसके साथ मान-अपमान संबद्ध कर दिये?

दूसरों का बोझ ढोने के लिए कुमार को अपना बोझ दूर रख देना पड़ा। धर्मशाला का बूढ़ा मैनेजर पहले तो उसके सिर पर सफेद टोपी देखकर चकराया, पर जब कुमार ने उसे अपने

कंधे पर छहों तार दिखाये, तब मान गया। कुमार को वह गठरी भी खोलकर दिखानी पड़ी।

गठरी से न्यस्तभार होकर कुमार मजूरी की खोज में स्टेशन पर आया। उसके रूप और वेश को देखकर किसी ने उसे पुकारा नहीं। उसे स्वयं बोझ को ढूँढ़कर अपना परिचय देना पड़ा।

एक बड़ी ढकी हुई डलिया के पास खड़ा हुआ व्यक्ति मार्ग में किसी को देखता हुआ-सा दिखाई दिया। कुमार ने उसके निकट आकर कहा—"कुली चाहिए?"

व्यक्ति असमंजस में पड़ा—"कहाँ है?"

"मैं हूँ। कहाँ जाना होगा?"

व्यक्ति को जल्दी जाना था। फिर उसे अपना संशय बढ़ा देने की आवश्यकता ही क्या थी, जब वह कुली के साथ था। उसने उत्तर दिया—"ताज होटल। क्या लोगे?"

कुमार ने अपना अज्ञान उसके न्याय को समर्पित कर कहा—"जो वाजिब हो, दे देना। हाथ लगा दो।"

डलिया के मालिक ने उठाकर डलिया कुमार के सिर पर रखते हुए कहा—"धीरे से ले जाना।"

कुमार ने चलते हुए पूछा—"क्या है इसमें?"

"अंडे हैं।"

"अंडे हैं?" कुमार मन-ही-मन गुनगुनाया। उसकी अगली चाप आपसे आप स्थगित हो पड़ी। वह रुक गया।

अंडों के मालिक ने पूछा—"क्यों? क्या कुछ रह गया?"

"नहीं, रह तो कुछ नहीं गया। बोझ बड़ा भारी है।"

"बोझ तो हमेशा भारी ही होता है। हलका होता, तो क्या मेरी ही बगल से न चलता ?"

"खोपड़ी दर्द करती है।"— कुमार चलने लगा।

"अंडे और खोपड़ी इन दोनों में से किसी का कसूर नहीं है। वह है तो तुम्हारा ही।"

"कैसा ?"

"पढ़े-लिखे हो ?"

"हाँ।"

"मजूरी के रास्ते में तुमने पैर रक्खा है। उसके भी तो पेंच और जोड़ हैं। तजरबा होता जायगा, अकल सीधी होती जायगी। मैं पहले ही समझ गया था, घर से आज ही निकले हो। नये मजूर हो, बिलकुल ताजे-टटके।

"क्या मेरे माथे पर लिख गया था ?"

"हाँ, तुम्हारे पास इंडुवा न था, रस्सी न थी।"

"इंडुवा क्या है ?"

"खोपड़ी के दर्द से बोझ की और बोझ के भारीपन से सिर की हिफाजत करनेवाला चिथड़ों का बनाया हुआ घेरा।"

कुमार को समझते देर न लगी। मन में विचारा, धोती ले आता तो ठीक था।

मालिक ने अपने सिर पर का लंबा-चौड़ा साफा कुछ और जमाते हुए कहा—"यह डेढ़ पसली की टोपी पहन चले हो मजूरी करने। पहले जमाने के लोग इतना लंबा साफा पहनते थे। दो मन का बोझ सिर पर रख लो, मुँह से चूँ न निकले। बाजार में कोई सौदा दिखाई पड़ गया, तो बाँध ले चले उसी में घर को।

मु० १०

सिर पर किसी ने लाठी भी जमा दी, तो रंग ही न जमने दे उसका। ठहरो।"

कुमार ठहर गया। मालिक के कंधे पर एक गमछा था। उन्होंने उसे हाथ में लेकर लपेटा और इंडुवा बना दिया—'लो, इसे पकड़ो।" मालिक ने कुमार के सिर पर की डलिया दोनों बलिष्ठ हाथों से ऊपर हवा में उठा ली—"लो, रख लो यह इंडुवा सिर पर।"

कुमार ने टोपी जेब में सँभाल इंडुवा सिर पर रख लिया, मालिक ने उसपर डलिया जमाकर पूछा —"क्यों ?"

"हाँ, अब तो बड़ा आनन्द हो गया !"—कहकर कुमार ने कुछ लहसुन-प्याज की-सी गंध अनुभव की। वह बोल उठा—"आप क्या होटल में खानसामा हैं ? "

"कैसे जाना तुमने ?"

"जिस इंडुवे ने तुम पर मेरा भेद खोल दिया था, उसी ने मुझसे भी कह दिया। इस इंडुवे में लहसुन-प्याज की गंध आयी, फिर तुम्हारे अण्डों ने, फिर तुम्हारे होटल की यात्रा ने तमाम द्वार खोल दिये ! आप हैं न खानसामा ?" बोझ के कारण कुमार उसका अनुसरण करते हुए मालिक की ओर गर्दन न फिरा सका।

मालिक साभिमान बोला—"हाँ, तुम क्या पंडत हो ?"

"पंडत होने से होता क्या है ? क्या तुम्हें मेरा भाई-चारा अच्छा नहीं लगेगा ?"

"यह सब गाने के गीत हैं। जब सब पूरे साज के साथ मय जल-तरंग के, किसी कोकिल-कंठी के गले से अंगरेजी तरजों में सिनेमा के परदे या रेडियो की चौखट से बाहर को निकलते हैं, तब बड़े मीठे लगते हैं।"

कुमार मन में समझने लगा—"जान पड़ता है यह खानसामा पढ़ा-लिखा नहीं। निरक्षरता ने ही देश की जागृति को जकड़ रक्खा है।"

"पंडत ही हो तुम!" बीड़ी की फूँक छोड़कर खानसामा बोला —"इंडुवा रखते समय तुम्हारी लंबी-लंबी चोटी निकल आयी थी कुकुरमुत्ते-सी।"

"पहाड़ी बाभन हूँ न? मैं तुम्हारे साथ खाने-पीने की छूत नहीं मानता।"

मुँह बनाकर वह बोला—"अरे तुम क्या न मानोगे, तुम्हारे बड़े-बड़े भाई, लाल और पीले टिके खोपड़ी पर जमाये हुए बड़े-बड़े पंडत रोज आते हैं मेरे होटल में और प्लेट ही नहीं चम्मच और छुरे भी चाट जाते हैं।"

"तो फिर मुझसे तुम्हारी घृणा क्यों?"

"यह सिर के बाल?"

"यह केवल एक पहचान है।"

"भाईचारे में अंतर इसी से उपजा है।"

"यदि यही सच होगा, तो मैं इन्हें बराबर कर देने का कोई लालच ही न करूँगा।"

"अच्छा, चले चलो।" कुछ रुखाई से मालिक ने उत्तर दिया और बुझ गयी बीड़ी का टुकड़ा जलाने लगा।

कुमार चलते-चलते सोचने लगा—"दैवी संयोग की बात है—भागकर घर से आया, भागकर ही लौटा। आते समय का साथी खानसामा था, तो जाते समय का भी। उस खानसामा ने पाखंड के बहुत-से जाले उड़ा दिये मेरे, और इसकी दृष्टि पड़ी है मेरे इस प्राचीन दुर्ग पर! ...... क्या यह पाखंड

है ?" कुमार ने चाल ढीली की और मालिक के निकट हो जाने पर पूछा—"भाईजी, अगर इस फरक पर ही तुम्हें मेरे दद्दा बन जाने पर इनकार है, तो क्यों नहीं हम एक-से हो जायँ? जितनी आसानी से बाल काट दिये जा सकते हैं, क्या उतनी ही से बढ़ा भी नहीं लिये जा सकते हैं ? घर की खेती है, कुदाल चाहिए न पानी-खाद ।"

"तुम चले चलो जी ! हमें-तुम्हें इन बातों से क्या मतलब ? ये बातें हैं आला दिमागवालों की । तुम्हें मजूरी से मतलब, और मुझे काम से ।"

उसकी उपेक्षा से कुमार सोचने लगा—'चुटिया भी काट दी जा सकती है, विकासवादियों की खोज के अनुसार पूँछ-सा अभिन्न अंग जब झड़ गया, तब चुटिये की बिसात ही क्या है ? इसके साथ चाय पीने में मुझे कोई आपत्ति नहीं । शुद्ध रीति से खिलायगा, तो रोटी भी खा लूँगा, भात भी ; परंतु यह अवश्य अंडा खाने को कहेगा मुझसे । ऊँहूँ, मैं तो कभी न खाऊँगा ।

कुमार आनन्द से चला जा रहा था । उसके सिर पर न जाने कितने शतक अंडों की गिनती एक ही स्वर में मानो हँस रही थी—"कैसा है यह मनुष्य भी । सिर पर रखने को तो राजी है, मगर मुँह में न लेगा । कदाचित् खानसामा की सिफारिश पर इतना नहीं, जितना डाक्टर साहब की ।"

कुमार के मानस में लहराया—"सुना है एक विलायती वैष्णव साधु खुले-आम अंडों को फलाहार में सम्मिलित कर लेते थे ! वैज्ञानिकों ने उन्हें "स्टिराइल" घोषित किया है, बहुत संभव है इसीलिए । परंतु क्या पदार्थ का केवल रूप ही देखना उचित है या उसका गुण भी ? मादकता फिर क्यों निषिद्ध है ?"

कुमार ने उस विचार-क्रम को बहुत उलझ जाने के कारण तोड़ दिया। सबसे बड़ी मजूरी है, उसने मजूरी पर ध्यान न दिया। जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाये। संध्या, गाड़ी के समय तक कम-से-कम मार्ग-व्यय अर्जित कर लेना उसका इष्ट था।

चुपचाप चला जा रहा था वह, प्रत्येक दूर पर के भवन में होटल का रूप अनुमान करते हुए। खानसामा से बहस करनी छोड़ दी उसने। वह समझने लगा, मालिक-नौकर के बीच में काम और पैसे का सम्बन्ध है, उससे वाद-विवाद करना ठीक नहीं।

उसे बहुत देर तक चुपचाप चलता हुआ देखकर खानसामा बोला—"अंगरेजी पढ़े हो अच्छी ?"

"हाँ इंट्रेंस पास किया है।"

"इंट्रेंस पास किया है !" चकित होकर उसने पूछा—"और सिर पर इतना बोझ रख लिया ?"

"यह इस शिक्षा की बलिहारी है, यह तो बोझ भी नहीं रखने देती। किसी प्रकार लड़-झगड़कर मैंने इसका झूठा घमंड धो डाला।"

"नौकरी करोगे ? मुझे एक बाबू चाहिए, रोज का हिसाब लिखने के लिए और महीने में बिल बनाने को। दो-तीन टैम चाय मिलेगी, बिस्कुट के साथ। खाना मिलेगा बढ़िया !"

कुमार ने मन-ही-मन कहा—"आ गयी न वही बात।" प्रकट में वह बोला—"भाई, मेरे घर खेती है। कुछ चक्कर में फँस गया हूँ ऐसा कि मजूरी करनी पड़ी।"

"रेल में लटा-पटा खो गया क्या ?"

"नहीं।"

"पहाड़ से आये क्यों ?"

"ऐसे ही मन की चंचलता थी, भागकर आया था। अब ठिकाने से आ गयी है बुद्धि, मैं भी ठिकाने पर चला जाऊंगा।"

"तुम्हें देखकर दया आती है मुझे। भाई, और क्या कर सकता हूँ ?"

"अभी और कितनी दूर है होटल ?"

"वही अगला खाकी रंग का फाटक।"

रोटी-घर में ले जाकर खानसामा ने अपना बोझ कुमार के सिर पर से उतरवा लिया।

कुमार बोला—"देख लीजिए, कुछ टूट तो नहीं गया।"

कुमार की पीठ ठोकता हुआ खानसामा मूड में था। कहा उसने—"तुम इंट्रेंस पास पंडत हो, तुमसे नहीं टूट सकते। कुछ है पैसा लौटाने को ?"—खानसामा ने एक रुपए का नोट निकालकर पूछा।

"हाँ, कुछ होगा तो सही।"—कुमार ने अपनी जेब में हाथ डाला।

"कोई परवा नहीं। रहने दो। यह पूरा ही रख लो।"

कुमार को उसमें इनाम की भावना जानकर आपत्ति हुई। वह संकोच करने लगा—"जो वाजिब हो, वही दीजिए। मजूरी चाहता हूँ, इनाम नहीं।"

"चीं-चपड़ करनेवाले को देखकर बड़ा गुस्सा उठता है। लालच को देखकर लालच बढ़ता है। मालिक और मजूर की खुशी ही सच्ची मजूरी है। समय और जरूरत से वह घटती-बढ़ती रहती है। वह डाकखाने का कारड थोड़े है, जो एक ही टिकट में दौड़-धूप करे।"

कुमार रुपया लेकर चल दिया। होटल का एक चक्कर भी

लगाता चला, कदाचित् स्टेशन का कोई बोझ मिल जाय। वह फाटक से बाहर सड़क पर आया।

उसके नेत्रों में अनुसंधान पाकर एक इक्केवाले ने पूछा—"स्टेशन ?"

कुमार हँस पड़ा। लगाम को ही चाबुक बनाकर एक्केवाला कुमार से बहुत पहले स्टेशन पहुँच गया।

कुछ खा-पीकर दिन भर कुमार ने मजूरी की। वह शरीर से बहुत थक गया था, परन्तु उसके मन में कम-से-कम अपना मार्ग-व्यय कमा लेने का संतोष था।

रेल की यात्रा समाप्त कर वह पहाड़ पर चढ़ा पैदल ही। आश्रम से जिस तीव्रता से वह घर की ओर खिंचा जा रहा था, अब घर के निकट आ जाने पर उसके पैर भारी होने लगे। पहले दिन के शारीरिक परिश्रम से उसका सारा अंग चूर-चूर हो रहा था।

मार्ग में निरंतर मन में वह घर के ही स्वप्न देखने लगा—"उसके इस प्रकार भाग जाने से उसके पिता को निःसंदेह बड़ी मानसिक व्यथा पहुँची होगी। उनके सहिष्णुता भी है और संध्या-पूजा तथा घर के काम-काज की संलग्नता ने भी उनका दुख भुला दिया होगा। परन्तु ?—निश्चय ही उनके दिन आँसुओं में भीगते जा रहे होंगे। गाँव में सब मुझे होनहार की पदवी देते थे, वे लोग मुझे देखकर घृणा से दृष्टि हटा लेंगे। भागकर आया था, पत्र भी क्यों नहीं लिखा इस अवधि में ?"

कुमार ने जेब में हाथ डालकर वह पिता को लिखा हुआ पत्र निकाला—'इसे डाक में छोड़ भी नहीं सका। वह मुझसे पहले उनके पास तक नहीं पहुँच सकता था इसीलिए।' पत्र फिर जेब ही में रख लिया उसने।

पहाड़ी दृश्यों ने, आस-पास की हरियाली ने, वर्षा की भरी-पूरी सरिताओं ने, उसे प्रसन्न कर दिया। बहुत दिन की बिछुड़ी हुई गिरि-शृङ्खलाओं ने अपने दिव्य दर्शनों से उसके हृदय के क्षत भर दिये। ज्यों-ज्यों वह ऊँचा चढ़ता गया, स्वच्छ और शीतल पवन उसकी संजीवनी बनता गया।

उसने अपने उच्च आदर्श को अपना कवच नहीं बनाया, पिता का उसमें अधिक विश्वास न था। परम्परा को वह आगे चलाना चाहते थे, पर समय की हवा का प्रवाह देखकर ही। कुमार ने अपराधी होकर ही पिता के सामने उपस्थित होना ठीक समझा। उसको भरोसा था पूरा, जितना उसको पछतावा होगा, उतने शीघ्र पिता उसे क्षमा कर देंगे।

पहाड़ की उँचाई के साथ-साथ उसका उत्साह फिर बढ़ता चला। मोटर में जाता, तो उसी दिन संध्या के अनन्तर तो वह अपने घर अवश्य पहुँच जाता। उस विलंबित गति ने उसको भाव-शुद्धि का अवसर दिया। पहाड़ी पथ के अभ्यासी कुमार ने अपनी यात्रा का आधे से बहुत अधिक भाग सन्ध्या समय तक पार कर लिया। आगे का पड़ाव बहुत दूर होने के कारण उसने मार्ग पर की एक दूकान के सहारे रात काटनी निश्चित की। भूख की ज्वाला शांत कर कुमार दूकानदार का दिया हुआ एक पुआल का बोरा बिछाकर धोती ओढ़ सो गया। जाड़े के दिन थे नहीं।

दूसरे दिन सूर्योदय से बहुत पहले वह चल पड़ा। सूर्योदय होते-होते वह पाँच हजार फुट से ऊँचे पर्वत-शिखर पर आ गया। बरसाती बादल विदा हो चुके थे। उसने समकोणों पर उगी हुई चीड़ की डालियों से उत्तर में पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई हिमालय की अटूट श्रेणी को देखा--शुद्ध स्वच्छ स्फटिक! उसके

एक पार्श्व को सूर्य की बाल-रश्मियों ने स्वर्ण की आभा में रंग दिया था और उसकी ओट में छाया की गहरी नीलिमा ने आकाश के हलकेपन में बड़ी प्रीतिकर तुलना उपजा दी थी। स्वयं उसके हाथ जुड़ गये उधर।

हिमालय के नीचे के चिर परिचित भटकोट, पांडुखोली और द्रोणगिरि के चिर परिचित बैंगनी रंगों में रंगे हुए शिखरों पर उसकी दृष्टि गयी। उनके नीचे कुछ प्रकट और अधिक छिपे हुए द्वाराहाट को उसने देखा। मातृभूमि के दर्शन कर वह विह्वल हो गया। पक्षी होकर बीच की गहराई को सीधी रेखा में कुछ ही देर में पार कर जाने का स्वप्न देखने लगा वह।

उसने क्षण भर विश्राम किया सड़क की एक दीवाल पर, घर की ओर दृष्टि कर सोचने लगा—"हाँ, भूमि के उस भाग में निश्चय कहीं पर मेरी माताजी भी हैं। धरती माता के शारदीय उपहारों के संग्रह की योजना करती होंगी। मेरी बाँट के मौसमी फल कुछ पेड़ों पर और घर की सुरक्षा में उन्होंने रख छोड़े होंगे। माता का दुर्बल मोह संतान के दृढ़ विद्रोह में और भी दयनीय हो उठा होगा। कोई जाकर कह दे उनसे कि आज उनका बेटा उनके निकट आ जायगा संध्या तक। संध्या और प्रभात को वे द्वाराहाट के प्रत्येक उजड़े मंदिरों की टूटी हुई प्रतिमाओं से मेरी सुरक्षा के वर माँगती होंगी, पर्वों के अवसर पर उनमें दीपक जलाती होंगी और मेरे शीघ्र सकुशल घर लौट आने की प्रार्थना करती होंगी।"

कुमार उठा और अपनी यात्रा में चल पड़ा, अब उसके मार्ग में पाँच-छः मील की बराबर उतराई थी, उसके पश्चात् फिर लगभग उतनी ही लम्बी चढ़ाई। नीचे आधार पर ऊँचे-ऊँचे गिरि-पर्वतों, खेती-वनों, शिला-सैकत के बीच से अपना मार्ग

निकालती हुई गगास नदी बहती है। पनचक्कियों के लिए कर्णाकृतियों पर काटा गया उसका जल-प्रवाह, आकाश की उज्वलता का प्रतिफलित करता हुआ, छोटी-छोटी ऊर्म्मियों पर सूर्य की रश्मियों को झुलाता हुआ बड़ा शोभन प्रतीत होता है। उसके ऊपर क्षिप्र प्रवाह का घन-नाद चेतना में एक अद्भुत मूर्च्छना भर देता है। बीच-बीच में कभी किनारों पर चरते हुए पशुओं का रंभन, उड़ती हुई चिड़ियों का रव और किसान के गीत, स्वर की भिन्नता उपजाकर कुछ क्षणों के लिए उसकी एकतानता तो तोड़ देते थे।

कुमार को पहाड़ी नदी का वह षड्ज-संगीत बड़ा प्रिय था। वह बड़ी-बड़ी देर तक उसके किनारे किसी भारी शिला पर बैठा हुआ उसके बीच में खो जाने में बड़ी तृप्ति अनुभव करता था।

आज बहुत दिन पश्चात् वह उसके संसर्ग में आया था। उसने उसी के किनारे स्नान-ध्यान कर भोजन बनाना निश्चित किया। वहाँ कई दूकानें भी थीं और उसकी जेब में कुछ बचे हुए सिक्के भी।

दोपहर बाद कुमार ने भोजन और विश्राम के अनंतर मार्ग का आरोह आरंभ किया। घर के निकट आता गया क्षण-क्षण में वह। अब तो बहुत-से उसके परिचित भी मार्ग पर आते-जाते उसे मिलने लगे। कोई उसके आगमन पर प्रसन्नता दिखाता, कोई उसे बिना पिता को सूचित किये चले जाने की मनोवृत्ति का तिरस्कार करता और कोई उस पर शंकित दृष्टि डाल मार्ग बचाकर चला जाता।

कुमार अब तो घर के और भी निकट आ गया। उसके प्रिय परिचित ग्राम के पथ, बाल-काल के क्रीड़ा-स्थल, सड़कों का एक-एक मोड़, एक-एक रेखा उसके अंतर-पट पर सुरक्षित है।

उसके ग्राम से होकर बहनेवाले नदी-निर्झर, उनके तटों का एक-एक वृक्ष, एक-एक शिला मानो उसका एक-एक मित्र था। वे उसे कहते जान पड़े—"कुमार! कहाँ थे तुम इतने दिनों?"

गोधूलि का सुहावना समय था। ग्रामों के पथ, घर को लौटते हुए पशुओं के झुंडों से भरे थे। शरद की खेती के तैयार होने में अभी कुछ देर थी। खेतों पर काम कर घास-पत्ती का भार लिये स्त्री-पुरुष लौट रहे थे।

कुमार अब तो बिलकुल निकट आ गया घर के। वह उस भग्न प्रतिमाओं की बस्ती से होकर जा रहा था, टूटी हुई आशा और छिन्न स्नेह-बंधन को फिर से जोड़ लेने के लिए।

एक ऊँचे खेत पर से अचानक कोई प्रेम-विह्वलता से पुकार उठा—"किशोर! किशोर!"

किशोर का सहपाठी शंकर था वह। किशोर ने दोनों हाथ जोड़कर उसे अभिवादन किया। उसके मुख से शब्द एक भी न निकल सका।

"किशोर आ गया! किशोर आ गया बड़ी माँ!" कहता हुआ शंकर उसके घर की ओर दौड़ा चला गया। किशोर की ओर खिंचा वह, उसकी माता के वियोग की अवधि को कुछ छोटा करने चला वह—"बाहर आओ माँ! किशोर आ गया। छोड़ दो, जो भी काम कर रही हो।"

"क्या कहूँगा माता-पिता से?" कुमार चिंता करने लगा—"यदि पिताजी ने क्रुद्ध होकर मुँह फेर लिया तो?—"

उनके हाथों में सूखा आटा लगा हुआ था, कदाचित् वह आटा सँभाल रही थीं या छान रही थीं। माता, स्नेह की दुर्बलता से शक्तिमयी होकर उठीं, द्वार से टकराकर गिरते-गिरते बचीं।

"कुमार आ गया !"—किसने यह दैव-वाणी सुनायी। उन्होंने द्वार के पास आकर दूर तक पथ में देखा। पहचान लिया उसे —"कुमार सचमुच आ रहा है।" भागती हुई भीतर को लौटीं। ठाकुर-गृह में जाकर घंटी के साथ शंख-ध्वनि की। एक रूमाल की गाँठ खोलकर उसमें से कुछ पैसे निकालकर बाहर को दौड़ी फिर।

द्वार पर शंकर ने फिर कहा—"कुमार आ गया माँ !"

ममता के आँसुओं ने उन ज्योति के द्वारों पर ढकने लगा दिये या स्नेह की परिधि बढ़ाकर और भी विराट् सत्य सामने रख दिया ! माता ने शंकर को गले से लगा लिया। उसके गालों पर हाथ रख उसके मस्तक का चुंबन किया।

शंकर उस विह्वलता की प्रतिमा के हाथ पकड़कर बाहर ले गया—'वह है कुमार !"

कुमार आँगन में आ गया था। उसने माता के चरणों में गिरकर प्रणाम किया। माता ने हाथ के पैसों से उसकी निछावर की—"तुमने खाया भी नहीं क्या ? कैसे दुबले होकर आये हो परदेस से ? एक पत्र भी नहीं देना था क्या ?"

कुमार ने जेब से पत्र निकाला—"लिखा था माँ ! डाक से नहीं भेज सका, स्वयं ही उसे लेकर आ गया।"

शंकर उस पत्र को लेकर पढ़ने लगा।

"पिताजी कहाँ हैं ?"

"पनचक्की की ओर गये हैं। नदी की बाढ़ ने कुछ खेतों की दीवारें तोड़ दी हैं, उन्हीं की मरम्मत करा रहे हैं।"

"यह पत्र मैं दे आता हूँ।"—कहकर शंकर उस पत्र को लेकर नदी की ओर जाने लगा।

"शंकर, बेटा यहाँ आओ। तुम कहाँ चले ? यह तुम्हारा साथी है। इसके आने का सुसंवाद तुम्हीं तो लाये हो। इसी के साथ रहो।"

"अभी आता हूँ।" शंकर चला गया।

"मेरे घर की ऐसी शून्यता बढ़ा गये तुम! शंकर कहाँ गया ? उसने प्रभात और संध्या को सदैव ही मेरे साथ रहकर तुम्हारा अभाव बढ़ने नहीं दिया। चलो भीतर।"

दोनों भीतर को चले।

कुमार ने माता का अनुसरण करते हुए कहा—"शंकर के लिए तो मैंने पत्र भेजा था, उत्तर नहीं दिया उसने। नहीं मिला क्या उसे ?"

"मिल गया था, परंतु तुम्हारे पिताजी ने उससे कह दिया-उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"वह बहुत क्रुद्ध हैं मुझसे ?"

"अपने हृदय से पूछो। तुम्हारे-जैसा शीलवान, माता-पिता को इस प्रकार उपेक्षित रख दे, इससे बढ़कर क्रोध के लिए और चिनगारी हो सकती है ?"

"मेरी खोज के लिए कोई श्रम नहीं किया ?"

"नहीं, कुछ भी नहीं।"

"तुमने भी नहीं ? प्रिय-परिजनों में से किसी ने भी आग्रह नहीं किया ?"

"वह किसी की बात पर कान नहीं देते थे। उनके पास केवल एक ही वाक्य था—'खो गये की खोज होती है, भाग गये की नहीं।' हमारे किस व्यवहार ने तुम्हें असंतुष्ट किया था ?"

"मैं सरकारी नौकरी नहीं करना चाहता। मुझे राष्ट्र ने पुकारा था।"

"किसी की सम्पत्ति को राष्ट्र बिना पूछे क्यों छीन सकता है? उसे क्या अधिकार है?"

कुमार मन में कुछ सोचने लगा।

"यहीं बाहर के कमरे में ही बैठो। पिताजी को आ जाने दो। न-जाने किस-किसके संसर्ग में रहकर क्या-क्या खा आये हो? मैं जाकर तुम्हारे लिए कुछ खाने को बनाती हूँ।"

शंकर ने मन की प्रसन्नता को वहीं छिपाकर कुमार के पिता को पत्र दिया।

"किसका पत्र है?"

"पढ़ लीजिए।"

"चश्मा?" जेब में हाथ डाला, निकल आया। आँखों पर उसे चढ़ाकर पढ़ने लगे। कुमार के अक्षर पहचानकर पहले उसपर विरक्ति दिखायी। फिर जब एक-एक पंक्ति से कुमार का पश्चाताप खुलने लगा, तब उसे दो बार पढ़ा। सँभालकर चश्मे के साथ जेब में रख लिया और मजूरों से बातें करने लगे। अचानक शंकर से कहने लगे—"अभी परसों तो डाकिया आया था?"

"अपने पत्र का स्वयं डाकिया बनकर आया है।"

एक सुमधुर उमंग पिता के हृदय में खुलने लगी। वह बोले—"यह कैसी पहेली तुम सुना रहे हो?"

"हाँ, कुमार लौट आया है परदेस से।"

पिता का मन फिर नहीं लगा वहाँ पर। वह घर की ओर चल पड़े—"कुमार, परंतु अवश्य ही कुछ दंड मिलना चाहिए उसे। तुम क्या विचारते हो?"

"उसने क्या कोई चोरी की है?"

"वह भागा तो है घर से। उसके भीतर एक बुरी प्रवृत्ति उपजी, जो मेरे ऐसे विनीत और सभ्य पुत्र को चुरा ले गयी। नहीं शंकर, बिना उसे दंड दिये मैं नहीं मानूँगा।"

शंकर हँसता हुआ चला आ रहा था उनके पीछे-पीछे। घर पहुँचकर आँगन की दीवाल में बैठ गये वह, और बोले—"कहाँ है वह?"

शंकर बोला—"भीतर।"

"भीतर? मेरे घर के भीतर? नहीं, उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह बिना मेरी अनुमति के वहाँ प्रवेश कर सके।"—पिता ने क्रोध की उत्तेजना में कहा।

कुमार ने भीतर बैठे-बैठे सहज ही वह भर्त्सना सुन ली। वह तुरंत ही उठ खड़ा हो गया। उसके अहंकार ने ठोकर खायी और उसका पश्चाताप फिर जाग पड़ा।

पिता फिर कहने लगे थे—"नहीं, किसी प्रकार नहीं। यह जाने कहाँ-कहाँ, किस-किस के हाथ का क्या-क्या खा आया है, मैं इसे अपने घर के भीतर जगह न दूँगा।"

कुमार की माता आग जलाती-जलाती चूल्हा छोड़कर बाहर आ गयी और पति-देवता के रोष को बुझाने लगी। उसने हाथ जोड़कर उनसे धीरे-धीरे कहा—"रोष शांत कीजिए, बालक ही तो है। अभी आया है, कुछ उसकी भी तो सुन लीजिए।"

पंडितजी कहने लगे—"रोष कैसा? तुम्हें सच कहने से तो रोकना न चाहिए। तुम्हीं कहो, जब भक्ष्याभक्ष्य के विचार पर मेरे घर में बहुतों का प्रवेश निषिद्ध है, तब उसी के अपराधी अपने बेटे को पाकर, मुझे उसे वहाँ स्थान दे देना चाहिए? न्याय क्या

कहेगा ? लोग क्या कहेंगे ? नहीं, तुम्हें उसे बाहर निकाल देना चाहिए।"

कुमार स्वयं ही निकल आया तत्क्षण ही। उसने नम्रतापूर्वक पिता के चरणों में प्रणाम किया।

पिता ने मन-ही-मन भगवान को कृतज्ञता स्वीकार कर पुत्र को आशीर्वाद दिये। प्रकट में कहा—"अंत में आना ही पड़ा घर के द्वार पर ?"

"पिताजी, क्षमा चाहता हूँ। अवश्य ही अपराध हुए मुझसे।"

पंडितजी के सिर पर से मानो सुर-गंगा की अजस्र धारा बह गयी। वह अपना क्रोध आगे का न बढ़ा सके। उनका कंठ गद्‌गद हो उठा। वह बोले—"परदेश बहुत बड़ा शिक्षक है कुमार ! तुम आ गये, प्रसन्नता की बात है और तुम शिक्षा लेकर आये, यह और भी सुख है। कहाँ गये थे ? नौकरी करने ?"

"नहीं।"—उसने विनत होकर कहा।

"रुपया कमाने ?"

"नहीं पिताजी।"

"विद्या पढ़ने ?"

"नहीं।"

"फिर ? कहाँ गए थे ?"

"भारतमाता के आह्वान का उत्तर देने।"

"माता की उपेक्षा कर भारतमाता की सेवा ? नहीं कुमार, यह एक असंभव सत्य है। विंदु के विद्रोह से विराट की साधना कर नहीं सकता कोई। यह तुम्हारी माता—तुम्हारे वियोग के क्षण कितने कठिन हुए हैं इनके लिए—इन्हें रुलाकर, भारतमाता कदापि प्रसन्न न हुई होंगी तुमसे।"

"हाँ पिताजी।"

"तुमने मान ली यह बात। अच्छा मैंने क्षमा किया तुम्हें।"

माता मन-ही-मन प्रसन्न हो उठी और उसे निश्चय हो गया, अब और कोई खटका नहीं है।

कुछ विराम देकर पिता बोले—"पिता की वत्सलता उसे थोड़ा-सा सहारा मिल जाने पर भी बड़ी-से-बड़ी क्षमा दिला सकती है; परंतु पुत्र! धर्म और संस्कृति तुम्हें सहज ही क्षमा नहीं दे सकते।"

"परंतु पिताजी, मैंने धर्म और संस्कृति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया है।"

"अच्छा ?"

"पुत्र! यदि कहीं पर कुछ पंक्ति टूट भी गयी हो, तो उसका प्रायश्चित्त हो सकता है।" माता बोली।

"हाँ प्रायश्चित्त हो सकता है।" पिता ने कहा।

"पश्चात्ताप हो सकता है पिताजी! प्रायश्चित्त?"

माता, पिता-पुत्र के मनोभावों की संशुद्धि पर प्रसन्न होकर अपने काम पर चली गयी।

पिता बोले—"क्यों, प्रायश्चित्त पर क्यों अटक गये तुम?"

कुमार ने उत्तर दिया—"भाव-शुद्धि के लिए पश्चात्ताप ही चाहिए। प्रायश्चित्त की आवश्यकता तो कर्म की शुद्धि के लिए पड़ती होगी।"

"तुम कर्मों को सँभालकर रख सकते हो क्या ?"

कुमार के मन में नट-योगिनी का आकर्षण-जाल चमक उठा। वह सामर्थ्य से उसके जाल को काटकर चला आया था। वह बल पर स्थिर हो गया। उसने दृढ़तापूर्वक कहा—"हाँ पिताजी।"

"तुम अपनी सारी परम्पराएँ अक्षुण्ण रख सके हो?"

"परम्पराएँ बदलती रहती हैं। हाँ संस्कृति को अटूट रख सका हूँ।"

"परम्परा क्या है?"

कुमार कुछ न कह सका।

"तुमने संध्या का नियम अटूट रक्खा?"

"हाँ पिताजी।"

"छुआ-छूत?"

"निषिद्ध भक्ष्य से घृणा की, मलिनता से घृणा की, मनुष्य की घृणा नहीं की।"

"मैं समझ गया। परंतु तुम्हें प्रायश्चित्त करना होगा।"

शंकर अभी तक चुपचाप बैठा था। कहने लगा—"कुमार, प्रायश्चित्त कर लेने में लगेगा क्या? कर लोगे। कुछ स्नान-ध्यान, कुछ मंत्र-हवन, कुछ दान-दक्षिणा और कुछ हलवा-पूरी।"

"शंकर! क्या कहते हो? इससे मन दुर्बल हो जायगा।" कुमार ने कहा।

शंकर बोला—"दुर्बलता कैसी?"

कुमार—"प्रायश्चित्त से पहले मन के पाप का विश्वास किया जायगा। पिताजी, मैंने कोई पाप नहीं किया है।"

अचानक विशालजी न जाने कहाँ से धड़ाम से उनकी बात सुनते हुए उनके बीच में प्रकट हो गये—"कैसा पाप कुमार?" उन्होंने पूछा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह उनकी बात सुन रहे थे।

कुमार के पिता ने उठकर उनका स्वागत किया। परस्पर अभिवादन और वंदना का विनिमय हुआ।

विशालजी जन-आंदोलन के प्रवर्त्तक और प्रचारकों में मुख्य स्थान पा चुके थे। लेखों, व्याख्यानों और कार्यों के द्वारा पहाड़ की एक-एक घाटी, घाटियों के गाँव और गाँवों के एक-एक मनुष्य के हृदय में उनके लिए स्थान बन गया था। कई बार देश के लिए सिर पर वर्षा, आतप और पीठ पर पुलिस की लाठियाँ ही उन्होंने नहीं सही थीं, साहस के साथ जेलों की यात्रा भी की थी।

विशालजी प्रजा में प्रतिष्ठा पाये हुए ही नहीं थे, वह किसानों के दुखहर्त्ता ही नहीं थे, पढ़े-लिखे, धन-संपन्न नागरिक भी थे। कुमार के पिता का बहुत दूर का संबंध भी था उनसे। पिता की एक-दो बार भेंट हुई थी उनसे, पर अधिक वार्तालाप नहीं हुआ था कभी। आज अचानक उनको अपने घर में पाकर बड़े हर्षित प्रतीत होने लगे वह।

जन-आंदोलन में कोई प्रीति नहीं थी उनको। न कभी किसी व्याख्यान में जाते, न कोई समाचार-पत्र ही पढ़ते थे। हाँ "स्व" के लिए बड़ी श्रद्धा थी उनके। स्वदेशी के स्वभाव-जन्य वह पक्षपाती थे, स्वदेश की ममता थी और स्वधर्म के लिए तो मर जाने को भी श्रेष्ठ समझते थे।

जन-आंदोलन के नेताओं में वह स्वराज्य की ज्योति जली हुई पाते थे, पर वह समझते थे उस दीपक में स्वधर्म का तेल तो है ही नहीं। वह बेचारे क्या जानें, ऋण-धन के डबल तारों से दीपक के जुड़ जाने पर फिर तेल सर्वथा बेकार है!

उन्होंने विशालजी के बारे में सुना था कि वह संध्या-पूजा, श्राद्ध-तर्पण, छुआ-छूत कुछ नहीं मानते; परन्तु आज जब आँगन में उन्हें विलायती मटर के दाने के बराबर श्वेत चंदन के टीके से विभूषित देखा, तब उनके आनंद की सीमा न रही।

उनके सारे मनोभाव बदल गये। जनश्रुति को वह पोली वस्तु समझने लगे और उन्होंने निश्चय किया, इतनी बड़ी प्रसिद्धि मनुष्य बिना धर्मसूत्रों के नहीं पा सकता।

विशालजी आगामी चुनाव के लिए जन-पक्ष का प्रचार करते हुए गाँवों में घूम रहे थे। रामलीला के मैदान में दूसरे दिन उनके व्याख्यान की धूम थी। वह कुमार को अल्मोड़ से बहुत अच्छी तरह जानते थे। वह उसकी प्रतिभा की ही नहीं, उसके त्याग की भी सराहना करते थे। उनका पक्का विश्वास था, यह लड़का किसी दिन पहाड़ का ही नहीं, सारे देश का जन-नेतृत्व ग्रहण करेगा। दास-वृत्ति को ठोकर मार, सरकारी नौकरी की उपेक्षा कर स्वराज्य आश्रम में शिक्षा के लिए घर छोड़कर उसके जाने की बात उन्हें ज्ञात थी। द्वाराहाट आते ही आज जब कुमार के लौट आने का समाचार उन्हें ज्ञात हुआ, तब वे तुरंत ही उससे भेंट करने उसके घर चले आये थे।

पिता हड़बड़ा उठे। कुमार के गृह-प्रवेश या अप्रवेश की बात धुल गयी उनके मन पर से। वह बोल उठे—"कुमार! जल्दी से गलीचा उठा लाओ भीतर से।"

शंकर मन-ही-मन सोचने लगा—"विशालजी इस पहेली के हल होकर सौभाग्य से आ गये और उनके बैठने को यह गलीचा कुमार का पासपोर्ट बन गया!"

कुमार दौड़कर भीतर गया—"माँ! गलीचा कहाँ है?"

उसके उत्साह-भरे स्वर से पुलकित होकर माँ ने गलीचा निकालकर उसे दिया—"बेटा, मान लेना उनकी बात। कौन आया है?"

"विशालजी।"

विशालजी के लिए एक स्वच्छ चबूतरे पर आसन बिछाया गया। उस पर बैठते हुए वह बोले—"कुमार, कैसे पाप की चर्चा कर रहे थे तुम?"

पिता की नाड़ियों में काटो तो रक्त नहीं, सारा रोष उड़न्छू हो गया था उनका। उस प्रसिद्ध स्वराज्य के साधक के सामने कैसे उस स्वराज्य के सिपाही पर कलंक लगा सकते वह। पुत्र से कुछ कहना ही विशालजी पर छींटा फेंकना था। उनको समझना पड़ा विशालजी के आगमन पर ही कुमार की शुद्धि हो गयी। प्रकट में मुसकराकर बोले--"कुछ नहीं महाराज, बड़ा उद्दंड हो गया यह।"

विशालजी भुलावे में आजाने वाले साधारण मनुष्य नहीं थे, वह एक तिल को देखकर सारे चित्र की कल्पना कर सकते थे। एक वाक्य पर ही सारा कथानक समझ में आ जाता था उनके। ताड़ गये! बोले—"मैं तो कुछ भी उद्दंडता नहीं पाता इसमें। इसके त्याग को देखो। मैं जानता हूँ, यह लड़का किसी भी विश्व-विद्यालय में चमक उठता और किसी भी सरकारी विभाग की ऊँची से ऊँची कुर्सी पर अधिकार कर लेता। परंतु समस्त राष्ट्र की पुकार पर इसने अपने स्वार्थ पर ठोकर मार दी। आप की व्यक्तिगत आशाओं पर, बहुत संभव है, इससे चोट पहुँची होगी, परन्तु इसका उद्देश्य सारे देश की सेवा है। किसी दिन यह बहुत बड़ा आदमी होगा।"

पुत्र, उस पुत्र को जिसे अभी तक पंडितजी मार्ग-भ्रष्ट समझते थे, उसकी ऐसी उच्च प्रशंसा एक सम्माननीय व्यक्ति के मुख से सुनकर मन-ही-मन हर्षित हो उठे। उनके हृदय में अद्भुत उत्साह भर गया, अभिमान से मस्तक ऊँचा हो उठा।

"आश्रम से आज ही आये हो?"

"हाँ।"

"क्या-क्या सीखा वहाँ ? आश्रम के संचालन की भी कोई शिक्षा पायी ?"

"हाँ, बहुत कुछ अनुभव हुआ।"

"वैसा ही एक आश्रम यदि हम अल्मोड़े के आस-पास किसी एकांत में खोलें, तो उसका संचालन कर सकते हो ?"

कुमार ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—"हाँ, कर सकता हूँ।"

"वेतन ?"

"सारा व्रत कलुषित हो जायगा फिर तो ? वेतन की गिनती से सेवा की पवित्रता चली जायगी—वह तो फिर मजूरी हो गयी और आश्रम न हुआ, कमेटी का दफ्तर हो गया !"

"धन्य !" कहकर विशालजी ने पिता की ओर देखा—"देखा आपने अपने पुत्र को ! आप उस पर लांछन दे रहे थे।"

दोनों पार्श्वों की ओर घबराकर देखते हुए पिता बोले—"नहीं तो।"

"अवश्य ही विचारों की कट्टरता पर आप बाध्य कर रहे थे उसे। मैं भी इस बात को मानता हूँ, बिना विचारों की कट्टरता के मनुष्य कोई साधना पूरी नहीं कर सकता—विचारों की कट्टरता ही उसकी एकता है। विचार-ऐक्य ही शक्तिप्रवाह का डायनेमो है। हमारा आपका अंतर बहुत थोड़ा-सा है। मैं परंपरा का भी उपासक हूँ। परंतु बुद्धि के उपयोग के साथ, तर्क की तुला में तुले हुए विचार ही तो शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं।"

"ठीक है राजनीति अलग है, भक्ति-मार्ग अलग है।"

"ऐसा भी कहाँ है ? भक्ति-मार्ग कोई अलग मार्ग नहीं

है—राज के भी भक्त हैं और राष्ट्र के भी । समय बदल गया, धरित्री दूसरी हो गयी। संस्थाएँ बदल गयी, रहन-सहन परिवर्तित हो गया। जब वैदिक शास्त्रों के विधान बने थे, तब उन विधाताओं के सामने यह वायु-मंडल नहीं था। वह जगत् अंतर्धान हो गया, वह विधान भी जीर्ण नहीं हो गया क्या ? जीर्ण रस्सी से आप किस की मर्यादा बाँध सकते हैं ?" विशालजी ने चुनौती दी।

पंडितजी को सहज ही प्रभावित कर लिया विशालजी ने। वह सहज ही उनके वशीभूत हो गये और उन्होंने अपने मन में यह स्थिर किया कि मेरा बेटा पवित्र है और उसके प्रायश्चित्त का विधान करना उसका अपमान है।

"पौराणिक विधान के अनुसार जेल-यात्रा महान् पाप है, उसका घोर प्रायश्चित्त है। मैं जेल हो आया हूँ। उत्तर दीजिए, क्या राजनैतिक कैदी पापी है ? मेरा प्रायश्चित्त करेंगे आप !"

"नहीं, कदापि नहीं।"

"हम लोग शीघ्र ही एक स्वराज्य-आश्रम खोल रहे हैं। कुमार से अधिक योग्य हमारी दृष्टि में दूसरा नहीं है। कुमार के भोजन-वस्त्र और निवास का सारा व्यय दिया जायगा। आप अनुमति देंगे ? मैं जानता हूँ कुमार की सम्मति को।"

धीरे-धीरे शंकर ने कुमार से कहा—"मैं भी चलूँगा।"

पिता-पुत्र दोनों प्रसन्न हो गये, मानो इच्छा-निधि मिल गयी और भीतर प्रसन्न हो रही थी पुत्र को पायी हुई वह माता। बड़े उत्साह से चाय के साथ खाने के लिए सूखे आलू और सूजी के शृंखल बना रही थी।

वहीं बाहर विशालजी के चाय-पान की व्यवस्था की गयी। कुमार और शंकर भी उनके साथ के लिए बैठे।

"आप महाराज ? सूर्यास्त हो गया है क्यों?"

"हो सकता है। इस वृद्ध को आप लौटाकर कहाँ पर रख देंगे ? कुमार को तो सौंप चुका हूँ आपको।"

"धन्यवाद। हम तो सूर्योदय के सैनिक हैं।"

चाय-पान के पश्चात् शंकर और कुमार माता को भविष्य की योजना समझाने लगे, और पिता विशालजी को उनके निवास तक पहुँचाने गये। रात में वहाँ आतिथ्य ग्रहण करना अस्वीकृत कर दिया उन्होंने, क्योंकि उनके साथी बाजार में ही छूट गये थे।

मार्ग में एक दूसरा ही प्रकरण छेड़ दिया विशालजी ने—"कुमार विवाह-योग्य है। मेरी एक कन्या भी. एफ० ए० तक पढ़ी हुई है। यदि आपको आपत्ति न हो, तो दोनों का विवाह कर दिया जाय। आपको आश्चर्य होगा, कन्या भी स्वदेश और स्वराष्ट्र को भावना से ओत-प्रोत है। मेरी समझ में बड़ी उपयुक्त जोड़ी है। कुमार ने देखा है उसे।"

पंडितजी बहुत प्रसन्न हो उठे। एक धनी नागरिक एक ग्रामवासी को अपनी कन्या देना चाहता है। कैसे वह उसे अस्वीकार करें। वह बोले—"परंतु महाराज ! बिना जन्म-कुंडली मिलाये तो मैं विवाह करूँगा नहीं। आप इसे कैसा ही अंध-विश्वास क्यों न कहें मेरा।"

"यह कोई बात नहीं है। कन्या की जन्म-कुंडली है मेरे पास। मिला ली जायगी। वचन दीजिए।"

"वचन ? दिया महाराज। दोनों की जन्म-कुंडली मिल जाने पर मुझे स्वीकार है विवाह।" कहकर पंडितजी ने विशालजी से हाथ मिलाया।

परंतु उन दोनों वर-वधू के पिताओं के मन में कुछ भी इसका आभास न था कि वे दोनों चिर-कौमार्य के सूने मार्ग के यात्री थे। जन्म-कुंडलियों के मेल से भी उस समय उनका विवाह असंभव था। दोनों पिताओं से यह कहे कौन ?

९

नगर से थोड़ी दूर और ग्रामों के कुछ निकट विशालजी का स्थापित आश्रम अपने उद्देश्यों को साधता हुआ चल पड़ा। एक ओर साहित्य और दूसरी ओर शिल्प का समन्वय उसने किया. एक ओर श्रम और दूसरी ओर भावना का जोड़ उसने लगाया, तन और मन का सामंजस्य किया—मजूरी और दक्षिणा की एकता की।

एक ऊँचे पर्वत की कटि पर कोई पुरानी खेती थी. एक भूमि-देवता का मंदिर था। कुछ फलों के पेड़ भी वहाँ पर थे जो बिलकुल जंगली हो गये थे। एक धर्मशाला थी और कुछ पुराने मकानों के खंडहर। विशालजी ने कुछ भूमि अपने धन से क्रय की, कुछ गाँववालों ने आश्रम को स्वेच्छा से दान कर दी। वह आश्रम केवल एक मनुष्य की संपत्ति न हो, इसलिए विशालजी ने आस-पास के ग्रामों से चंदा किया और वह धन भी आश्रम के निर्माण में लगाया।

आरंभ में एक विद्यालय का मुख्य भवन और एक छात्र-निवास बनाया गया। धर्मशाला का जीर्णोद्धार कर उसे अतिथि-शाला में बदल दिया गया। भूमिया के मंदिर की मरम्मत कर

उसके आँगन में एक पतला और ऊँचा चीड़ का वृक्ष काटकर जमा दिया ध्वजारोहण के लिए।

आश्रम पर्वत पर इतने ऊपर भी न था कि जल दूर पड़ जाय और इतना नीचा भी न था कि हिम, आकाश और गिरि-वनों की दृश्यावलि ओट में पड़ जाय। आश्रम में दाहिने और बाएँ दोनों पार्श्वों में कल-कल निनाद करते हुए दो नाले थे, जिनमें से एक बारहमासी था। पीने के जल का एक स्वच्छ स्रोत, तथा एक पुरानी बावली भी थी, जिस पर कुछ धन व्यय कर अधिक विस्तृत और उपयोगी कर लिया गया था।

निकट ही आश्रम के ऊपरी भाग में चीड़ का और निचले में बाँस का जंगल था। आरंभ में पाकशाला का ढाँचा लकड़ी से स्थिर कर उसे घास और पत्तों से छाया गया था। भोजन बनाने के लिए ईंधन और भोजन करने के लिए पत्ते विद्यार्थी जंगलों से लाते थे।

श्रम की प्रतिष्ठा थी आश्रम में। सब विद्यार्थियों को अपना व्यक्तिगत काम भी करना पड़ता था और आश्रम का भी। वे बारी-बारी से लकड़ी काटते, चूल्हा-चौका करते, कपड़े धोते, झाड़ू देते। विद्यार्थी ही नहीं, शिक्षार्थियों को भी यह सब कर उदाहरण को उज्ज्वल रखना पड़ता था।

कुमार आश्रम का प्रधान संचालक बना। आश्रम के शिक्षा-विभाग के लिए उसने अपना एक कार्य-क्रम बनाया। आरंभ में थोड़े-से विद्यार्थी थे। अपने ही अनुभव और शिक्षा के आधार पर उसने चार वर्ग बनाये। परीक्षा नाम की वस्तु का बहिष्कार कर दिया। धीरे-धीरे आश्रम की अवस्था के साथ-साथ वर्ग-वृद्धि होती गयी।

शिल्प-विभाग में पहले ऊन की कताई, बिनाई और

बढ़ई-गिरी की शिक्षा का आयोजन हुआ; फिर उद्यान, खेती और गोपालन आरंभ हुए।

नारी-जागरण के लिए भी आश्रम को केंद्र बनाना उचित समझा गया। आस-पास के ग्रामों की कुछ कन्याएँ शिक्षा के लिए वहाँ आने लगीं। नारी-विभाग के संचालन का भार कुमारी लक्ष्मी को दिया गया। वह अकेली ही उन्हें अक्षर, अंक और शिल्प की शिक्षा देती। कन्याएँ सब आरंभ में दिवा-छात्राएँ ही थीं, वे सब घर से खा-पीकर आतीं और गरमियों में चार बजे और जाड़ों में तीन बजे अपने-अपने घरों को चली जातीं। उनकी न वहाँ रसोई होती थी, न छात्रावास था।

कुमारी लक्ष्मी को भी नित्य प्रभात-संध्या समय आश्रम और घर की दौड़ लगानी पड़ती थी। आरंभ में उसे यह खला नहीं, परतु पीछे जब आश्रम का विस्तार बढ़ चला, तब उसे समय का अभाव जान पड़ा। आश्रम के कार्यक्रम में उसे पर्याप्त चलना-फिरना पड़ता था, भ्रमण या सैर के नाम पर कोई अतिरिक्त श्रम वांछनीय नहीं था।

लक्ष्मी की माता तो नहीं, पिता अवश्य सोचते थे—"लक्ष्मी को आश्रम के आने-जाने में व्यर्थ परिश्रम करना पड़ता है, तथा समय का बहुलांश अकारथ चला जाता है।"

इसके अतिरिक्त घर पर देवता, पूजा और माला में अधिक विश्वास रखनेवाली उस पौराणिक माता की विचार-धारा इस नवीन प्रभात में जागी हुई कन्या से मिलती ही न थी। लक्ष्मी का विश्वास था स्वयं-सेवा में, व्याख्यान-प्रचार में और राष्ट्र की ध्वजा में। माता को अपने घर की वस्तुओं का ही पता नहीं था और कन्या धरती के नये-पुराने राष्ट्रों के इतिहास-भूगोल कंठस्थ किये बैठी थी। माता उँगलियों की संधियों पर एक-एक कर जोड़

लगाती और कन्या गाती थी उच्च मधुर स्वर से—"त्रिंश कोटि कंठ कल-कल निनाद कराले।"

पत्नी रात-दिन उनके कान खाती—"इस उच्च शिक्षा से लक्ष्मी को क्या लाभ हुआ? यह बहिर्मुखी हो गयी। कन्या की मर्यादा घर के भीतर है। घर के भीतर रोते हुए बालक को यह चुप करा नहीं सकती, उनके लालन-पालन की बात ही दूर है। गृहस्थी के किसी काम की अटकल नहीं इसे। जिसके पल्ले बँधेगी, क्या करेगा वह इससे? भाग्योदय ही होगा उसका?"

"उदय-अस्त को क्या समझती हो तुम? भारत की नारी दोहरे बंधन में है—देशी बंधन में भी और विदेशी में भी। लक्ष्मी दोनों बंधनों से मुक्त भारत के भविष्य की नारी की उज्ज्वल प्रतिमा है। तुम प्राचीन रूढ़ियों की बंदिनी नारी, उसकी मुक्त प्रतिभा को नहीं पहचान सकती हो। जो वर मैंने उसके लिए ढूँढ़ा है, उसके लिए वही उपयुक्त है।"

"परंतु कई महीने हो गये उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया है।"

"उत्तर देंगे कैसे नहीं? प्राचीन रूढ़िवादी हैं। छींकने और खाँसने के लिए भी सुदिन और लग्न ढूंढ़ते हैं। कभी वह तीर्थ-यात्रा में चले गये और कभी उनके ज्योतिषीजी रियासतों के निमंत्रण में। उन्हें स्वयं जल्दी है। ऐसी लड़की बड़े भाग्य से मिलती है।"

"ग्राम में ब्याह दे रहे हो? कैसे दिन कटेंगे उसके?"

"ग्राम कहने की बात है एक। भारत के शुद्ध प्राण तो वहीं हैं।"

"कैसे मान लूँ मैं? वहाँ केवल रोटी उगती है, भाग्यों का निर्माण तो नगरों में ही होता है।"

"उन शांति के सदनों की क्यों इन संघर्ष के क्षेत्रों से तुलना करती हो ? वहाँ वृद्धि है, यहाँ आये दिन के अभाव ; वहाँ पदार्थ और व्यवहार दोनों की अकृत्रिमता है, यहाँ दूध में पानी, घी में चुइयाँ, बातों में बनावट और कार्यों में चतुराई है। फिर क्या समझती हो तुम, कुमार हल पर हाथ रखकर खेती करेगा ? वह दाना नहीं उगायगा, वह मनुष्य उगाता है, वह नेता है—जन-नेता है। आज के आश्रम का संचालक वह कल की विधान-सभा का स्वामी है। आज के बालकों का नेता वह कल के प्रांत का विधाता है।"

पत्नी उनकी बातों को कठिनता से समझकर बोली—"परंतु एक बात है। रात-दिन की किताबों ने लक्ष्मी के मस्तिष्क को कुछ विकृत कर दिया है।"

"कैसा ?"

"पत्थर के देवताओं के लिए ही नहीं, हमारी अनेक सामाजिक रीतियों के प्रति भी उसका विद्रोह जाग उठा है। वह कहती है--विवाह एक विषाक्त बंधन है, जिसका फल कदाचित् ही मधुर है।"

विशालजी हँस पड़े—"तुम्हें चिढ़ाने को एक बात कह दी, मैं नहीं मान सकता, वह कभी मेरी आज्ञा टाल जाय। आश्रम के जीवन में मैंने उन दोनों के मनोयोग को देखा है। छः ही महीने में उन दोनों ने आश्रम को एक विलक्षण प्रगति पर रख दिया है। वह पौधा अब मुरझा नहीं सकता, शीघ्र ही एक विशाल वृक्ष में बदल जायगा। उन दोनों के विचार और मन एक ही हैं। वह पढ़ी-लिखी कन्या, फिर आयु की समझदार ! इस विवाह में निश्चय उसकी सम्मति भी हमें लेनी होगी। तुम उससे उसके

भावी पति का उल्लेख कर पूछना तो सही अब। मुझे पक्का विश्वास है, तुम उसे सम्मत ही पाओगी।"

पत्नी ने उसी रात को जब लक्ष्मी आश्रम से लौटी तब पूछा- "क्यों बेटी, एक बात तो बताओ। तुम्हारा संचालक, क्या नाम है उसका?"

लक्ष्मी संशय में पड़ गयी। विचारने लगी—"बाह्य जगत् से अधिक संबंध न रखनेवाली यह मेरी माता क्यों आज आश्रम के संचालक के बारे में प्रश्न करने लगी? इससे पहले कभी उनका उल्लेख नहीं किया था इन्होंने—कोई-न-कोई बात है।" वह बोली—"क्यों कौतूहल जाग उठा उनके नाम के लिए तुम्हारे मन में? कुमार है उनका नाम?"

"गाँव का लड़का है, माता-पिता अच्छे धनी हैं?"

"नगर और ग्राम! धनी और निर्धन! इन्हीं दो भागों में तुमने जगत् बाँट लिया है। मानवता है मनुष्य का मापदण्ड और मानवता नगर-ग्राम, धनी-निर्धन, पंडित-हरिजन, गोरे-काले के बंधनों से मुक्त है। इस घर के चार प्राचीरों के भीतर तुमने बड़ा संकुचित जगत् बनाया है। ग्राम?—ग्रामों ही में तो भारत का बहुमत सो रहा है। ग्राम-निवासी यदि अन्न उत्पन्न न करें, तो क्या नगर फिर सिक्के चबायेंगे या नोट निगलेंगे? ग्रामों की ओर छोटी दृष्टि करना विचारों की हीनता है। ग्रामों ने अपनी सरलता में हमारे जातीय गौरव की रक्षा कर रक्खी है। वे हमारे धर्म और संस्कृति के प्रहरी भी हैं। उन्होंने पिछले विश्व-युद्ध के तमाम मोरचों पर अंगरेजों की लड़ाइयाँ लड़ी हैं और अब उन्हीं की बड़ी संख्या अंगरेजों से मोरचा लेने के लिए कटि कस रही है।"

"पूरा व्याख्यान दे डाला तुमने तो। इस कला में निःसंदेह

बड़ी प्रवीण हो तुम ? मैं भला क्या जीत सकती हूँ तुमसे ? मैंने तो एक सीधी-सी बात पूछी थी तुमसे।"

"हाँ ग्राम के ही हैं। परंतु बुद्धि में, प्रबंध-चातुरी में, लेख में, व्याख्यान में किसी नागरिक से कम नहीं हैं। हाँ, उनकी बोल-चाल की बनावट, व्यवहार की कूटता, भोजन की रस-स्निग्धता और वेश की विविधता अवश्य ही नागरिक के सामने बहुत साधारण है।"—लक्ष्मी ने इस बार कुछ विनम्रता से कहा।

"वह भी कहते थे बड़ा आदर्श युवक है।"

"आदर्श ? आदर्शों में भी आदर्श ! जीवन की भावी संपन्नता ठुकरा दी देश के लिए। साधारण बात है माँ ! काँटों से भरे मार्ग पर चल निकलना साधारण त्याग है ? त्याग ही तपस्या है, त्याग ही मानवता है।"

माता ने लक्ष्मी की उस युवक के प्रति जब ऐसी उच्च भावना पायी तब बोली—"तुम पर्याप्त वयस्का हो उठी हो, आज नहीं कल तुम्हारा विवाह कहीं होगा ही। तुम पढ़ी-लिखी हो। विवाह में तुम्हारी सम्मति आवश्यक है।"

लक्ष्मी हँसकर बोली—"मैं समझ गयी थी पहले ही तुम्हारी बात। किन्तु—"

माता ने उससे पहले ही कहा—"यदि कुमार से तुम्हारा विवाह कर दिया जाय, तो क्या तुम प्रसन्न न होओगी ?"

विवाह ? हा ! हा ! हा ! नहीं माँ ! जीवन का यह पशुत्व, जन्म का यह छोटा-सा मूल्य, मुझे कदापि स्वीकार नहीं है।"

"सारा संसार क्यों विवाह करता है ? वह शास्त्र का विधान है।"

"होगा जिनके लिए, वे करते ही होंगे। मेरे लिए नहीं।"—लक्ष्मी चली गयी यह कहकर।

लक्ष्मी ने मन में सोचा—"यह भी आज-कल का फैशन होगा। कन्या सम्मत है और युवक के लिए उच्च भावना रखती है अपने मन में।"

चार-पाँच दिन में कुमार के पिता का पत्र आ पहुँचा। उसका भाव था—"साम्य प्रायः ठीक ही है, एकाध ग्रहों की जो वक्र दृष्टि है, वह मंत्र-पूजा और दान-दक्षिणा से ठीक कर दी जायगी। दोनों की कुंडलियाँ आपके पास भी भेजता हूँ, आप भी किसी ज्योतिषी को दिखा लें। मेरी ओर से विवाह निश्चित हुआ। इस वर्ष अब लग्न नहीं है। अगले वर्ष की बात रही। पुत्र आपको सौंप ही चुका हूँ।"

विशालजी हर्ष में भर उठे। उन्होंने पत्नी के पास जाकर कहा—"साम्य तो हो गया कुमार के साथ। अब तुम कहो। तुम्हारी भी आज्ञा आवश्यक है, तुम कन्या की माता हो, तुम हो सम्मत ?"

"मेरी सम्मति क्या ? जहाँ तुम हाँ कह दोगे, वहीं मुझे कहना ही चाहिए। परन्तु—"

"परंतु क्या फिर ?"

"लड़की सम्मत चाहिए।"

"तुम फिर यह किस बाधा को जीवित कर रही हो ? तुमने लक्ष्मी पर प्रकट किया था क्या इस संबंध को ?"

"हाँ।"

"क्या कहा उसने ?"

"कहा तो कुछ नहीं उसने। भारी-भारी शब्दों और लंबे-चौड़े वाक्यों के बीच में वह अपने को इस प्रकार छिपा देती है कि उसके हृदय की थाह लेना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता है।"

विशालजी खीझ उठे--"तुम भी एक अद्भुत नारी हो!"

"अपनी कन्या को तो नहीं कहते। मुझे ही सदैव दोष देने का तुम्हारा स्वभाव है।" पत्नी ने नाक-भौं सिकोड़कर उत्तर दिया।

"मैं कहता हूँ तुमने कुमार का प्रकरण छेड़ा था उसपर।"

"हाँ, हाँ।"

"क्या कहा उसने ?"

"वह कहती थी कुमार आदर्शों में भी आदर्श है।"

"यह कहा उसने!" विशालजी ने संतुलित होकर पूछा।

"हाँ, यह कहा उसने। बिल्कुल स्पष्ट।"

"हो गया, फिर और क्या चाहिए ? कुमार स्वीकृत है उसे विवाह के लिए।"

"और यदि विवाह स्वीकृत न हो उसे अपने लिए ?"

"अद्भुत हो तुम! घुमाकर फिर वहीं ले आयीं!" विशालजी फिर असंतुष्ट हो गये।

"मैं नहीं पूछूँगी कुछ। तुम स्वयं ही पूछ लेना।" पत्नी और भी अधिक क्रुद्ध उठी—"विवाह करो उसका, शीघ्र ही करो। मैं कई वर्षों से कहती जा रही हूँ। तुम्हारे कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। लड़की सयानी हो गयी। लोग अवश्य ही उसके बारे में भाँति-भाँति की बातें करते हैं। मुझे सहन नहीं हो सकता।"

"लड़की सभी की सयानी हैं, केवल एक तुम्हारी ही नहीं! सामाजिकता विचारों का एक प्रवाह है। हमें लोकमत के सामने विनत होना है। लोकमत कहता है, युग की यह पुकार है, कन्या को सुशिक्षित, सयानी और समझदार होना आवश्यक है विवाह के लिए।"

"गृहस्थी के काम-काज में उदासीनता, बड़ों की आज्ञा का विरोध—यही तो वह पढ़ती है। पुरुषों की सभा में उसके व्याख्यान, गीत और नवयुवकों की टोली में सबसे आगे होकर उसकी दौड़-धूप—यही क्या नारी की शिक्षा है? मैं कहीं स्कूल न गयी। आपकी गृहस्थी में कौन काम अधूरा रह गया?"

"तुम्हारी यह अनुदारता ही तुम्हारी अशिक्षा है। शिक्षा ने हमें उदारता दी है।"

"जहाँ भी हो, जैसे भी हो, सब के साथ बैठकर जो मन आया खा लिया—क्या यही उदारता है? देवता और पितरों की उपेक्षा, परम्पराओं का त्याग क्या यही उचित है?"

"यह संधिकाल है! नवीन और प्राचीन के संघर्ष का युग है। देवता और पितरों के लिए कोई उपेक्षा नहीं है मेरे हृदय में। जो कुछ तुम देखती हो, उसका कारण है हमारी राजनीतिक दासता। जब तक वह दूर नहीं हो जाती, हम देवता और पितरों की पूजा के योग्य नहीं। हम पतित हैं—अन्य राष्ट्रों की दृष्टि में भी और इस लोक के बाहर भी।" विशालजी ने पत्नी को मनाना आरंभ किया—"केवल एक राजनीतिक स्थिति के बदल जाने पर हमारी आर्थिक स्थिति सुधर जायगी। उसके सुधार पर ही हमारे समाज, संस्कृति और धर्म का उत्थान स्वयं ही हो जायगा।"

पत्नी भी मान गई। वह समझने लगी, ठीक ही होगी यह बात। प्रकरण बदलकर उसने कहा—"कुछ ताड़ना तो चाहिए। आप कुछ भी नहीं कहते उससे। इसी से लक्ष्मी का स्वभाव मनमाना हो गया है।"

"उपदेश और उससे भी निकृष्ट ताड़ना, यह अभिभावकों की दुर्बलता कही जाती है।"

"विवाह के लिए यह वैराग्य कहाँ से उसके मन में आ गया? क्या किताबों में यह सब पढ़ाया जाता है?"

"पागल हो तुम। किताबों में कुछ नहीं पढ़ाया जाता ऐसा। यह एक पश्चिमी लहर है; हमारे देश के बड़े-बड़े बंदरगाहों से यह हमारी भूमि में प्रविष्ट हुई है।"

"तब क्या होगा? सब की सब क्या जोगिन हो जायँगी?"

"क्यों हो जायँगी? प्रकृति के विरुद्ध कोई विद्रोह सफल नहीं हो सकता।"

"हे भगवान्! ऐसी लड़की को मैंने जन्म दिया है या इसे जनता, आंदोलनों और स्कूल में भेजकर तुमने ऐसा बना दिया!"

"तुम्हारी यह भूल है जो उसपर अपने संशय बढ़ा रही हो। देखो, अब से सावधान रहना। उसके साथ उसके विवाह के संबंध में तुम कोई बात न करना। इस वर्ष विवाह हो नहीं सकता, कोई शीघ्रता नहीं है।"

पत्नी प्रतिज्ञाबद्ध हो गयी।

बड़ी धूम-धाम से आश्रम का पहला वार्षिकोत्सव मनाया गया। दूर-दूर से कई सुप्रसिद्ध नेता भी निमंत्रित थे। बड़े-बड़े भाषण हुए, श्रोताओं की भी बड़ी भीड़ रही। सभी लोग आश्रम की प्रगति को देखकर प्रसन्न हुए। प्रदर्शनी का भी आयोजन किया गया था। छात्रों के वाद-विवाद, भाषण और कविता-पाठ हुए। एक रात नाटक और एक रात स्वयंसेवकों का 'कैम्प फायर' भी हुआ।

अगले वर्ष के लिए कई नवीन योजनाएँ स्वीकृत की गयीं। कई अधूरी योजनाओं का विस्तार किया जाना निश्चित हुआ। बढ़ते हुए विद्यार्थियों के लिए एक नवीन छात्रावास का तथा

शिक्षकों के एक निवास का निर्माण स्वीकार किया गया। सहायता के लिए कई धनी-मानी सज्जनों ने वचन दिये।

समस्त दर्शक और श्रोताओं ने कुमार के अथक श्रम, अटूट लगन, बहुमुखी प्रतिभा और सच्चे त्याग की प्रशंसा की और कुमार ने अपनी वार्षिक वक्तृता में कुमारी लक्ष्मी को आश्रम की श्री और समृद्धि का मूल कारण बताया।

लक्ष्मी के मन में यह बात बड़ी गहरी गड़ गयी। वह मन में समझने लगी—"कुमार ने यह अतिशयोक्ति क्यों की? यदि यह बात सत्य नहीं है, तो कुमार ने जनता में मेरी हँसी उड़ायी है। उसे क्यों मेरे विरुद्ध कोई प्रतिहिंसा अपने हृदय में रखनी थी। मैंने सदैव ही उसके प्रति पवित्र भावों का हृदय में पोषण किया है। आश्रमवासी मात्र सभी तो उसके स्वभाव की सच्चाई और सरलता के गुण गाते हैं।"

वार्षिकोत्सव के पश्चात् आश्रम को एक सप्ताह का अवकाश दिया गया। सब विद्यार्थी और शिक्षक अपने-अपने घरों को चले गए। कुछ हिसाब-किताब और लेन-देन शेष था। आश्रम के कार्यालय में कुमार और लक्ष्मी उसी को निबटा रहे थे।

काम समाप्त कर कुमार ने भी दो-चार दिन के लिए अपने माता-पिता के दर्शन कर आना निश्चित किया। लक्ष्मी नगर को चली। कुछ दूर तक मार्ग में उनका साथ था।

मार्ग के एकांत ने लक्ष्मी को प्रेरणा दी। उसका कौतूहल जाग पड़ा—"कुमार! तुम्हारी वह अतिशयोक्ति मेरी आकुलता बन गयी।"

"दूर ही दूर पर चलो लक्ष्मी! मेरे और तुम्हारे बीच में पर्याप्त अंतर रहना चाहिए।"

"कैसा अंतर?"

"यह छाया का अंतर।"

एक पहेली के सुलझाव पर आने को आकुल लक्ष्मी दूसरी पहेली में फँस गयी—"छाया का कैसा अंतर कुमार ?"

"इस छायावादिता को तुम मेरी दुर्बलता कहोगी, पर मैं इसे अपना बल समझता हूँ। जीवन की प्रेरणा और प्रगति का यही मेरा स्रोत है।"

"अधिक स्पष्ट होओ कुमार !"

"हो न सकूँगा। चेष्टा करता हूँ। सुनो, मैं नारी की छाया से बचता हूँ। मैं तुम्हारी इस छाया से, जिसे तुम कोई महत्त्व नहीं देती हो, सतर्क रहता हूँ।"

"पूरे वर्ष भर से हम एक ही आश्रम में काम कर रहे हैं।"

"यदि तुम ध्यानपूर्वक उसका सिंहावलोकन करोगी, तो तुम्हें मेरी बात झूठी न जान पड़ेगी। मैंने सदैव ही तुम्हारी छाया बचायी है। मैंने इसमें कभी आलस नहीं किया है और न कभी प्रमाद ही।"

"दूर ही क्यों जाऊँ! अभी क्या एक ही मेज पर बैठकर हमने कागज-पत्र नहीं जाँचे हैं ?"

"कमरे के भीतर ? वहाँ छाया ही कहाँ थी ? स्पर्श बचाया है वहाँ ?"

"यह कैसा पागलपन है ? अस्पृश्यता के पुजारी ! यह कैसी छूत है ?"

"तुम्हें भी यह मानना ही पड़ता है। स्वयंसेवकों के बीच में मैंने तुम्हें कभी नहीं देखा, उनका नेतृत्व ग्रहण कर तुम सदैव आगे ही आगे गयी हो। मेरी सनक हो सकती है यह। मैं छाया भी बचाता हूँ।"

"लकड़ी के मेज और कागज-पत्रों से क्या हम एक-दूसरे को नहीं छू गये ?"

"इसे नहीं मानता। इस समय भी तो हम एक ही धरती पर चल रहे हैं !"

"यह सनक क्यों पाली तुमने ?"

"कहानी बड़ी है, फिर कभी अवकाश में सुन लोगी।"

"मार्ग छोड़कर उस वन से होकर चलें कुमार ! सूर्य की किरणों ने उसपर ओट डाल दी है। वह घनीभूत छाया हम दोनों के बीच के अंतर को दूर कर देगी। तुम पूरे मन से बिना दुविधा में पड़े मेरी बात सुन लोगे।"

"मार्ग छोड़कर नहीं सुंदरी ! मुझे संध्या समय तक अपने गाँव पहुँच जाना है। यहीं पर कहो। केवल छाया का ध्यान रखना।"

"तुमने आश्रम के वार्षिक वक्तव्य में मेरी झूठी प्रशंसा क्यों की ?"

"क्या कहा मैंने, यही कि लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि ही हमारे आश्रम की समृद्धि और सफलता है। क्या लक्ष्मी समृद्धि की देवी नहीं है ?"

"झूठ है। मुझे भले प्रकार स्मरण है, तुमने कुमारी लक्ष्मी कहा—श्रीमान् विशालजी आश्रम के संस्थापक की कन्या कहा।"

कुमार ने स्मितानन से कहा—"यह भी ठीक ही कहा। देवियाँ सूक्ष्मलोक की परिस्थितियाँ हैं। वे जब हमारी धरती पर के प्राणियों में अपनी सानुरूपता स्थापित करती हैं, तब उन्हें उन प्राणियों का नाम दिया जाना अतिशयोक्ति नहीं है।"

लक्ष्मी रिसाकर कहने लगी—"मुझे क्यों वह नाम दिया ?"

कुमार बोला—"लोक-जागरण के लिए तुम्हारी शुद्ध रुचि देखकर, आश्रम के काम में तुम्हारी तन्मयता का ध्यान कर।

नित्य नियमपूर्वक नगर के आकर्षणों को छोड़ गाँवों की ओर पधार तुमने वाणी, वेश और भोजन की सरलता ग्रहण की है। सारे आश्रम ने तुम्हें एक उज्ज्वल आदर्श माना है। हे निर्मल प्रकाश, क्या तुम आश्रम के प्रत्येक वासी में अनुप्राणित नहीं हो ? फिर क्या आश्रम की सत्ता में तुम्हारे ही प्राण स्पंदित नहीं हैं ?"

लक्ष्मी शिला-प्रतिमा-सी खड़ी रह गयी—"परंतु तुम्हें स्मरण होना चाहिए, हम लोग छूत-छात और वर्ग-भेद को मिटाने के व्रती हैं।"

"निश्चय, जहाँ छूत-छात में घृणा की व्यंजना है।"

"तो क्या वह आदर की भी है ?"

"हाँ, तुम्हारा स्पर्श जहाँ पर मैं बचाता हूँ—वह तुम्हारी प्रतिष्ठा के लिए है। वहाँ पर मैं तुम्हें दिव्य निर्मल समझता हूँ और अपने को पतित-कलुषित !"

"तुम अद्भुत हो कुमार! तुम्हारी चरम दार्शनिकता और भी !"

नट-योगिनी में कुमार ने जिस नारी को पाया था, वह उसे भयंकर जान पड़ती थी। न जाने क्यों ? कुमार उसके दर्शन मात्र पर भाग जाता था। उसकी सामाजिक भिन्नता के कारण कुमार उसकी गतिविधि को कोई अपवित्र नाम भी नहीं दे सका था। परन्तु न जाने क्यों उसके हृदय में नट-योगिनी के प्रति घृणा पैदा हो गयी थी। नट-योगिनी से बचने को नहीं, हृदय में बढ़ते हुए उस घृणा के भाव को मिटाने के लिए कुमार को वहाँ से भागना पड़ा था।

कुमार भी उचित दूरी पर स्थिर हो गया था—"तुम तो

अचला हो गयी हो देवी! लक्ष्मी! मेरे सामने संध्या तक की यात्रा है। मैं चला जाऊँ?"

"आज मेरे साथ के लिए कोई दूसरा नहीं है, क्या इसीलिए? अच्छा चलती हूँ कुमार!" लक्ष्मी चलने लगी—"एक बात समझ में आती है। शिक्षक-निवास के निर्माण का निश्चय हो चुका है। शीघ्र ही वह बन जायगा। मैं सोचती हूँ उसके तैयार हो जाने पर मैं भी यहीं रहने लगूँगी। यह प्रभात-संध्या की दौड़ मेरे कार्य में बाधक है। तुम्हें तो कोई आपत्ति नहीं?"

कुमार ने जाते-जाते कहा—"यदि तुम्हारे अभिभावकों को यह स्वीकृत है, तो मुझे ही क्या आपत्ति हो सकती है? तुम क्या समझती हो, मैं नारी जाति का विद्वेषी हूँ? बिना उसकी जागृति के क्या राष्ट्र का जागरण पूर्णता पा सकता है? कदापि नहीं।"

"रात्रि में आश्रम से दूर चले जाने पर उसकी सेवा खंडित हो जाती है और प्रत्येक प्रभात को मुझे नित्य फिर पहले से आरम्भ करना पड़ता है। मैं आज ही जाकर पिताजी से शिक्षक-निवास के शीघ्र निर्माण की प्रार्थना करूँगी।"

"ठीक तो है, एक दासी अपने साथ के लिए रख लेना।"

"तुमने एक झूठे आदर्श पर संकेत कर दिया। जब आज सारा भारत दास है, जब हमने आश्रम में श्रम की प्रतिष्ठा की शंख-ध्वनि की है, तब फिर मैं क्यों दासी को अपना अवलंब बनाऊँ?"

"सेवा के लिए नहीं, साथ के लिए।"

"मुझे एकांत ही प्रिय है। मैं उसमें निर्भयता जगाती हूँ। अपने स्वाध्याय-चिंतन के लिए कोई बाधा स्वीकार न करूँगी।"

वे दोनों आकर मार्ग की उस चौमुहानी पर खड़े हो गये थे, जहाँ से उनकी दिशाएँ विभक्त हो जाती थीं। लक्ष्मी का नगर

पर्वत के शिखर पर जगमगाता हुआ दिखायी देने लगा था और कुमार का ग्राम अनगिनत पर्वतमालाओं की ओट में, कई-कई घाटियों से विभक्त दूर अवस्थित था।

कुमार के हाथ में एक झोला था। उसके धोती-अँगोछे के अतिरिक्त माता-पिता की भेंट के लिए उसमें कुछ फल और एक-दो पुस्तकें भी थीं।

कुमार ने हाथ जोड़कर लक्ष्मी को नमस्कार किया—"आज रात तक घर पहुँचूँगा। कल-परसों दो दिन वहाँ रहूँगा। नरसों संध्या समय तक आश्रम में आ जाऊँगा। नमस्कार!" कुमार हरित बन में खोये हुए उतराई के मार्ग पर चल दिया द्रुत गति से।

लक्ष्मी का मार्ग समतल था। वह विचारों में निमग्न अपने घर को चली। माता का कुमार से विवाह का प्रस्ताव उसके मन में प्रतिध्वनित होने लगा और साथ-ही-साथ उस ज्योतिषी की वह काली भविष्यवाणी! वह मन में कहने लगी—"ज्योतिष सत्य है या झूठ, मैं नहीं जानती; परंतु उस भविष्यवाणी ने मेरे हृदय पर गहरा छाप दिया है। मुझे अपने बुरे ग्रहों से कुमार के जीवन को हानि पहुँचाना उचित है क्या?"

फिर दूसरी विचार-धारा उसके मन में प्रवाहित हुई—"बच्चों से घिरे हुए मातृत्व की कल्पना स्वीकार नहीं है मुझे। वे मेरी पुस्तकें फाड़ देंगे, मसि उलट देंगे बिछौने पर, प्रत्येक वस्तु का स्थिति-क्रम बदल देंगे। सारे घर में मलिनता फैला देंगे। रोने और चिल्लाने से मेरे मन की शांति भंग कर देंगे। कभी एक की भूख-प्यास है, तो कभी किसी दूसरे का हठ और मचलना। कभी एक के हाथ-पैर धुलाने हैं, तो कभी दूसरे के कपड़े बदलने, कभी एक की कंघी-चोटी है, तो कभी दूसरे का बनाव-शृंगार!

आज एक अस्वस्थ है, तो कल दूसरे के पथ्य और औषधि की योजना! नहीं, मुझे नहीं चाहिए यह सब कुछ। मैं अपनी स्वतंत्रता विवाह के हाथ नहीं बेच सकती किसी भाव!"

कैसे अद्भुत विचारों का पुतला है यह मानव! देश की सेवा का व्रत लिया है लक्ष्मी ने। पाठशाला में बालिकाओं को पढ़ाती है वह, खेल के मैदान में उनसे खेलती भी है। उनकी प्रत्येक प्रकार की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहती है, उनकी सतत सेवा में जीवन का सफल उपयोग मानती है। परंतु इस सेवा का सूत्र वह अपने कमरे से आरंभ हुआ नहीं समझती। सेवा गृहस्थ से आगे को बढ़ती है, इसका विश्वास नहीं करती वह। वहाँ वह अकेली ही अपने विचारों के साथ रहना चाहती है। उसने घर को विचार-भूमि माना है। उसका जगत् बाहर से बनता है—वही उसकी कर्मभूमि है। वह संतान के जन्म और लालन-पालन के कष्ट से बचना चाहती है, क्या यह लक्ष्मी की कायरता नहीं है? अपनी संतान के पक्षपात में वह लोक-सेवा की पवित्रता बाँट नहीं देना चाहती, क्या यह लक्ष्मी की परम उज्ज्वलता नहीं है?

संध्या-समय जब कुमार अपने घर पहुँचा, तब समस्त ग्राम में चहल-पहल मच गयी। उसके समस्त प्रिय और परिचित जन उसकी भेंट को दौड़ आये। उसके माता-पिता के हर्ष की सीमा न रही। रात को बड़ी देर तक उसके घर में लोगों की भीड़ जुटी रही।

सबके चले जाने पर जब सोने का समय हुआ, तब उसके पिता ने उस के विवाह का प्रकरण छेड़ा। उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि कुमार वैसा उत्तर देगा।

पहले उन्होंने आश्रम के प्रबंध तथा उसकी आर्थिक स्थिति के संबंध में जानकारी प्राप्त की। इसके पश्चात् उन्होंने विशालजी के

प्रभाव और उनकी कन्या के स्वभाव के संबंध में पूछा। संतोष-प्रद उत्तर पाने पर उन्होंने कहा—"कुमार, हम लोग लक्ष्मी के साथ तुम्हारा विवाह स्थिर कर रहे हैं।"

"मेरा विवाह ? नहीं पिताजी !"

"अभी तुमने उसके गुण और शील की पर्याप्त प्रशंसा की।"

"तो इससे क्या होता है ?"

"एक मन के उपयुक्त गृहिणी पाकर क्या जीवन सुखमय न हो जायगा तुम्हारा ?"

"परंतु पिताजी, मैं दास भारत में उत्पन्न हुआ हूँ। मैंने शपथ पूर्वक यह प्रतिज्ञा की है कि मैं विवाह कर दास-संतान न बढ़ाऊँगा।"

"यह भी कोई प्रतिज्ञा है ? कब की तुमने यह प्रतिज्ञा ? क्यों की ? कहाँ की ?"

"मैंने माता की शपथ ली है।"

"माता की शपथ ली है ?"

"हाँ, भारतमाता की।"

"कौन है वह भारतमाता ?"

"आप जानते हैं। उसके परिचय के लिए कोई व्याख्या आवश्यक नहीं है।"

"परंतु मैं वचनबद्ध हो चुका हूँ।"

"मैं भी तो।"

"तुम्हारे वचन से मेरे वचन का मूल्य अधिक है पुत्र ! उसकी रक्षा के लिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने पर भी कोई पाप नहीं लगेगा। पिता से मतभेद उत्पन्न कर तुम अपनी राष्ट्रीयता को उज्ज्वल रख सकते हो क्या ?"

"यह बड़ा गंभीर विषय है पिताजी ! मैं आपका अनुचर हूँ। निःसंदेह पिता का अनुशासन मेरा कवच है एक ओर, दूसरी ओर अपनी प्रतिज्ञा में अविचल रहना मेरे चरित्र की दृढ़ता। इन दोनों के बीच से मार्ग निकाल ले जाना मेरे लिए दुष्कर हो उठा है।"

"पिता का मस्तक समाज में विनत न होने दो। मैं विशालजी को वचन दे चुका हूँ। वह क्या कहेंगे ? लोग क्या कहेंगे ? मैंने कभी कोई कच्ची बात आज तक मुख से नहीं निकाली है। तुम्हारी प्रतिज्ञा तुम्हारे हृदय तक ही सीमित है, मेरी बात सारे गाँव में प्रसिद्ध हो चुकी है।"

"मन तक ही उसकी सीमा मान लेने पर भी तो समस्या हल नहीं होती। जो व्यक्ति अपने मन को धोका दे देता है, वह फिर जगत् से भी सच्चा नहीं रह सकता। विगत अनेक वर्षों से मैंने अपने हृदय में इस प्रतिज्ञा की ज्योति जगायी है और भविष्य का पथ-निर्माण किया है। आप अचानक इस दीपक को निर्वापित कर देने की बात छोड़ दीजिए।" कुमार ने विह्वल होकर कहा।

"विशालजी के आग्रह पर ही मैंने इस संबंध को स्वीकार किया है। तुम्हारे प्रति उनकी बड़ी उच्च धारणा है। अपना वचन तोड़कर केवल मैं ही उनका अपराधी नहीं हो जाऊँगा, तुम भी उनकी दृष्टि में गिर जाओगे।"

"नहीं पिताजी ! यदि मैं अपने व्रत में सुदृढ़ रहूँगा, तो अवश्य ही उनको मेरी बात प्रसन्न करेगी। वह न उनकी अवमानना है, न आपकी।"

"तुम क्या जानो ! वह निश्चय तुम्हें उस आश्रम से निकाल बाहर कर देंगे।"

"कदापि नहीं। वह आश्रम एक व्यक्ति की संस्था नहीं है।

एक व्यक्ति के घृणा-द्वेष के भाव वहाँ राज नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त आश्रम में मेरी स्थिति बिलकुल मेरे अपने ही हाथों की बनी हुई है। यह जनवाद का युग है। एक-एक व्यक्ति का मत है और वह समान मतों के एकत्रीकरण से अभेद्य और अटल पर्वत-शृंगों की भाँति अचल और अटूट है।" कुमार बड़ी दृढ़ता के साथ बोला।

"पिता की अवमानना से तुम्हारा पक्ष दुर्बल पड़ जायगा। अनुभवी और समझदार तुम्हें आक्षेप लगाकर कहेंगे—यह अपने पिता का अवज्ञाकारी है। इसने उस बूढ़े को चौथेपन में बड़ा कष्ट दिया।"

कुमार चुपचाप कुछ सोचने लगा।

"सोच-विचार कर मेरी बात माननी ही पड़ेगी तुम्हें कुमार, दो दिन यहाँ हो तुम अभी, जल्दी नहीं है। सो जाओ। अतिकाल हो गया। एक बात स्मरण रखना, मैं ब्राह्मण हूँ—कभी झूठ नहीं बोला हूँ, कभी झूठ नहीं बोलूँगा।" पिता ने कहा।

"पिताजी, मैं भी तो—" कुमार कहना चाहता था।

पिता ने कहा—"बस, इस समय अब अधिक तर्क नहीं। अनुशासन तर्क नहीं है, सो जाओ।" पिता सोने को चले गये।

कुमार की नींद उखड़ गयी। कुछ जागरण, कुछ दिन के शारीरिक श्रम और बहुत अधिक मानसिक खलबली से, रात भर वह आधा जागता और आधा सोता रहा।

प्रभात समय जागकर उसने स्नान-ध्यान समाप्त किया। माता ने उसे दूध और कुछ खाने को दिया, साथ ही पिता की आज्ञा मानने को मीठे उपदेश भी उदाहरणों के सहित।

कुमार घर के बाहर उद्यान में निकल आया। घास-पात, फल-मूल और लता-वृक्षों का प्रकट में निरीक्षण करने लगा; परंतु

मानस में वही विकट प्रश्न, कई-कई दिशाओं में मार्ग बना रहा था।

उसे शंकर की याद आयी। उसका वह मित्र, आंतरिक इच्छा होने पर भी वह उसके साथ आश्रम के जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सका था। उसके पिता की आर्थिक स्थिति साधारण थी। उन्होंने शंकर का सरकारी नौकरी करना ही उचित समझा, इष्ट मित्रों ने भी वही अनुमति दी। शंकर पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर नैनीताल चला गया। कुमार ने सुना था उसे किसी सरकारी दफ्तर में नौकरी मिल भी गयी।

"तब क्या मैं भी शंकर की भाँति पिता की आज्ञा मान लूँ ? आश्रम की सेवा छोड़कर सरकारी नौकरी कर लेना कदाचित् इतने कलंक की कथा न होगी, जितना अपना व्रत तोड़कर भविष्य के लिए कई-कई दास उत्पन्न कर रख जाना। व्रत की अक्षुण्णता ही चरित्र है और बिना चरित्र-बल के किसी बलिदान, किसी त्याग और किसी तपस्या में प्रकाश उत्पन्न हो नहीं सकता।" कुमार घूम-फिरकर फिर अपने निश्चय पर आरूढ़ हो गया।

वह उद्यान से निकलकर एकांत प्रकृति की ओर बढ़ गया। वह उस पर्वत की जड़ पर आया, जहाँ उसकी नियमित गति-विधि ने एक पथ बना दिया था, पर्वत के शिखर तक। कुमार ने देखा उसकी वर्षों की अनुपस्थिति से उस मार्ग पर घास उग आयी थी और वह प्रकृति की स्वच्छंदता में खो गया था। कुमार उस अस्पष्ट मार्ग से होकर पर्वत के शिखर पर आया।

वह देवदारु का वृक्ष और भी ऊँचा हो गया था और उसके आधार पर की वह शिला भारतमाता की प्रतिमा के अधिक सानुरूप हो गयी थी। उसे वह आश्रम का ध्वजा-मंडप स्मरण हुआ—

आज उसकी परिक्रमा में शत-शत चरण धावमान हैं और शत-शत कंठ उसकी स्तुति को गगनभेदी बनाते हैं।

फिर उसके मन में प्रतिध्वनि जागी—"क्या पिता की आज्ञा मेरे पथ की बाधा है?" उसे उत्तर मिला—"नहीं, होनी नहीं चाहिए!"

कुमार सोचने लगा—"फिर क्या उत्तर है मेरे पास? कौन मार्ग है मेरे सामने?.......भाग जाऊँ फिर देशांतर में?........ यह सब से बड़ी कायरता है!" उस शिला-वृक्ष की परिक्रमा करने लगा वह। हठात् उसके मन में एक चिनगारी प्रकट हुई, वह कहने लगा मन में—"वह अपनी प्रतिज्ञा के पालन में ऐसे ही दृढ़ होवें, जैसा मैं। दोनों प्रतिज्ञाएँ परस्पर विरोधिनी नहीं हैं।"

कुमार पर्वत-शिखर से उतर आया। फिर इस प्रश्न पर उसने पिता से तर्क नहीं किया। जब उन्होंने यह बात छेड़ी, तब वह मूक ही रहा। पिता ने उसके मौन को उसकी सम्मति का लक्षण दिया।

कुमार के आश्रम जाने का दिन आया। माता के निकट वह विदा ग्रहण करने को गया। माता ने गंधाक्षत कर कुछ फल उसे दिये और कहा—"बेटा, पिता की आज्ञा का अनुशासन पुत्र की सबसे बड़ी निधि होनी चाहिए।"

"हाँ माँ! इसी ध्येय की रक्षा करूँगा।" कहकर कुमार ने माता के चरणों का स्पर्श किया और विदा हो गया।

पिता कुछ दूर तक उसे पहुँचाने गये। बाजार में उन्हें कुछ काम भी था। कुमार जब विदा होने के लिए पिता के चरणों पर विनत होने लगा, पिता ने कहा—"मेरे वचनों और मेरी प्रतिज्ञा को निर्मल रहने दोगे पुत्र, यह आशा है तुमसे।"

"हाँ पिताजी!"

"और तुम--"

"हाँ पिताजी, मेरी प्रतिज्ञा भी न टूटेगी।" कहकर कुमार ने कुछ संशय उगा ही दिया उनके मन में।

पुत्र को आधा सम्मत पाकर पिता ने संतोष किया--"अभी अगले वर्ष की बात है, तब तक राह पर आ ही जायगा।"

दोनों एक दूसरे से विदा हुए।

१०

इस वर्ष के भीतर ही शिक्षक-निवास बनकर तैयार हो गया और कुमारी लक्ष्मी के वहाँ स्थानांतरित हो जाने का दिन निकट आने लगा।

पत्नी ने फिर प्रस्ताव पर असहमत होते हुए कहा—"नहीं यह तो किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता—उन पुरुषों के आश्रम में मेरी कुमारी कन्या अकेली वहाँ रहे। मैं कहती हूँ क्या यही सुधार है? आपकी बुद्धि कहाँ मारी गयी? लोग क्या कहेंगे?"

"कुमार तो है वहाँ उसके साथ के लिए।" विशालजी ने उत्तर दिया। तमककर गृहिणी बोलीं—"कुमार के होने से क्या होता है?"

"वह उसका भावी पति है। सुनो, उन दोनों का एक दूसरे के निकट होना आवश्यक है। एक-दूसरे को समझेंगे, परस्पर प्रेम भाव बढ़ेगा और उनके विवाह को संपन्नता हो जायगी शीघ्रता में भी और सुख में भी।"

"यदि निकट होने से एक-दूसरे ने एक-दूसरे की दुर्बलता पर

ध्यान देना आरंभ किया तो ? नहीं, पहले विवाह, पहले विवाह होने पर ही उन दोनों का साथ रहना युक्तियुक्त है।" पत्नी ने बड़ी दृढ़ता से कहा—"कच्ची बात ठीक नहीं होती। प्रत्येक बात का एक क्रम है। अगला पैर बढ़ाकर ही पिछला पैर बढ़ाया जाता है। परम्पराओं को तोड़ना हानिकर होता है। युगों के अनुभव से ही वे बनी हैं।"

"कौन ऐसी परम्पराओं की पहचान है तुम्हें ? जिस दिन वह आश्रम खुला, उसी दिन उन दोनों का विवाह हो गया। मैं उस आश्रम को ही उनके विवाह की संज्ञा देता हूँ। हर बात में शंका उपजाना मनुष्य के स्वभाव की दुर्बलता है। और जो जैसा सोचता है, वैसा ही प्रतिफल उसे मिलता है। जाड़ों में विवाह के लग्न हैं। उनके आने पर हो जायगा विवाह। वस्त्राभूषणों का संग्रह कर ही रखा है तुमने। विवाह केवल एक बाहरी रीति है। शुद्ध विवाह है दो मानसों की एकता, दो प्राणों का विनिमय! उन दोनों की एकता का प्रत्यक्ष प्रमाण इमें मिलता है आश्रम की उस सजीव सफलता में। केवल हम ही नहीं, समस्त प्रांत ने इसकी साक्षी दी है। रहेगी, कैसे नहीं रहेगी लक्ष्मी वहाँ!" विशालजी ने कुछ न सुनी पत्नी की।

पति पर कोई वश न चल सकने के अनंतर पत्नी ने कन्या पर प्रभाव डालना चाहा। उससे कहा—"मोटी-मोटी किताबें पढ़ लेने से क्या होता है! संसार के अनुभव से शून्य हो तुम, बहुत दिनों से पिता की एकमात्र संतान होने के कारण बड़े लाड़-प्यार में पली हो। तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा, भाव-गति लड़कों की भाँति चलायी गयी है। जो हुआ सो हुआ, अब तो तुम्हें अपनी रीति की ओर ध्यान देना होगा। मैं तुम्हारे आश्रम में शिक्षक होने का विरोध नहीं करती। अकेले उतनों के बीच में तुम्हारा वहाँ रहना सर्वथा आपत्तिजनक है।"

"क्या आपत्ति है माँ ?"

माता कुछ न बोली।

लक्ष्मी ने फिर कहा—"कार्य-क्षेत्र वहाँ है। जब उसमें कुछ नहीं बिगड़ता, तब रहने में क्या हानि है? आने-जाने में मुझे बहुत अतिरिक्त श्रम पड़ जाता है और कर्तव्य की एकता टूट जाती है।"

"कन्याएं तो दिन में ही पढ़कर चली जाती हैं। फिर तुम्हारे और कौन कर्तव्य रह जाते हैं वहाँ ?"

"तुम्हें नहीं ज्ञात है क्या ? हमने वहाँ एक नया प्रयोग आरंभ कर दिया है। हमने छोटे-छोटे बच्चों का एक नर्सरी स्कूल खोल दिया है। वहाँ खेल के मिस उन्हें शिक्षा दी जाती है। उनको छोटपन से ही उचित रहन-सहन सिखाया जाता है ताकि बड़े हो जाने पर उसके अनुसार उनका चरित्र-निर्माण हो जाय अपने आप। उनमें नृत्य-गीत, रेखा-रंग की कलात्मक चेतना भी जगायी जाती है। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा अभी एक सौ वर्ष माँगती है अपने क्रम की परिपक्वता के लिए। एक प्रयोग के बाद दूसरा, एक अनुभव के पश्चात् दूसरा. माँ तुम्हें कुछ पता भी है ! आज तक की शिक्षा तो केवल एक ड्रामा था, एक बहाना था, एक व्यवसाय था। शास्त्र बनने को समय चाहिए।" लक्ष्मी ने पूरा व्याख्यान दे दिया, माता की समझ के भीतर था या नहीं उसे मतलब ? कुछ रह गया था उसे कहा—"और बाल-शिक्षण में पुरुष से अधिक नारी की उपयोगिता मानने लगा है शिक्षा-विज्ञान।"

"कुछ भी हो, तुम वहाँ नहीं रह सकती हो अकेली। यदि कोई दासी तुम्हारे साथ के लिए वहाँ नहीं रक्खी जा सकती, तो मैं चलकर रहूँगी वहाँ।" माता बोलीं।

"असंभव कल्पना ! यहाँ इतने बच्चों को छोड़ दोगी ?"

"अपनी बहन को बुला लूँगी।"

इतना हठ बना लिया माता ने। आरंभ में वह लक्ष्मी के साथ जाकर कुछ दिन आश्रम में रही, शीघ्र ही असुविधा जान पड़ी और लौट आयी अपने घर।

छात्रावास के निकट ही कुछ ऊँचे पर शिक्षक-निवास बनाया गया था। वह दोतला था। ऊपर के तल पर दो सपत्नीक शिक्षकों के लिए कमरे बनाये गये थे। छः-सात कमरे नीचे के तल पर थे। भोजन सबका एक ही जगह बनता था शिक्षक-निवास में पाकशाला कोई नहीं थी।

शिक्षक-निवास के नीचे के तल में दो पुराने शिक्षक रहने लगे, जो आज तक छात्रावास में रहते थे, तथा दो नये नियुक्त शिक्षकों को उसमें स्थान दिया गया था। सपत्नीक शिक्षक अभी तक कोई आया न था आश्रम में, केवल दर्शक-मात्र आते थे। उनके रहने के लिए अतिथि-कुटीर की आयोजना थी।

ऊपर दोतले में जो दो सेट् थे, वे दोनों अपने में सन्निविष्ट सर्वथा अलग थे। प्रत्येक में चार-चार कमरे थे, जिनमें से एक-एक रसोईघर के लिए भी उपयुक्त हो सके, इस प्रकार बनाया गया था। एक सेट् कुमार और एक लक्ष्मी के अधिकार में आया।

कुमार कभी-कभी सोचता था—"बड़ी अद्भुत थी वह नट-योगिनी! यदि वह मेरी छाया बचाने को सम्मत हो जाती, तो कदाचित् मुझे उस आश्रम से न भागना पड़ता। परंतु बलवान् योजक तो कोई और है। उसे यहाँ आश्रम खुलवाना इष्ट था। किस प्रकार वह सिनेमा की नटी अचानक पीछे से आकर मेरी आँखमिचौनी कर देती थी, कभी हाथ पकड़ लेती और कभी कंधे पर लटक जाती। उसका भी क्या अपराध था, स्पर्शास्पर्श की विचार-विहीन सामाजिकता में वह लालित-पालित हुई थी!

मनुष्य की छूत को सामाजिक घोर अपराध समझनेवाला मैं किस प्रकार उसके लिए अपने हृदय में घृणा का संचय करने लगा। वह पथ में नागिन-सी दिखाई देती मुझे और यह लक्ष्मी उसकी ज्योति-सी। यदि आँख खोलकर चलूँ तो कभी ठोकर न खा सकूँ। लक्ष्मी—इसके स्पर्शास्पर्श की चेतना उभरी हुई है मानस में। मेरा प्रस्ताव सहज ही मान्य हो गया इसे। दूर-ही-दूर रहकर हमने जो सामीप्य साधा है, यह आश्रम उसी का प्रमाण है।"

लक्ष्मी और कुमार के बीच का वह छायावाद उन दोनों के ही बीच का रहस्य था। वह आश्रमवासियों पर न खुल जाय, इसके लिए दोनों सदैव ही सतर्क रहते थे।

दोनों के भोजन का प्रबंध आश्रम के रसोईघर में ही था। दोनों वहाँ कभी साथ-साथ भोजन को नहीं गये। लक्ष्मी का सबसे पहले भोजन कर लेने का विधान था। उनके अनंतर कुमार आश्रम-वासियों के साथ खाना खाता।

ध्वजा-वंदन में दोनों का साथ था। प्रभात की वंदना सूर्योदय से पहले होती थी और संध्या को सूर्यास्त के पश्चात्। दोनों वेलाओं में छाया का अभाव था और दोनों निर्भयता से एक दूसरे का साथ दे सकते थे।

ईश-प्रार्थना भवन के भीतर होती थी। शौच-स्नान के बाद वह आश्रम का सर्वप्रथम कार्यक्रम था। प्रभात समय वह ध्वजा-वंदन से पहले होती थी। और संध्या को ध्वजा-वंदन के पश्चात। प्रार्थना-सभा में दीपक जलाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। कुमार ने यह नियम किसी और उद्देश्य से बनाया था। आश्रमवासी समझते थे उसे आश्रम के संचालक कुमार की निराकारवादिता। जिस विराट भगवान् की केवलमात्र एक चिनगारी से सूर्य-चंद्र और कोटि-कोटि तारे उद्भासित हैं, एक

क्षुद्र दीप जलाकर उसका आवाहन करना उसकी अपरिमेयता का उपहास कर देना है।

विद्यालय में दोनों के वर्ग अलग-अलग थे। खेतों और उद्यान में जब कभी उन्हें साथ-साथ काम करना पड़ता, तब वे स्थान सदैव ही सूर्य की ओट में होते थे। योजना उनकी अपनी ही थी।

शिक्षक-निवास में कभी वे एक दूसरे के कमरे में नहीं जाते थे। छाया के साम्राज्य में भी नहीं। धार्मिक पवित्रता से वे इस नियम का पालन करते थे। हाँ, अवकाश के क्षणों में वे एक-दूसरे से बातचीत अवश्य करते थे।

एक दिन रात्रि की निस्तब्धता में जब आश्रम का सारा जीवन विश्राम करने लगा था, लक्ष्मी ने पूछा—"कुमार! सो गये क्या?"

"दीपक बुझा दिया है मैंने, इसी से कहती हो?"

"हाँ, बाहर आ जाओ। प्रकाश की निर्भयता छोड़कर तुम छाया से अभय पाते हो। चंद्रमा नहीं हैं आज आकाश में। ये कोटि-कोटि तारागण अपनी क्षीण आभा से अवश्य ही कुछ कह रहे हैं सोयी हुई धरती से। मैं अकेली नहीं समझ सकती, बाहर आओ। ये केवल अपनी ही ज्योति हैं, हममें छाया नहीं उपजा सकते। खिड़की पर आ जाओ निर्भय होकर ताकि धीरे-धीरे तुमसे कुछ मन की बातें कर सकूं।"

कुमार ने खिड़की खोल दी—"कहो, तुम्हें क्या कहना है?"

"कुमार, स्पर्श की स्थूलता से तुम छाया की सूक्ष्मता पर आये। वाणी क्या छाया से भी सूक्ष्म नहीं है? क्यों उसका आदान-प्रदान स्पर्श नहीं है, जब वह हमारे मनों की एकता साधता है?"

"तुम्हारा तर्क ठीक है। मैंने भी इस बात पर विचार किया है।"

"और भी तो एक बात है। ये हमारे नेत्र क्या ज्योति की किरणों से हमें एक-दूसरे की सन्निधि में नहीं ले आते ? क्या यह भी स्पर्श नहीं है ?"

"यह भी ठीक है।"

"फिर तुम्हारे नियम की अखंडता ?"

"एक ही उपाय है इसका। तुम आँखों पर घूँघट खींचकर परदे की रानी बन जाओ और मैं अधरों पर ताला देकर चिर-मौनी बन जाऊँ।"

"और यह आश्रम, इसकी व्यवस्था और संचालन ?"

"हम लिख-पढ़कर अपने विचार व्यक्त कर लेंगे। सात समुद्र के पार मुट्ठी भर अंगरेजों ने लिखने-पढ़ने के जाल से ही सारा भारत बाँध रक्खा है। हम यहीं रहकर क्या आश्रम को व्यवस्थित न रख सकेंगे ?"

"हाँ, रख सकेंगे। छाया, प्रकाश और स्वरों के स्पर्श बचाकर अब शब्द हमारे संयोग का कारण हो जायगा। शब्द--उच्चारित हुआ तो क्या, लिखित हुआ तो क्या ?" कुमार ने कहा।

"फिर क्या होगा कुमार ? इस युग की नवीनता में इन अंध-विश्वासों के जाल तोड़कर बाहर आ जाओ कुमार ! इनकी श्रेणी समाप्त नहीं हो जायगी--एक के पश्चात् दूसरी। फिर निर्माण नहीं, ध्वंस ही जीवन की विशेपता हो जायगी। इसलिए एक सीमा जो निश्चित कर रक्खी है, केवल उसी पर दृष्टि रक्खो। अधिक सूक्ष्म में जाने से मस्तिष्क के पेंच ढीले हो जाने का भय है।"

"ठीक है। केवल यह छाया का भ्रम छोड़ दो, तो हम अधिक

सुविधा से आश्रम का संचालन कर सकेंगे। छाया सूक्ष्मता है। क्या तुम अभी तक अजान हो ?"

"अजान कैसे ?"

"इस आश्रम की ओट में हम दोनों को एक कर देने के लिए परिणय के सूत्र बटे जा रहे हैं।"

"बटने भी दो।"

"इतनी असावधानी से तुम यह उच्चारित कर गये ? फिर तो सीमा की रेखाएँ बदल जायँगी। छाया का लोप हो जायगा और हमारे प्राणों में एकता स्थापित हो जायगी।"

"नहीं सुन्दरि ? अजान तुम हो।"

"क्या कहा ?"

"यह मेरी प्रतिज्ञा तुम पर खुल पड़ी। आज इस छाया के भीतर का चित्र तुम पर प्रकट करूंगा। सुनो, मैंने प्रतिज्ञा की है जब तक भारत दास है, मैं विवाह नहीं करूंगा।"

"क्रांति सन्निकट हो! क्रांति सन्निकट!" लक्ष्मी चिल्ला उठी—"भारत स्वतंत्र हो कि तुम्हारी ये सारी अंधरूढ़ियाँ विलीन हो जायँ।"

"वे हो जायँ, मुझे आपत्ति नहीं। जब तक नहीं होतीं, तब तक मेरा व्रत नहीं टूटेगा।"

"मेरा भी तो आजीवन कुमारी ही रहने का व्रत है, इसे क्या तुम जानते हो ?"

"नहीं जानता। आश्चर्य-चकित हो उठा हूँ विधाता के इस संयोग पर। परिणय के ऐसे दो विरोधियों के हृदय में क्या उसे ऐसे प्रणय उपजाना था ? परंतु तुम्हारे व्रत में कोई सार्थकता नहीं है। वह अकारण व्रत शीघ्र टूट सकता है।"

"कभी नहीं। यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहे, तो मेरी भी

अक्षुण्ण नहीं रहेगी क्या ? क्या मेरा व्रत और साधना तुम्हारे आश्रम में नहीं है, तुम्हारी छाया में नहीं है ? फिर भी मैं भारत की दासता के वाक्य को उसमें जोड़ लूँगी।"

"ठीक तो है। परंतु एक बाधा है बहुत बड़ी—भारत कब विमुक्त होगा, यह कोई नहीं जानता, हमारे अभिभावक इस परिणय के लिए परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध हैं। यदि उन्होंने आगामी लग्नों में से कोई लग्न हमारे विवाह के लिए निश्चित कर दिया तो ?"

"हम सत्याग्रह कर देंगे, भूख-हड़ताल, सविनय अवज्ञा।"

"हमें अपने नियम के पालन के लिए, दूसरे के वचनों का भी मान रखना होगा। उन्हें करने दो विवाह।"

"फिर हमारी प्रतिज्ञा कैसे स्थिर रहेगी ?"

"विवाह केवल एक शीर्षक के रूप में रहेगा, सूत्र में नहीं !"

"नहीं समझी—विवाह पाणि-ग्रहण है, तुम कैसे मेरा हाथ पकड़ विवाह की प्रतिज्ञा करोगे ?"

"टेलीफोन पर हो जायगा विवाह, अधिक चिंता न करो, रात बीत चली है, सो जाओ, नहीं तो प्रभात समय चार बजे कैसे उठ सकेंगे ?"

"तब क्या विवाह के लिए असम्मति न दिखायी जायगी ?"

"गुरुजनों की अवज्ञा नहीं की जायगी।"

"नहीं समझी। स्पष्ट कहो।"

"समय आने पर स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।"

विवाह के लग्नों के निकट आने पर कुमार के पिता ने निकटतम लग्न निश्चित किया और विशालजी को पत्र लिखा कि यथाशीघ्र उसे स्वीकार कर उन्हें सूचित करें। लग्न लगभग एक ही महीने दूर था।

विशालजी पत्नी के पास पहुँचे—"लो तुम्हारी चिंताएँ दूर हुईं।"

उनके हाथ में पत्र देखकर पत्नी ने पूछा—"किसका पत्र है?"

"विवाह का लग्न, तुम्हारी स्वीकृति के लिए आया है।"

"कितने दिन हैं अभी?"

"पूरा एक महीना। पर्याप्त दिन हैं। स्वीकार है न?"

"मेरी क्या स्वीकृति है। जिसका विवाह होगा, जाकर उससे पूछिए।"

"वह नहीं टाल सकती मेरा कहना। मैं अभी आश्रम को जाता हूँ—परंतु लक्ष्मी की सम्मति लेने नहीं, उसे सूचित करने।"

तुरंत ही आश्रम में जा पहुँचे विशालजी। भोजन के उपरांत मध्याह्न के विश्राम के घंटे थे। लक्ष्मी और कुमार दोनों अपने-अपने निवास में थे।

विशालजी ने लक्ष्मी के कक्ष में प्रवेश किया। मेज़ पर कुछ लिख रही थी वह। पिताजी के आते ही वह उठ खड़ी हुई और उसने विनम्रतापूर्वक अभिवादन किया।

विशालजी ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—"कुमार कहाँ हैं?"

"अपने कमरे में।"

"बुला लाओ यहाँ।"

लक्ष्मी ने कुमार के कमरे के बाहर जाकर द्वार खटखटाए—"कुमार! पिताजी आये हैं, और तुम्हें मेरे कमरे में बुलाते हैं, अभी।"

कुमार चौंक पड़ा—"तुम्हारे कमरे में धूप तो नहीं है?"

"अभी तो नहीं।"

"छाया से रक्षा करना मेरी लक्ष्मी और कृपा कर मेरे इस रहस्य को खुलने भी न देना, तुम्हारे हाथ जोड़ता हूँ।"

बलपूर्वक लाद ली गयी उस विवशता पर हँस पड़ी लक्ष्मी।

"हँसने की बात नहीं, तुम चलो मैं आया।" कुमार ने बड़ी गंभीरता से कहा—'अपनी छाया से दूर मेरे लिए कुरसी रख देना।"

लक्ष्मी चली गयी और उसके वहाँ पहुँच जाने पर कुमार ने बाहर पैर बढ़ाये। बड़ी सतर्कता से उसने लक्ष्मी के कक्ष में प्रवेश किया और विशालजी को प्रणाम किया।

"बिना पूर्वसूचना के ही आ पहुँचा हूँ कुमार, क्षमा करना।"

"आश्रम आपका है, चाहे जब आपका स्वागत है यहाँ।"

"विश्राम में बाधक तो नहीं हुआ?"

"यह भी कोई बात हुई।" अप्रतिभ पड़ता हुआ कुमार बोला।

"बैठ जाओ, बहुत आवश्यक काम है।"

कुमार ने देखा, उसके लिए कुरसी लक्ष्मी के निकट ही पड़ी हुई थी। वह समझ गया, अवश्य ही लक्ष्मी के प्रयास में बाधा दे दी गयी है। उसने कुरसी उठा ली।

"इतनी दूर बैठने की क्या आवश्यकता है।" विशालजी बोले।

कुमार उनके निकट कुरसी रखकर बैठ गया।

विशालजी कहने लगे—'कुमार, यह आश्रम तुम्हारे और लक्ष्मी दोनों की साधना का साम्य है। और हमने तुम दोनों के जीवन का साम्य भी निश्चय किया है।"

कोई नवीन सूचना नहीं थी इसमें उन दोनों के लिए। वे दोनों अविचल ही बैठे रहे अपने-अपने आसनों पर।

विशालजी ने टी-टेबुल पर कुमार के पिता का पत्र रक्खा—"यह तुम्हारे पिताजी का पत्र आया है। उन्होंने इसमें तुम दोनों के विवाह का दिन निश्चित किया है। हमें यह स्वीकार है।" कह

कर विशालजी ने उन दोनों की मुखाकृतियों पर दृष्टि डाली, उन दोनों के मनोभाव पढ़ने के लिए। दोनों चुप। कुमार सोचने लगा, लक्ष्मी क्या कहती है; और लक्ष्मी विचारती थी, कुमार क्या उत्तर देता है।

कुछ देर तक जब दोनों कुछ न बोले, तब विशालजी ने समझा बात पच गयी। उन्होंने प्रस्ताव की प्रगति आगे बढ़ायी—"अभी एक महीना है। अधिक आडम्बर हमें पसंद नहीं है। अतिथियों के स्वागत-सत्कार में भी कोई कमी करना नहीं चाहते हम। विवाह के अवसर पर आश्रम में दो दिन की छुट्टी रहेगी और समस्त आश्रमवासी दो दिन के लिए हमारे अतिथि रहेंगे।"

कुमार मन में सोचने लगा—"यदि भाग जाता हूँ, तो पिता की व्यक्तिगत अवज्ञा के साथ-साथ आश्रम के सामूहिक जीवन में बाधा पड़ती है। दूसरा मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।"

लक्ष्मी विचार कर रही थी—"जब कुमार चुप हैं, तब मेरा पिताजी के प्रस्ताव का विरोध करना उचित नहीं है।"

विशालजी को इतना शीघ्र कार्य सिद्ध हो जाने की आशा नहीं थी। वह पत्नी की शंका और सरलता पर मन-ही-मन हँसने लगे और उन्हें अपनी कार्यकुशलता पर अभिमान हुआ। उन्होंने कहा—"कुमार, तिथि ध्यान में रख ली तुमने ?"

"हाँ।" कुमार ने कहा। और कुमार इतने दिन के उस व्रत के निर्माण को छिन्न-भिन्न होकर भूमिसात होते देखने लगा। उसने अपने मन में कहा—"नहीं !"

परंतु इस सरव 'हाँ' और इस नीरव 'नहीं' का मेल कैसे लगाया जायगा ?—यह उसकी पहेली बन गयी। लक्ष्मी कुमार के मुख की उस उलझन को समझ गयी और साहस कर कुछ बोलने को तैयार होने लगी।

विशालजी उठ खड़े हुए—"इसी डाक से इस पत्र का उत्तर तुम्हारे पिताजी को दे देना चाहता हूँ, इसी से जल्दी में हूँ।"

लक्ष्मी ने अपने विचारों को पलटा देकर कहा—"कुछ फल तो ले आऊँ ?"

"नहीं, कुछ भी नहीं इस समय।"—विशालजी जाने लगे।

कुमार और लक्ष्मी भी दोनों उठ खड़े हुए और उनका अनुसरण करने लगे। आगे-आगे विशालजी थे, फिर कुमार और अंत में लक्ष्मी। बाहर धूप थी, सीढ़ियों पर कुमार के पैर डगमगाने लगे। उसने पीछे दृष्टि कर लक्ष्मी को निहारा।

कुमार की आँखों में दयनीयता देखकर लक्ष्मी द्रवित हो उठी। वह अपनी प्रगति में विराम रख वहीं से लौटकर खिड़की पर चली गयी।

विजय के उल्लसित पदों से विशालजी चले जा रहे थे। उन्होंने पीछे मुड़कर कहा—"कुमार, लक्ष्मी चली गयी ?"

"हाँ।" कुमार धीरे-धीरे बोला।

"कुमार, विवाह मनुष्य की परिपूर्णता है। मन के अनुकूल पत्नी पाने पर उसके पौरुष की वृद्धि होती है। तुम सुगुणों के भांडार हो कुमार ! कहाँ तक आओगे, मैं चला जाऊँगा।" कह-कर विशालजी आगे बढ़ गये।

फाटक तक विशालजी को पहुँचाकर कुमार अपने कक्ष की सीढ़ियों पर आरोहण करने लगा। ऊपर खड़ी हुई लक्ष्मी उच्च स्वर से ताली बजाकर हँसने लगी।

"हँसती क्या हो ! मेरी पराजय हो जायगी, तो क्या तुम्हारा व्रत नहीं टूट जायगा ?"

अचानक जैसे बादलों में चंद्रमा छिप जाय, विषाद की

गहरी छाया से लक्ष्मी का उत्फुल्ल आनन ढक गया। वह जहाँ की तहाँ, खड़ी की खड़ी रह गयी।

"मार्ग छोड़ दो सुव्रते!"

बड़ी अन्यमनस्कता से लक्ष्मी दो पग पीछे को हटी। कुमार ने उसकी द्रुत आरोहित गंभीरता को लक्ष्य किया—"क्यों, क्या बात है? परस्पर की जय-पराजय में हम दोनों का समान भाग है—एक ही साथ अग्नि की वेदी में हम दोनों की प्रतिज्ञाओं की आहुति पड़ेगी। इसलिए हमारी भिन्नता दूर हुई। हम मानसिक विवाह में ग्रथित हो गये। सुंदरी! परंतु तुम सोच क्या रही हो?"

"कुमार! कुछ पूछना है तुमसे।"

"कहो।"

"नहीं, मेरे कमरे में चलो। पिताजी आज खोल गये हैं न उसे तुम्हारे लिए! छाया और स्पर्श की विभक्ति के लिए वहाँ विस्तार तो है न पर्याप्त?"

"चलो।"

कुमार एक कुरसी पर बैठ गया। लक्ष्मी द्वार बंद करने लगी।

"यह क्या करने लगीं।"

"अपनी उज्ज्वलता में निर्भयता को भी सन्निवेशित करो। हमें किसका डर है? आश्रम में हमारे इस असाधारण संबंध की समस्त कानाफूसियाँ कल को हमारे विवाह की त्वरित बधाइयों में बदल जायँगी।"—लक्ष्मी ने द्वारों पर सिटकनी भी लगा दी। वह मुँह लटकाये हुए कुछ दूर दूसरी कुरसी पर बैठ गयी।

"क्यों, तुम क्यों एकाएक उदास हो गयी?"

"कुमार, तुम ज्योतिष को कैसा समझते हो?"

"उसके सत्य-असत्य की कभी कोई परीक्षा तो की नहीं।"

"फिर भी कोई धारणा तो बनायी होगी?"

"कुछ भी तो नहीं। मैं कर्मवादी हूँ, भाग्यवादी नहीं।"

"इस जन्म की संगति और स्थिति के आधार पर तो पूर्व जन्म के कर्मों की परंपरा है और न जाने कितनी दूर भविष्य तक वह सविधान है। इसलिए स्मृति से मिटे हुए भूतकाल और दृष्टि से छिपे हुए भविष्य पर क्या ज्योतिष कुछ प्रकाश डाल सकता है ?" लक्ष्मी ने पूछा।

"अतीत चिंताओं का स्रोत है और भविष्य आशा की तृष्णा। इन दोनों का बहिष्कार कर क्यों न हम केवल वर्तमान के ही श्रम में संतोष करें ?"

"कुमार, क्या ज्योतिष सच हो सकता है ?" लक्ष्मी ने फिर पूछा।

"तुम बार-बार इसी प्रश्न को दुहराती हो। क्यों ? स्पष्ट कहो क्यों पूछ रही हो, तुम कैसा समझती हो उसे ?"

"नहीं कह सकती कुछ, परंतु मैं भयभीत हो उठी हूँ। राजनैतिक दासता से इन अंधरूढ़ियों का पाश अधिक भयंकर जान पड़ता है मुझे। उसको तोड़ देंगे, परंतु यह दूसरी ? इसकी जड़ बड़ी गहरी है।" बड़ी निराशा से लक्ष्मी ने कहा।

"बात खोलकर कहो।"

"हमारा विवाह नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं ? स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् तो हमारी प्रतिज्ञा बाधक नहीं होगी।"

"नहीं तब भी नहीं।" दीर्घ श्वास छोड़कर लक्ष्मी ने उत्तर दिया।

"क्यों ?"

"क्योंकि मेरा अनुराग तुम पर बढ़ चला है।"

"तब तो यह आगामी लग्न ही ज्योतिषी ने ठीक ढूंढ़ निकाला

है। उत्साहित होओ सुन्दरि ! ज्योतिष सच्चा है।" कुमार ने हर्षित होकर कहा।

परंतु लक्ष्मी का मनोभाव न बदला—"यदि ज्योतिष सच्चा है, तो हमारा विवाह एक असंभवता है !"

"पिता के सामने तो गूंगे पशु की भाँति हो गयी थीं। तुम यदि एक भी अक्षर खोल देतीं, तो मैं विवाह का विरोध पूरे व्याख्यान से कर देता। मेरे पिता, विशालजी और मौन सम्मतियुक्त तुम—बहुमत जब विवाह के पक्ष में, हो गया तब फिर युक्तियों के पर्वत सिर पर उठाकर भी मैं क्या कर सकता ?"

"कुमार, मैं तुम्हें चाहती हूँ। इसलिए नहीं चाहती कि मेरे दुग्रहों का आखेट तुम्हें बनना पड़े।"

"आखेट कैसा ?"

"एक ज्योतिषी ने मेरे पिता से कहा है कि इस कन्या के विवाह के अनन्तर इसके वैधव्य का योग है !"—हृदय कड़ा कर लक्ष्मी को कहना ही पड़ा।

वह ज्योतिष पर विश्वास और अविश्वास कुछ भी न रखनेवाला कुमार एक क्षण के लिए बाण-विद्ध-सा हो गया। उसके मुख में शब्द, कंठ में श्वास और नाड़ियों में रक्त मानो जम गये। उसको भी अनुभव हुआ— भारत को स्वाधीनता एक सहज-सुलभ वस्तु है, परंतु उसकी अन्धरूढ़ि उसके हृदय में धँसी वह अडिग कील है जिसकी अनंत गहराई का कोई छोर ही नहीं है। कुमार ने अंत में साहस संग्रह कर कहा—"ज्योतिष झूठा है, बिलकुल झूठा है।"

"नहीं कुमार, ये शब्द तुम्हारे अन्तर की गहराई से निकलते नहीं जान पड़ते।"

कुमार अंतर की गहराई में टटोलने लगा। लक्ष्मी की आशंका दिखाई देने लगी क्या उसे वहाँ? काल के हाथों का कच्ची मिट्टी का खिलौना मनुष्य, साइंस की ज्योति से भविष्य के मार्ग नहीं देख सकता! ग्रहों के प्रकाश में उसने जो अग्रिम भूमिका बनायी है, क्या वही ज्योतिष है! सुख का ही सतत अन्वेषण—और सुख केवल एक चपल कल्पना!

"तुम्हारे पिता क्यों फिर तुम्हारा विवाह कर देना चाहते हैं?"

"कदाचित् उन्हें ज्योतिष पर विश्वास नहीं है।"

"माता?" कुमार ने पूछा।

"माता पर यह प्रकट नहीं है!"

कुमार सोचने लगा—"मेरे माता-पिता को भी यह सत्य विदित नहीं है। होने पर क्या कहेंगे वे! क्या कहेंगे वे—मेरे पौराणिक पिता?"

कुमार ने कहा—"ज्योतिषी कौन था वह?"

लक्ष्मी—"पिताजी का एक सम्भ्रांत मित्र। वह अंगरेजी भी पढ़ा-लिखा था। और यह भयानक सत्य उसने पिताजी पर अंगरेजी भाषा के माध्यम द्वारा ही खोला था।"

कुमार—"तुम्हारे सामने?"

लक्ष्मी—"नहीं, मुझसे छिपाकर।"

कुमार—"बड़ी अशिष्टता की उसने। भला ऐसी बात भी कोई कह देने की है। यह भाग्य का फल कहना नहीं हुआ, गाली देनी हुई। अवश्य ही वह व्यक्ति अपने हृदय में तुम्हारे पिता से छिपाकर वैमनस्य रखता होगा।"

लक्ष्मी—"भगवान् जानें। जब ज्योतिष ऐसी गाली भी दे देता है, तब लोग क्यों उस पर आकृष्ट होते हैं?"

कुमार—"वह केवल उजाला ही उजाला दिखाये, माधुरी ही सामने रक्खे, तो उसकी वैज्ञानिकता सिद्ध कैसे हो? सुख और दुःख दोनों ही तो भूत की सृष्टि में थे और भविष्य के गर्भ में रहेंगे। विज्ञान पक्षपात नहीं करता। ज्योतिष जहाँ एक अंधकार दिखाता है, वहीं उसका प्रतिकार भी तो बताता है। उसने नहीं बताया?"

लक्ष्मी—"मैं नहीं जानती।"

कुमार—"कोई दान-दक्षिणा, पूजा-प्रयोग, जप-ध्यान, तंत्र-मंत्र, कुछ नहीं?"

लक्ष्मी—"मुझे नहीं ज्ञात है।"

कुमार—"मैं बताता हूँ। जिस प्रकार स्वप्न का सिंह, सिरहाने रक्खे हुए खड्‌ग से नहीं भगाया जा सकता, उसका भय स्वप्न में ही शस्त्र उत्पन्न कर जीता जा सकता है, उसी प्रकार तुम्हारे इस झूठे भय को दूर करने के लिए एक दूसरे झूठ की कल्पना कर सकते हैं।"

लक्ष्मी—"वह क्या?"

कुमार—"सुनो, आगामी लग्न में तुम्हारा विवाह एक वृक्ष के साथ कर दिया जाय। कुछ दिन बाद वह वृक्ष काट दिया जाय कि वह ज्योतिष सत्य हो जाय। उसके पश्चात् फिर किसी दूसरे लग्न में मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कर लूँ।"

लक्ष्मी—"है क्या ऐसा विधान कहीं?"

"घन-घन-घन-घन"—आश्रम के कार्यारंभ की घन्टी बज उठी। उन दोनों ने बात वहीं पर तोड़ दी और अपना-अपना कार्य-भार सँभालने चले गये।

पूर्ण मनोयोग से उस दिन कुमार आश्रम का काम न कर सका। दिन भर वह विवाह की ही दुविधा में पड़ा रह गया। वह सोचने लगा—"स्वामीजी के सामने यह प्रतिज्ञा की थी,

यदि वह यहाँ होते तो अवश्य उनके पास जाता। निश्चय ही इस भयानक मानसिक जाल के भीतर से वह मेरे लिए मार्ग निकाल देते।"

स्वामीजी बड़े वेग से राष्ट्रीय आंदोलन में आये और इसी वेग से न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये। जनता में तो आकर्षण और प्रियता उन्होंने अपने लिए उपजायी थी, वह सब खो गयी। जो जनता उनका नाम सुनकर उमड़ पड़ती थी, उसकी उत्सुकता जाती रही। जन-आंदोलन में नेता यदि समय की नवीनता को ग्रहण करता न जाय, तो प्राचीन पड़कर अपना प्रभाव खो बैठता है।

स्वामीजी ने अपने आंदोलन को शुद्ध सांस्कृतिक रूप दे दिया। इसमें संदेह नहीं राष्ट्रीयता की एक संस्कृति है। परंतु आरंभ में ही जनता को संस्कृति का मोह नहीं हो सकता। उसे सबसे पहले पेट भरने को रोटी चाहिए और फिर तन ढकने को कपड़ा। पहली आवश्यकता को चरम लक्ष्य के आवरण से ढका नहीं जा सकता। जनता को जो उसकी दैनिक आवश्यकता की पूर्त्ति का भरोसा दे सकता है, वह उसी की जय पुकारती है। भूखे पेट कौन संस्कृति के स्वप्न देख सकता है? किसे धर्म सूझता है? रोटी पर ही साहित्य, रोटी पर ही कला ठहरी हुई है। रोटी ही राग है और रोटी ही है नृत्य का उल्लास! रोटी है तो सब कुछ है, रोटी नहीं तो कुछ भी नहीं।

कुमार सोचने लगा—"भवदा होते, तो उन्हींसे इस संकट में कुछ सहायता अवश्य मिलती।"

भवदा ने साहित्य की ओर पग बढ़ा दिये थे। उनका अनुसंधान-प्रिय मस्तिष्क रिसर्च कर ग्रंथ-प्रणयन करने लगा। वह यूरोप-भ्रमण के प्रोग्राम बनाने लगे।

कुमार इसी सोच-विचार में पड़े थे कि उन्होंने दूर पर हयग्रीव जी को आते देखा। हयग्रीवजी कुमार के बहुत पुराने साथियों में से थे। आज उन्हें बहुत दिनों बाद देखने पर कुमार प्रसन्न हो उठा।

हयग्रीवजी के पक्ष का कभी पता नहीं चलता था। लोक-आंदोलनों में वह भाग लेते थे अवश्य, पर माया-मृग की भाँति कभी उनसे दूर, कभी उनके निकट, कभी छिपते और कभी प्रकट। कभी स्वतंत्रता-दिवस की प्रार्थना दुहराने में वह सबसे आगे और उनका स्वर सबसे ऊँचा रहता था, कभी किसी सत्याग्रह में पकड़े जाकर वह लिखित क्षमा माँगकर महीनों अदृश्य रहते। पिता के उत्तराधिकार में पायी हुई खोड़ की नौकरी छोड़ देनी पड़ी थी उन्हें।

गाँव में कुछ हल की खेती थी उनके। वह चाचाजी की अध्यक्षता में थी। कभी दस-बीस दिन के लिए शरणार्थी के रूप में रह सकते थे वह वहाँ, गृहस्थ के नियमित सभासद के रूप में कदापि नहीं।

दिन भर सोते, अखबार पढ़ते, सरकार की बुराई करते, चाय पीते और बीड़ी का धुआँ छोड़ने के अतिरिक्त और कोई काम न था उनका गाँव में। जब चाचीजी की फटकारें असह्य हो उठतीं उनके, तब उन्हें कर्कशा, गँवार और क्षुद्रमनोवृत्तिवाली के विशेषण देकर फिर नागरिक बन जाते।

डाकखाने की पास-बुक में कुछ तीन-चार अंकों तक के रुपये छोड़ गये थे हयग्रीव के पिताजी। वह ग्रीष्म की धूप के रक्खे गए हिम के डलों की भाँति कुछ भाप बनकर आकाश में और अधिकांश जल बनकर भूमि में न जाने कहाँ समा गये थे?

काम कोई नहीं छोड़ा था हयग्रीवजी ने। पान की दूकान उन्होंने खोली, उप-आहार तथा विश्रांति-गृह उन्होंने चलाया, सिगरेट की एजेंसी उन्होंने ली, बिस्कुट-फैक्ट्री उन्होंने आरंभ की। सभी जगह व्यय का पलड़ा झुकता रहा!

जनप्रियता से दूकान चलती थी अ जनप्रियता माँगती थी राष्ट्रीयता में साझा। आज स्कूलों में हड़ताल कराने की तैयारी है, तो कल को शराब की भट्ठी में धरना देना है। आज विदेशी कपड़ों की होली है, तो कल को स्वदेशी चरखे का दंगल। दूकान में बैठने का अवकाश ही कहाँ मिलता था हयग्रीवजी को! सारा काम नौकरों पर छोड़ना पड़ता था उन्हें। कुछ दोस्त-मित्रों के अतिथि-सत्कार में बह जाता और कुछ डूब जाता उनके उधार-खाते में। एक साइनबोर्ड पर सफेदा पुतवाकर हयग्रीवजी उसपर दूसरी कंपनी का नाम लिखवाते। एक मकान-मालिक की नोटिसों की परवा न कर दूसरे के इकरारनामे में हस्ताक्षर ठोकते।

कब तक ऐसे काम चलता? ऊब उठे अंत में हयग्रीवजी दूकानदारी से और ठेकेदारी करनी आरंभ कर दी, कभी सप्लाई एजेंट बन गये। जान-पहचान हो गयी थी नगर में छोटे-बड़े सभी वर्ग के लोगों से। अच्छे वाचाल और चतुर थे। कभी-कभी बहुत परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु भी थे। ईमानदार भी कहे जा सकते हैं। बिना दूसरे को हानि पहुँचाये अपना लाभ उठाने से चूकते नहीं थे। कोई उनकी बातों से रीझकर, कोई उनकी जीविका का ध्यान कर और कोई उनकी देशभक्ति का विचार कर उन्हें कुछ-न-कुछ काम दे ही देते थे।

हयग्रीवजी का अभी तक विवाह नहीं हुआ था। पाठक यह न समझ लें कहीं कि उस दिन स्वामीजी के कुमार-संघ का यह कुमार के अतिरिक्त दूसरा सभासद है। हयग्रीवजी विवाह करने

को तैयार तो हैं कई वर्षों से। चाचाजी ने जो गाँव की लड़की निश्चय की थी उनके लिए, उसे एक दम अस्वीकृत कर दिया था उन्होंने। फिर उन्होंने कभी उनके विवाह का नाम भी नहीं लिया। जैसी कन्या हयग्रीवजी चाहते थे, वैसी कौन दे देता उस युवक को, जिसके न रहने का कोई एक ठिकाना, न खाने की एक थाली; न कोई नौकरी थी, न संचित भूमि या संपत्ति ही। नगर में हो-हल्ला मचानेवालों में नंबर एक आंदोलनों का प्राण चाय के प्याले में तूफान उठा देनेवाला, बात-बात में विदेशी शासन का विरोध करनेवाला--सभी जानते थे हयग्रीव का एक पैर सदैव ही जेल के भीतर है।

कुमार ने आगे बढ़कर हयग्रीवजी का स्वागत किया—"आओ मित्र, आज मैं स्वामीजी के साथ-साथ अपनी पुरानी मित्र-मंडली की स्मृति में था। उनमें से एक तुमको पाकर मैं प्रसन्न हुआ हूँ। आज बहुत दिनों में आये।"

"बहुत दिनों में कैसे? तुम्हारे आश्रम के वार्षिकोत्सव में उपस्थित था। दो भाषण भी दिये थे। बड़े आदमी होते जा रहे हो न--कैसे याद रह सकेगा।" हयग्रीव ने कुमार की पीठ पर थपकी देकर कहा।

"आधे वर्ष से अधिक हो गया वार्षिकोत्सव को हुए। वह क्या कल की बात है?" तीव्र प्रतिवाद किया कुमार ने।

"कहाँ से मित्र? राष्ट्र की चिंता अलग ठहरी, पेट की अलग। कभी ठेकेदारी और कभी नेतागिरी। तुम सबसे खरे रहे। एक आश्रम बना सारे बवाल से बाहर निकल आये हो। मत्थे तो हमारे बज रही है। नगर में कभी कोई बड़ा नेता आया, तो आश्रम की नंगे पैर सेना के नेतृत्व में तिरंगा झंडा फहराते हुए अपने प्रभाव की कील ठोक आते हो तुम उनके मस्तिष्क में। मारे-मारे

फिरने को हम हैं, अधिकारियों की लाल दृष्टि के निशाने और उनके तीखे शस्त्रों के शिकार !" हयग्रीवजी ने कहा।

"भाई यह भी तो सब राष्ट्र का ही काम है। सभी सक्रिय आंदोलन में लग जायँ, तो रचनात्मक कार्य कौन करेगा ?"

भड़क उठे हयग्रीवजी जैसे कोई पथ भूला हुआ पशु भड़क जाता है अपरिचित वातावरण में लाल वस्त्रों को देखकर—"क्या राख रचनात्मक कार्य है तुम्हारा ?"

कुमार अप्रतिभ हो उठा—"है कैसे नहीं, हमारी राष्ट्रीयता का सारा आधार शिक्षा पर नहीं है क्या ? विदेशियों के शासन की ये विगत शताब्दियाँ हमारी मूढ़ता की ही साक्षी हैं। सारा देश निरक्षरता और अंधविश्वासों के कारण बँटा हुआ नहीं है क्या ? हमारे पारस्परिक लड़ाई-झगड़े, राग-द्वेष क्या हमारी अशिक्षा के परिणाम नहीं है ?"

"आश्रम में ही कौन सी शिक्षा फैला दी है तुमने ! क्या यहाँ से लड़ाई-झगड़ा, राग-द्वेष सब विदा कर दिये तुमने ? मुझसे कुछ छिप नहीं सकता मित्र ! इस आश्रम के जन्म के समय ही नहीं, उसके कई महीने पश्चात् भी मैंने तुम्हारा हाथ बटाया है यहाँ।" हयग्रीव बोले।

"क्या कमी है फिर हमारे आश्रम में ? तुम हमारे सह-कार्यकारी हो। तुम्हारे आक्षेप नहीं, तुम्हारी अनुमति चाहिए हमें।" कुमार ने कहा।

"क्या है तुम्हारे आश्रम में ? जिसको कहीं ठौर नहीं, उसका यहाँ ठिकाना, जिसके कहीं मुट्ठी भर अन्न नहीं उसका यहाँ आश्रय ! ये सब जिह्वा-लोलुप, भोजन की गंध पाते ही सब भीड़ लगा देते हैं वहाँ पर। राष्ट्र त्याग माँगता है, ये त्याग कर सकते हैं ? नवीन

इंद्रियाँ हैं इनकी, पेट भरे नहीं हैं इनके, लालसाओं के भरे हुए हैं ये।" हयग्रीव बोले।

"मित्र! आज तुम बहुत कटु हो गये हो। कारण क्या है? हमारे ही अंग हो, इसी से तुम्हारे ये कटाक्ष सहन हैं मुझे। परंतु तुम्हें कुछ और न कह केवल अपना मतलब कहना उचित है।" कुमार ने शान्त मुद्रा में कहा।

"क्या है तुम्हारे आश्रम में? कुछ इमारतें अवश्य हैं। आश्रम में घास-फूस की छतें होती हैं—ये भवन हैं और तम इसके चारों ओर दीवाल बनाकर इसको दुर्ग में बदल देना चाहते हो? आश्रम का अर्थ है अकृत्रिमता, प्रकृति का संसर्ग और आवश्यकताओं की विहीनता।" हयग्रीव ने कहा।

"कुछ समवेदना जगाकर देखो इस ओर, आरंभ सदैव ऐसे ही होते हैं। पक्षपात छोड़कर विचारो—हमने शिक्षा और जीविका का साथ किया है। विदेशी शिक्षालयों से पास छात्र को यदि नौकरी न मिले, तो वह घर के लिए भार हो जाता है और हमारे विद्यार्थी को नौकरी की खोज नहीं रहेगी। उसे ऐसी शिक्षा दी गयी है जिससे उसने मन में ऊंचा विचार जगाया है और हाथों में जीविका का साधन। वह स्वावलंबी हुआ है।"

"क्या स्वावलंबी हुआ है? तुम्हारा आश्रम ही स्वावलंबी नहीं है—छात्र क्या होंगे? बाहर का हाहाकार यहाँ तुम्हारे आश्रम में भी है। कभी आटा नहीं, तो कभी चावल समाप्त। कभी दाल का टोटा है, तो कभी तेल की बोतल रिक्त! चंदे से न शिक्षण-संस्थाएँ खुलती हैं, न शिक्षण संस्थाओं से पूँजी बनती है। इसलिए मेरी बात सुनो, बाहर चलो।"

"बाहर कहाँ?" चौंककर कुमार ने पूछा।

"प्रजा में, और कहाँ? उसकी ध्वनि को एक करना ही सबसे

बड़ी रचनात्मकता है। पहले स्वराज्य लो--,बजट पर अधिकार करो—,तब होगी शिक्षा। संसार द्वितीय विश्व-युद्ध की ज्वालाओं में तप रहा है। जगत का मानचित्र क्षण-क्षण में परवर्तित हो रहा है। एशिया की दुर्बल जातियों के जागने का समय आ गया है। अगर इस समय अपने अधिकार न ले सके, तो फिर कभी नहीं मित्र !" हयग्रीव ने बड़े साहस के साथ कहा।

"क्या किसी नये सत्याग्रह की बात चल रही है ?"

"इस कोने में तुम्हें क्या पता है ? दो-तीन समाचारपत्र पढ़ लिये तुमने और समझ लिया तुम हो गये संसार से संबद्ध ! पलटन की भरती खुली हुई है, सारा पहाड़ रिक्त कर लिया जा रहा है। क्यों हमारी जन-शक्ति विदेश की भूमि पर अपना रक्त बहावे ! क्या मतलब है उनका हमें बलपूर्वक उस युद्ध में घसीट ले जायँ। हम बिके हुए हैं क्या, इन विदेशियों के क्रीतदास हैं क्या ? देश के इस ध्वंस पर दृष्टि नहीं जाती तुम्हारी कुमार ! राष्ट्र का आदेश चाहते हो तुम ? तुम अंग हो राष्ट्र के, तुम्हारे भीतर क्या उसकी ध्वनि नहीं है ? ऊचा करो उसे—जनता साथ देगी कैसे नहीं ? हमारे गिरि-प्रांत का सारा पश्चिमी भाग पुरुषों से रिक्त हो गया। केवल बच्चे, बीमार और बूढ़ों को छोड़कर सब स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ ! घर और खेतों पर स्त्रियाँ, पथ और पनघटों पर स्त्रियाँ ! उत्सवों में केवल स्त्रियाँ एवंम् जब कोई मर जाता है, तब उसे श्मशान ले जाने को भी स्त्रियाँ ! क्यों ऐसी विभीषिका ? हमने अंतर्जातीय राजनीतिज्ञता का कौन-सा ऐसा अपराध किया है कि यह विश्व-युद्ध हमारे सिर लाद दिया जाय ? क्यों हमारे गाँव उजाड़ दिये गये हैं? क्यों हमारे खेतों की हरियाली और हमारे घरों का प्रकाश मिटाया जा रहा है ?"

कुमार के मन में एक ज्योति-सी जल उठी। वह अब तक

बहुत क्षुब्ध होकर हयग्रीव की कटु आलोचना सुन रहा था। अब समझने लगा उसे, यह तो कोई देव-संदेश लेकर आया है मेरे पास। दिन भर की जिस उधेड़-बुन से उसका मस्तिष्क थक गया था, उसमें शांति का अनुभव होने लगा उसे। वह बोला—"फिर क्या करने को कहते हो?"

"ऊँची ध्वनि से विरोध करो इस अत्याचार का। चुप-चाप अत्याचारों को सहना क्या मनुष्यता है?"

"आश्रम का क्या होगा?"

"चिंता ही छोड़ो उसकी। यदि उसकी उपयोगिता होगी, तो रह जायगा वह स्वयं ही।"

"एक सप्ताह का समय दो। लिये हुए उत्तरदायित्व को ऐसे ही छोड़ दूँगा, तो कैसे नये उत्तरदायित्व में पूर्णता दूँगा?" कुमार बोला। "मैं समझ गया तुम्हारी बात, तुम्हें कुमार को इस आश्रम में देखना पसंद नहीं है, तुम उसे जेल का मार्ग दिखाने आये हो। मैं जाने को तैयार हूँ उधर ही। मेरे मन में कुछ भी भय नहीं है उसके लिए।" कुमार ने स्थिरता से कहा।

"वचन दो।"

"वचन देता हूँ।"

हयग्रीव चला गया। कुमार को जान पड़ा, वह उसके लिए औषधि बनकर चला आया था। उसके मस्तक की पीड़ा दूरित हो गयी।

कुमार चुपचाप अपना कार्यक्रम बनाने लगा। उसने लक्ष्मी को सांत्वना दी और कहा—"हमारी मनोकामना पूरी हो जायगी। हमें मानसिक बल प्राप्त हो, यही प्रार्थना निरंतर भगवान् से करनी पड़ेगी।"

कोई स्पष्टता कुमार ने लक्ष्मी को नहीं दी थी, इससे उसका कौतूहल बना ही रहा। विवाह के तीन सप्ताह शेष रह गये।

उस दिन संध्या समय अचानक कुमार ने सुना हयग्रीवजी गाँवों में रंगरूटों की भरती के विरुद्ध प्रचार करने के लिए पकड़ लिये गये हैं।

कुमार ने मन में कहा—"मैं हयग्रीवजी के मन में आश्रम के प्रति द्वेष-भाव रखता था। इन्होंने सचमुच एक स्पष्ट मार्ग मेरे सामने रख दिया। मुझे इस पर आरूढ़ होने में कोई देर न करनी चाहिए। यह देश की मुक्ति में भी सहायक होगा, इससे मेरा मानसिक बंधन भी टूट जायगा और फलत: लक्ष्मी भी अपनी समस्या में सुलझ जायगी। भारतमाता की जय ! अब मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है, इसी समय।"

वह लक्ष्मी के पास गया और कहने लगा—"मैं जा रहा हूँ लक्ष्मी ! सावधान, रोकना नहीं मुझे ?"

"कहाँ ? तुम कहाँ जा रहे हो ?"

"कर्तव्य की पुकार में। आश्रम का भार तुम्हें सौंपकर। " कुमार की गति में वेग था।

"ठहरो, सुनो, मैं अकेली नहीं रह सकती यहाँ।"

"मैं तुम्हारा साथ भी नहीं दे सकता, विना विवाह किये। विवाह नहीं होगा हमारा। मैं लोक-निंदा नहीं ले सकता, मैंने माता की पुकार सुनी है।"

कुमार चला गया।

११

कुमार चला गया। लक्ष्मी ने उसे रोका नहीं। उसका अनुसरण भी वह कैसे कर सकती ? उसने देखा, वह उसके हृदय के भार को लेकर चला जा रहा था, संकुचित और टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी मार्ग पर। कंकरीले पथ पर उसका नंगा पैर था और अंग में गिनती के वस्त्र,। उसके वस्त्रों में कहीं कोई जेब न थी। उसने आश्रम और सहारे के समस्त उपकरणों की तुच्छता घोषित कर दी थी।

लक्ष्मी उसे जाते हुए देखकर सोचने लगी—"जाकर कुमार का हाथ पकड़ मार्ग रोक लूँ? नहीं मेरे स्पर्श में उनके लिए अभिशाप है। जाने दूँगी उन्हें।" हठात् उसके मानस में एक अन्यथा विचार लहराने लगा—"अपने लिए कोई अनिष्टकर घटना तो नहीं सोच ली उन्होंने ? नहीं, वह अनिष्ट मेरी छाया में है, उसका भय मेरे ही पास छोड़कर तो जा रहे हैं। उन्होंने मुझसे अभी कहा है, वह 'कर्तव्य की पुकार' का अनुसरण कर रहे हैं। वह मुझसे झूठ न बोलेंगे। केवल यही तो एक मार्ग है। नहीं रोकूँगी उनका मार्ग। जो उत्तरदायित्व मुझे सौंप गये हैं वह, उसे पवित्रता से पूर्ण करूँगी।"

समस्त आश्रम अपने कार्यक्रम में व्यस्त था। किसी को अभी ज्ञात न हो सका था कि उनका संचालक आश्रम के रचनात्मक कार्यक्रम से ऊबकर संघर्ष के मैदान में कूद पड़ा है।

केवल लक्ष्मी को ही यह बात ज्ञात थी। उसने जब कुमार को नगर की ओर बढ़ते हुए देखा, तब उसे बड़ा संतोष हुआ। कुमार के मार्ग में अदृश्य हो जाने पर भी वह बड़ी देर

तक वहीं पर खड़ी रह गयी। अचानक एक छात्र ने आकर उसकी अन्यमनस्कता तोड़ दी और उसे कार्यक्रम की ओर खींच लिया।

कुमार सीधा नगर में जा पहुँचा। उसे ज्ञात हुआ, हयग्रीवजी को तीन साल का कठोर दंड मिला है। नगर में प्रचुर उत्साह था—जेल जाने के लिए नहीं, जेल जानेवाले को देखने के लिए! लोग हयग्रीव के साहस और त्याग की प्रशंसा कर रहे थे।

संध्या समय कुमार के व्याख्यान का आयोजन किया गया। कुमार सत्य के तर्कना में, भाषा के प्रवाह में और भाव की ओजस्विता में हयग्रीवजी से कहीं बढ़कर था। सारे नगर में उसके प्रति श्रद्धा थी। लोग उमड़ पड़े उसका व्याख्यान सुनने।

कुमार ने अनुपम शौर्य से राष्ट्र के निश्चय की व्याख्या की। विश्व-युद्ध में भारत के जन-धन को खींच लेना उसने गोरी जातियों का अत्याचार घोषित किया। उसने भारत के सांस्कृतिक, नैतिक, सामाजिक और आर्थिक पतन का उत्तरदायित्व उस शासन-प्रणाली पर रक्खा, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए भारत की निरपराध संतान को बलि का बकरा बनाया है।

हयग्रीवजी के भाषण के पश्चात् अधिकारियों में बड़ी सतर्कता आ गयी थी। कुमार आधे घंटे ही बोल सका होगा कि पुलिस आकर उसे पकड़ ले गयी। जनता ने कुमार के जय-नाद से सारा नगर सिर पर उठा लिया। कुछ वहाँ पर ताली बजाकर चले गये, कुछ ने मकान की छतों पर से उस पर अक्षत फूल बरसा दिये। दो-चार इने-गिनों ने हवालात की देहली तक उसका साथ दिया और जब वह उसके भीतर प्रविष्ट हुआ,

तब अकेला ही था। विदा होते समय उसने लक्ष्मी के लिए उत्साह-पूर्वक आश्रम की व्यवस्था में लगे रहने का संदेश दिया तथा विशालजी की सेवा में यह प्रार्थना भेजी कि उसकी जमानत या उसके बचाव के लिए कोई प्रयत्न न किया जाय।

कुमार के उस भीषणतम विद्रोह के लिए अधिकारी कोई जमानत स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न थे और विशालजी उसी दिन प्रभात समय विवाह का कुछ सामान क्रय करने के लिए मुरादाबाद और दिल्ली चले गये थे।

कुमार का न्याय हुआ। न्याय कहिए या उसका प्रदर्शन। उसे भी तीन साल का कठिन कारावास मिला। वह बरेली की जेल में भेज दिया गया।

लक्ष्मी के विवाह की उमंगों में भरे हुए विशालजी जब पाँचवें दिन घर को लौट रहे थे, तब हल्द्वानी के मोटर-स्टेशन पर ही उन्हें कुमार के कारावास का दुखद समाचार मिल गया था। उनकी सुध-बुध जाती रही। वह सोचने लगे—"वह धीर और समझदार लड़का, उसने यह क्या कर दिया! जेल ही जाना था तो विवाह के पश्चात् जाता। एक ही पखवारा तो विवाह का और शेष था। कोई भी नहीं समझा सका उसे? रचनात्मक कार्यक्रम में चुपचाप लगा हुआ वह किससे कम राष्ट्र-सेवा कर रहा था? कोई आवश्यकता नहीं थी उसके जेल जाने की। वह किसके बहकाने में आ गया!"

क्या करें, क्या न करें—इसी उधेड़-बुन में विशालजी मोटर में यात्रा कर रहे थे। मार्ग में मिलते हुए, मनोरम दृश्यों पर उन्हें कोई आकर्षण न था, परिचित मित्रों से उन्होंने अधिक बातें नहीं कीं। नहाया-धोया भी नहीं था उन्होंने। भूख-प्यास सब चली गयी थी उनकी। बल-पूर्वक मुँह-हाथ धुलाकर मित्रों ने कुछ चाय

पिला दी थी उन्हें हल्द्वानी में। किसी प्रकार वह शीघ्र से शीघ्र अल्मोड़ा पहुँच जाना चाहते थे।

मोटर गरमपानी के स्टेशन में रुकी। परंतु विशालजी अपने आगे की सीट पर से हिले नहीं। लाठी में दोनों हाथ रक्खे उस पर सिर जमाये, मार्ग के श्रम और जागरण से श्रांत कुछ ऊँघते हुए भारी चिंता में डूबे हुए थे। मोटर के प्रायः सभी यात्री एक-एक कर भोजन आदि के लिए गाड़ी से उतरने लगे, पर विशाल-जी टस-से-मस नहीं हुए।

महेशजी, विशालजी के सहयोगी बड़े पुराने कार्यकर्ता थे। पिछले बीस वर्षों से वह राष्ट्रीयता के मैदान के सुदृढ़ सैनिक थे। साहस से प्रत्येक अवरोध का सामना किया उन्होंने। जेल भी गये, बिना किसी लालच के लोक-जागरण में भाग लिया। कभी झूठे बहाने दिखाकर मुँह नहीं छिपाया।

बड़े सीधे-सादे। वेश-विन्यास, वृत्ति-व्यवहार में कोई कृत्रिमता न थी उनके। बोल-चाल में सच्चे और मधुर। आस-पास के सभी ग्रामों में उनका प्रभाव था। जो कह देते, वही निश्चय उपयुक्त होता और जनता आँख बंद कर उसका अनुसरण कर लेती थी।

गरमपानी में उन्होंने एक कताई-बिनाई का केंद्र खोल रक्खा था। आयु के बार्धक्य से दौड़-धूप करने में अशक्त हो गये थे, परंतु दिन भर केंद्र में बैठे-बैठे उसकी व्यवस्था करते, ऊन कातते और भारत के नवीन राष्ट्र-धर्म की व्याख्या करते थे अपढ़ ग्राम की जनता में।

केंद्र के निकट ही मोटर रुकी थी। महेशजी का ध्यान उधर गया। देखा उधर, मन में कहा—"कौन? विशालजी ही तो हैं।"

तुरंत ही उठकर उनके निकट गये और विशालजी के कंधे पर हाथ रखकर कहा—"नमस्कार महाराज !"

विशालजी चौंक पड़े। बड़ी उदास मुद्रा में उन्होंने अभिवादन का उत्तर दिया।

"पहचाना नहीं क्या आपने ?"

विशालजी चकराये—"क्यों नहीं ?" बैठे ही बैठे वह बोले।

"क्या कुछ असुख है ? आइए, कुछ जल-पान कर लीजिए।"

"नहाया भी नहीं है।"

"उसका भी प्रबंध हो जायगा। मोटर रुकेगी कुछ समय। दस-पंद्रह मिनट तक ठहरायी जा सकती है। बहुत दिन पश्चात आज आपका दर्शन-सौभाग्य मिला है।" महेशजी ने कहा।

पुराने मित्र का आग्रह न टाल सके विशालजी, फिर उनपर अपने मन की पीड़ा व्यक्त कर कुछ भार हलका कर सकने का विश्वास भी उपजा था उनके हृदय में।

महेशजी ने पूछा—"कहाँ से चलाई हो रही है आज।"

"देहली से।"

"किसी राष्ट्रीय कार्य से ?"

"नहीं, अपने ही मतलब से। नये समाचार क्या हैं ?"

"नये समाचार ? हाँ आपके आश्रम का कार्यकर्ता कुमार रंगरूटों की भरती के विरुद्ध प्रचार करने के लिए पकड़ा गया है। अभी कल ही तो वह दोपहर के समय पुलिस की लारी में इधर से गया है। बड़ा होनहार और तेजस्वी जान पड़ता था। विजय की आभा उसके एक-एक रोम से प्रतिफलित हो रही थी। 'भारत-माता की जय !' पुकारते-पुकारते उसका कंठ रुद्ध हो रहा था, परंतु

वह रंचमात्र भी अपने उत्साह में पश्चाताप्द नहीं था। मैंने अपने हाथों से उसे एक गिलास दूध पिलाकर अपने को धन्य समझा।"

विशालजी ने स्नान करते-करते महेशजी पर कुमार के विवाह-संबंध की तथा उसकी योग्यता की सारी बातें प्रकट कर कहा—"अभी तक एक उत्साह से घर को जा रहा था कि अधिकारियों से बातचीत कर उसके विवाह तक उसे जमानत में छुड़ा सकूंगा, पर अब वह बात भी जाती रही।"

महेशजी ने देखा, विशालजी मोह में पड़ गये हैं। वह बोले—"नहीं आपको कुछ भी चिंता नहीं करनी चाहिए। विवाह के लग्न जब चाहें तब ढूंढ़े जा सकते हैं, परंतु देश के लिए त्याग करने की घड़ी सौभाग्य से ही किसी के हाथ लगती है। उसे छुड़ाने का प्रयत्न करना, उसके त्याग को कलुषित कर देना होगा।"

विशालजी के लिए भोजन बनकर आया।

विशालजी ने धीरे-धीरे कहा—"परंतु कन्या अवस्था में बहुत बड़ी हो गयी है।"

"मैंने देखा है उसे। पढ़ी-लिखी समझदार कन्या है। अंतर-राष्ट्रीय स्थितियाँ विकट हैं, हमारे प्रभुओं का बिना हमसे सम-झौता किये निस्तार नहीं है। पहले तो कुमार तीन वर्ष से पहले ही छूट जायगा। तीन वर्ष बाद भी सही, तो क्या चिंता है। जहाँ अब तक कन्या का विवाह नहीं हुआ, तीन वर्ष और सही।"

"लोग भाँति-भाँति के आक्षेप करते हैं।"

"उनकी मूढ़ता पर आपको अपनी बुद्धि न खो देनी चाहिए। भोजन कर लीजिए।" महेशजी बोले।

"यह तो बहुत है और मोटर भोंपू देने लगी है।"

"बिना आपको लिये वह नहीं जा सकता।"

विशालजी ने आधी से अधिक पूरियाँ उठाकर अलग रख दीं। वह भोजन करने लगे। महेशजी ने अनेक प्रकार से बातें कर उनके साहस को दृढ़ किया और खिला-पिलाकर उन्हें विदा किया।

घर पहुँचकर विशालजी ने पत्नी पर रोष प्रकट कर कहा—"तुमने समझाया नहीं था उन्हें।"

"समझाती किसे? उन दोनों में से कोई आया होता जब मेरे पास।" पत्नी ने शांति के साथ कहा।

"तार भिजवा देतीं मेरे पास।"

"पता कौन-सा छोड़ गये थे आप यहाँ?"

"लक्ष्मी कहाँ है?"

"आश्रम ही में तो। मैंने दो दिन आदमी भेजकर घर लौट आने का आग्रह किया था, उसने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया।"

विशालजी विश्राम और भोज दोनों की उपेक्षा कर मुँह बना उसी समय आश्रम की ओर चल पड़े। मार्ग में उनको दो-तीन राष्ट्रीय कार्यकर्ता मिले, जिन्होंने कुमार को हवालात तक पहुँचाया था। उन्होंने विशालजी पर कुमार की यह आंतरिक इच्छा प्रकट की कि उसे छुड़ाने का कोई प्रयत्न न किया जाय।

आश्रम में पहुँचकर विशालजी ने देखा, लक्ष्मी प्रसन्नचित्त आश्रम के कार्यक्रम में संलग्न है। आश्रम की कर्मशीलता में कोई कमी न आने पर भी कुमार के अभाव से विशालजी उसमें शून्यता देखने लगे।

संध्या अपनी दीर्घ छायाओं में वसुंधरा को ढकने लगी थी,

आश्रम के कुछ विद्यार्थी खेल-कूद में मस्त थे और कुछ उद्यान के खेतों पर काम कर रहे थे। लक्ष्मी ध्वजा के मैदान में चारों ओर निरीक्षण करती हुई भ्रमण कर रही थी।

पिता को आता हुआ देखकर वह उनके पास बढ़ गयी। लक्ष्मी को यह ज्ञात न था कि कई दिनों के प्रवास के पश्चात् पिता घर लौटे हैं।

विशालजी ने पहला वाक्य कहा लक्ष्मी से—"लक्ष्मी, तुम रोक सकती थीं कुमार को।"

लक्ष्मी के मन के भीतर किसी ने उससे कहा—"हाँ लक्ष्मी, तुम रोक सकती थीं कुमार को।" लक्ष्मी चुप रह गयी।

विशालजी ने फिर कहा—"ऐसी चपलता कुमार के स्वभाव में कभी नहीं देखी थी मैंने! क्योंकर उसके विचार ने ऐसा पलटा खाया? तुम्हें ज्ञान है कुछ?"

"नहीं।"

"आश्चर्य है। कुमार बरसों से अपने जीवन के संबंध की छोटी-से-छोटी बात के लिए भी मेरी अनुमति लेता था और आज इतनी बड़ी घटना में सम्मिलित होने से पहले उसने मुझसे कोई बात नहीं की। जाते समय तुमसे कुछ तो कह गया होगा?"

"स्पष्ट रेखा में कुछ भी नहीं, केवल एक संकेत दिया कि मैं भारतमाता के आह्वान का उत्तर देने जा रहा हूँ।"

"तुम्हारे साथ कोई मतभेद, मनोमालिन्य या विग्रह तो नहीं हुआ?"

"नहीं।"

"निश्चय !"

"हाँ, निश्चित हूँ मैं।"

"विवाह से बचने के लिए तो यह मार्ग नहीं ढूँढ़ निकाला उन्होंने ?"

लक्ष्मी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"मेरी आशा तो तोड़ ही गये वह, आश्रम के सिर पर भी भारी आघात पहुँचा गये।"

"वह आश्रम का उत्तरदायित्व मुझे सौंप गये हैं।"

"तुम क्या निभा सकोगी उसे ?"

"चेष्टा करूँगी। एक-दो सहकारी शिक्षक रखने पड़ेंगे।"

"कुमार के इस प्रकार अग्नि में कूद जाने पर तुम्हें कोई निराशा या खेद नहीं होता लक्ष्मी ?"

"विवाह की अग्नि से कदाचित् यह अग्नि उनके लिए सुरक्षा-मय हो।" कई वर्ष पहले की उस ज्योतिषी की भविष्यवाणी का उल्लेख कर लक्ष्मी ने यह कह देना चाहा पिताजी से। परंतु वह रुक गयी।

विशालजी इस घटना से अत्यंत खिन्न हो उठे। क्या करें, क्या न करें, किसी बात पर निश्चितमति न हो सके।

लक्ष्मी ने कहा—"पिताजी, आपने नहीं कहा उनसे कुछ ?"

"मैं तो अभी दिल्ली से आ रहा हूँ। मैं यदि नगर में होता, तो कदापि जाने नहीं देता उन्हें। राष्ट्र के कार्य का बाधक होने का अपराधी तो नहीं होता। तुम्हारे विवाह तक अवश्य रोक लेता उन्हें। अब क्या होगा ? मुझे एक-एक घड़ी भारी जान पड़ती है। तीन वर्षों का यह दीर्घ विस्तार कैसे व्यतीत होगा ?"

बड़ी कठिनता से उस असमंजस में विशालजी केवल एक

निश्चय पर आये। वह था आश्रम में रहकर स्वयं उसका संचालन करना।

आश्रम के संचालन और व्यवस्था की जो रूप-रेखा कुमार की बनायी हुई थी, विशालजी केवल उसके साक्षीमात्र हो सकते थे, स्वयं शिक्षक होकर उसमें भाग नहीं ले सकते थे। कभी वह काम किया ही न था जीवन में। एक सहायकशिक्षक रख लिया गया।

फिर कुमार के मन में राष्ट्रीय शिक्षा का एक ध्येय था, परंतु अनुकरण करने के लिए मार्ग-क्रम धूमिल था। नित्य के नये प्रयोग और नित्य के नये अनुभव। केवल एक आदर्श था उसके सामने—वह था मस्तिष्क की विद्या और हाथ-पैरों के श्रम की ऐसी एकता साध ली जाय कि व्यक्ति को पेट भरने के लिए परावलंबी न होना पड़े।

विज्ञापन में कुछ होता है, प्रदर्शनी में कुछ होता है, भाषण में कुछ होता है और लेख में कुछ। कुमार यह सब जानता था। एकांत में बैठकर जब वह आश्रम की वास्तविकता सोचता, तब अपनी दुर्बलता की चिंता करता। पर वह धैर्य धारण कर फिर उत्साह से आगे बढ़ता। सोचता—"आश्रम की शिशु-अवस्था है, धीरे-धीरे ही तो आगे बढ़ा जा सकेगा।" वह बराबर विद्या और श्रम की, विचार और कर्म की, मस्तिष्क और हाथ-पैरों की समता के सूत्र में विश्वास रखता हुआ अपने प्रयोगों में लगा रहता। उसे ध्येय के सत्य में विश्वास था और परंपरा की जड़ता को अपने राष्ट्र की ही दासता का वरदान समझता।

विशालजी को जब अपने समय का अधिकांश आश्रम के बीच बिताना पड़ा, तब उन्हें सिद्धांत और वास्तविकता का

अंतर ज्ञात होने लगा। वह विचार और कर्म के साम्य पर सशंकित हो गये।

उन्होंने आश्रम के वातावरण का विश्लेषण किया। सभी व्यक्तियों में उन्होंने जो स्वाभाविकता पायी, वह थी आश्रम का कम-से-कम काम कर अपना व्यक्तिगत लाभ अधिक-से-अधिक प्राप्त कर लेना। "अपनी उदारता से क्या कुमार ने सारे आश्रम को चमका रखा था ? यह वातावरण क्या उसकी सन्निधि में दूसरे प्रकार का था ? मेरे आ जाने से ही ऐसा हो गया ?"—विशालजी बार-बार सोचते थे।

एक दिन एक बूढ़ा ग्रामवासी, दो-पली टोपी पर जीर्ण मिरजई पहने, बगल में एक मैली धोती में कुछ बाँधे हुए नंगे पैर उस आश्रम की ओर बढ़ रहा था। उसके मस्तक पर क्षितिज के समानांतर चंदन की रेखाएं थीं, और उसके हाथ में आकाश और धरती का जोड़ मिलाती हुई एक सुदृढ़ और मोटी बाँस की लाठी।

विप्र था वह, दरिद्रता उसके साथ-साथ चल रही थी। उसकी दरिद्रता कदाचित् उसके आलस्य से इतनी सजीव थी, जितनी उसकी तृष्णा से। त्याग ही संकल्प की दृढ़ता है और दृढ़ संकल्प पर ही ब्राह्मण का स्थैर्य है। अव्यवस्था के मूल-मंत्र-सा लाठी के सहारे वह ब्राह्मण खिंचा जा रहा था आश्रम की ओर सुदामा की भांति लौटकर अपनी झोपड़ी में अट्टालिका के दर्शन करने के लिए।

वह आश्रम के सड़क पर के फाटक पर आया। उसने विशाल अक्षरों में पढ़ा—"राष्ट्रीय आश्रम।" उसने लंबी साँस लेकर श्रम का साफल्य माना और फिर धीरे-धीरे आश्रम की ओर चला गया।

विप्र के बारह वर्ष का बालक था। बड़ी कठिनता से उन्होंने

उस बालक का लालन-पालन किया था। माता एक वर्ष का उसे छोड़कर चल बसी थी। किसी प्रकार ग्यारह वर्ष तक कष्ट सह लिया था पिता ने। और कोई साथी-संबंधी न था उनके। पास-पड़ोसी दयावान थे। पर अब बालक वयस्क हो गया था। चपल और झगड़ालू स्वभाव का था। नाममात्र की कुछ खेती भी थी बेचारे के पास थी। अधिकतर इधर-उधर जीविका के लिए दौड़ना पड़ता था उसे। नित्य ही घर लौटकर आने पर पुत्र कोई-न-कोई उलझन खड़ी कर रख देता था उनके लिए।

कभी इस बच्चे से लड़ा, कभी किसी दूसरे के पत्थर मार दिया। कभी किसी की दीवाल तोड़ दी, कभी किसी का आँगन मैला कर दिया। कभी किसी की जड़ खोद दी, कभी किसी के फल तोड़ लिये। पास-पड़ोसी ऊब उठे थे और निधन पिता बार-बार कहता—"कहाँ फेंकूँ इस ऊधमी को?"

मार-मारकर ग्राम की पाठशाला में बिठा जाता था पिता उसे, पर वह शीघ्र ही अध्यापकजी की दृष्टि बचा भाग जाता। उसे पीटते-पीटते पिता पराजित हो चुके थे और बालक को मार पच गयी थी।

एक दिन अध्यापकजी ने कहा—"यह बालक यहाँ नहीं पढ़ सकता। इसे मार-मारकर कहाँ तक विद्यार्थी बनाओगे? मेरी बात मानो तो तुम इसे 'राष्ट्रीय आश्रम' में भरती करा दो।"

"कहाँ है वह?"

"नगर के निकट ही तो वह आश्रम खुला है। स्वराज्य का आश्रम।"

"क्या हुआ स्वराज्य?"

स्वराज्य की प्रकृत व्याख्या थी इंद्रियों के बंधन से मन को

मुक्ति, समाज के सबसे ऊँचे वर्ग का जन्मसिद्ध अधिकार। परंतु यह गहराई जनता की समझ के बाहर की बात थी।

अध्यापकजी ने व्याख्या की—"अपना देश, अपना राज!"

निर्धन विप्र की आँखें चमकने लगीं, पर उसने अपना संशय सामने रक्खा—"राज तो गोरे साहबों का है।"

"हमारी दासता का सबसे बड़ा कलंक ही ऐसा सोचना है। विदेशियों ने हमारी धरती का ही हरण नहीं किया है, हमारे विचारों को भी बाँध लिया है।"

"किसका है फिर राज?"

"जिसकी धरती।"

"आश्रम में राज करना कैसे सिखाया जाता है? आश्रम में तो तपस्या सिखायी जाती है—योग, साधना, संध्या, प्राणायाम!"

"हम दासता के कीचड़ में सर्वाङ्ग सने हुए हैं। इस समय का सारा योग उसकी मुक्ति का है, समस्त साधना भी उसी की है।"

"इस धूर्त को भरती कर लेंगे वे?"

"क्यों नहीं, सेवा उनका ध्येय है। दो-तीन दिन की यात्रा की दूरी पर रहेगा यह घर से, नये वायुमंडल और नवीन जनों के बीच में, नये संस्कार जगा लेगा। संगति का फल होता है। पढ़ाई-लिखाई ही नहीं, काम-धंधा भी सीखेगा यह वहाँ। मेरा तो विश्वास है दो-चार वर्ष अगर यह वहाँ रह गया, तो निश्चय ही देश का कल्याण ही नहीं करेगा, तुम्हारे सुख-संतोष का भी कारण हो जायगा।"

विप्र ने मन ही मन प्रसन्न होकर अध्यापकजी से कहा—"अपनी धरती अपना राज! परंतु मेरी तो बहुत थोड़ी-सी खेती

है। बादलों के समय पर पर्याप्त जल बरसा देने पर भी तो मेरे पेट को पूरा नहीं पड़ता।"

"यहाँ तो इस राज्य का अभिशाप है। दिन भर परिश्रम करने पर भी किसान भूखे और नंगे हैं। उन्हें एक जून आधा पेट भी भोजन नहीं मिलता।" अध्यापकजी ने कहा।

"अध्यापकजी पढ़े-लिखे हैं। नित्य समाचारपत्रों का पाठ करते हैं।" विप्रजी ने सोचा—"उनको झूठ बोलने से मतलब?" पूछा उन्होंने—"कितना व्यय देना पड़ेगा प्रति मास?"

"व्यय? कुछ नहीं।"

"भोजन-वस्त्र का?"

"उसका भी कुछ नहीं। लड़का ऊन कातेगा, खेतों में काम करेगा। अपने रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा का व्यय स्वयं उत्पन्न करेगा।"

विप्र की एक-एक नस फड़क उठी। उन्हें और चाहिए क्या था? लड़के के भोजन-वस्त्र की चिंता गयी, पढ़ाई-लिखाई अलग होगी और रात-दिन के उसके ऊधमों से जान अलग छूट जायगी। यह सोचकर वह एक दिन उस बालक का हाथ पकड़ चार-पाँच दिन के संबल का आटा कंधे पर लटका चल पड़े और उस बालक को आश्रम की शरण में रखकर निश्चिन्त हो लौट आये थे।

यह छः महीने पहले की बात है। विप्र का वह बालक चाहे जैसा भी उपद्रवी था, उस निर्धन का सारा जगत् उसी में सीमित था, उसके सारे जगत् का प्रकाश भी वही था। उस बालक के विछोह की अब अधिक अवधि उन्हें खलने लगी। आश्रम में एक दिन रह उसकी दिनचर्या देखकर वह अच्छी आशाएँ बाँधकर घर लौट आये थे। छः ही महीने में उस बालक में काया-पलट के दर्शन

करने के लिए अधीर हो उठा वह और आश्रम के मार्ग में चल पड़ा।

फाटक पार कर वह विद्यालय में पहुँचा। खेल के मैदान में कुछ बालक खेल रहे थे। उनमें अपने पुत्र को समझकर वह पुकारने लगा—"सीकिसन! सीकिसन!"

एक बालक ने उत्तर दिया—"सीकिसन नहीं है यहाँ।"

सीकिसन के पिता घबराकर सोचने लगे—"भाग गया क्या कहीं को वह ?" फिर कुछ साहस बाँधकर उसने पूछा—"कहाँ है सीकिसन ?"

"उद्यान में देखो।"

कुछ धीरज हुआ। उद्यान में जाकर पुकारा। किसी ने कह दिया—"गौशाला में।"

गौशाला में भी नहीं मिला। एक विद्यार्थी ने कहा—"वह तो पाकशाला में है।"

पाकशाला में जाकर कहीं उसकी पुकार का उत्तर मिला—"हाँ.कौन है ?" उत्तर देनेवाला ओट में था और पुकार में पिता की ध्वनि न पहचान सका वह।

"मैं हूँ, तुम्हारा पिता, कहाँ हो तुम ?" कहकर पिता ने मन में कल्पना की, सीकिसन अपने राज की उज्ज्वलता में अपने ऊधम को गँवाकर पिता के पास दौड़ा आवेगा।

वह नहीं आया। पिता ने समझा, वह बड़ा आदमी हो गया है, मुझे ही स्वयं उसके पास जाना चाहिए। उसकी स्थिति जानने के लिए उसने फिर पुकारा—"सीकिसन! कहाँ हो तुम ?"

पाकशाला के पीछे से कोई ऊँचे स्वर में रो उठा—"हूँSSS"

पिता ने पहचाना, वह सीकिसन ही था। रोने की ध्वनि के सहारे जब वह वहाँ पहुँचा, तब उसने देखा, सीकिशन अपने भार से कहीं बड़ी पतीली को माँज रहा है। उसके दोनों हाथ मिट्टी, घास और कालिख में सने हुए हैं। पिता को सामने पाकर पुत्र और भी ऊँचे सप्तक में चिल्लाने लगा!

पिता ने समझा, कई महीनों पर भेंट होने से ही बिछुड़े बालक का स्नेह उमड़ पड़ा है। उनका भी कंठ गद्‌गद् हो गया। उन्होंने पूछा—"और नहीं है कोई साथ में?"

"नहीं।"

"तुम्हारी अवस्था के और बालक तो खेल रहे हैं।"

"हाँ।"

"तुम क्यों नहीं गये खेलने?"

"मुझे बर्तन मलने हैं।"

"क्या नित्य तुम्हें ही मलने पड़ते हैं?"

"नहीं, सबकी बारी लगी है।"

"एक ही एक विद्यार्थी की?"

"नहीं, चार-चार की।"

"फिर तुम्हें अकेले ही क्यों?"

सीकिसन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"हाथ धो लो तुम। मैं माँज देता हूँ इसे तुम्हारे बदले।"

"नहीं पिताजी, मैं माँज लेता हूँ अभी शीघ्र ही। एक ही बर्तन तो रह गया अब।"—कहकर सीकिसन ने द्रुत गति से हाथ चलाये।

पिता बोले—"अरे, क्या यही है अपना राज? यह तो वहीं

गाँव में ही था अपने। फिर इतनी दूर क्यों पहुँचाया मैंने तुम्हें ?"

सीकिसन पतीली खगालने में व्यस्त था।

"मैं कहता हूँ सीकिसन यह क्या हो गया तुम्हें ? क्या खाने को नहीं मिलता तुम्हें ?"

"क्यों नहीं पिताजी।"

"गायें भी तो हैं। दूध भी मिलता है कुछ ?"

"हाँ, एक बार; परंतु उसमें पानी भी रहता है बहुत।"

"गायें तो कई हैं। फिर दूध जाता कहाँ है ?"

"बड़े-बड़े विद्यार्थी पी जाते हैं—बड़े दरजों के, उनके दूध में पानी भी नहीं मिलाया जाता।"

"क्यों ?"

"कहते हैं, वे वैसा ही पचा सकते हैं।"

"और तुम्हारे पाचन के लिए दूध पतला किया जाता है।"

ऐसा ही जान पड़ता है। कुछ दूध जमा दिया है। कुछ बेच दिया जाता है। जमाया हुआ दही विलोया जाता है। मट्ठा विद्यार्थियों को मिलता है।"

"और मक्खन ?"

"मक्खन शिक्षकगण खा जाते हैं।"

"क्यों खा जाते हैं ? जब स्वराज तुम सबका है, तब मक्खन को—सार पदार्थ को उड़ा जानेवाले शिक्षक होते कौन हैं ?"

"वे दिन भर सिर खपाते हैं। इसके अतिरिक्त मक्खन का दाम प्रति मास उनके वेतन में से कट जाता है, भोजन के व्यय के साथ।"

"यह कट जाने की बात समझ में नहीं आयी। जब वे वेतन किसी और जगह से लाते, तब उसकी काट-छाँट भी उचित थी।"

साँकिसन बर्तन उठाकर रसोईघर में रखने लगा। पिता ने सहायता दी।

पिता ने पूछा—"अब कहाँ जाओगे ?"

"घंटा बजने पर ध्वजा-प्रार्थना के मैदान में। अभी कुछ देर है।"

दोनों वहीं एक चबूतरे पर बैठ गये।

पिता ने निराशा के साथ कहा—"खाने-पीने को यह है, समझ में आ गया। काम कितना करना पड़ता है ?"

"दिन भर। कभी किताब, कभी ऊन, कभी घास, कभी लकड़ी—खेती-पाती, झाड़-बुहारी, बासन बर्तन सभी कुछ तब।"

"और मक्खन-मिश्री उड़ा जाने के लिए वेतन कुछ नहीं ?"

"नहीं।"

"बेटा, चलो घर चलो। इतना काम वहाँ कर लोगे तो घर पर ही स्वराज हो जायगा, घर से तीन दिन के रास्ते में बैठने की आवश्यकता ही क्या है ?"

"नहीं पिताजी !"

"जिस दिन मैं तुम्हें यहाँ भरती करा गया था, मुझसे कहा था तुम्हारे प्रधानजी ने कि यहाँ पाँचों उँगलियाँ बराबर हैं। सब पर एक ही दृष्टि रक्खी जाती है, समान ही व्यवहार किया जाता है। चलो उनके पास चलें। मैं पूछूँगा उनसे कि यह भेद-भाव क्यों है। यह कैसा स्वराज है ?"

विप्रजी ने न जाने स्वराज का कैसा अर्थ लगाया था। बिना परिश्रम किये ही न जाने वह कैसे सुख की साधना थी? प्रकृति का यह कठोर नियम है, जो श्रम नहीं करेगा वह स्वस्थ भी नहीं रहेगा।

सीकिसन ने कहा—"वह तो चले गये।"

"कहाँ चले गये?"

"पकड़ गये। जेल में बंद हैं, तीन साल के लिए।"

सबसे अधिक मक्खन उन्होंने ही उड़ाया होगा आश्रम का?"

"यह क्या कह रहे हैं आप? वह स्वराज्य के लिए गये हैं जेल।"

"झूठ बात! स्वराज्य क्या चोरी है कोई, जिसके लिए जेल जाना पड़े? तुम बालक हो, अभी संसार को नहीं समझते।"

ध्वजा-वंदना का घंटा बजा। सब छात्र और शिक्षक मैदान में झंडे के चारों ओर एकत्र होकर गीत गाने लगे। पिता दूर पर खड़े होकर कुछ देर उसे सुनते रहे, बड़ा सुंदर लगा वह उन्हें। रसोईघर से धुँआ आते देख वहाँ चले गये।

देखा, एक व्यक्ति चूल्हा जला रहा था। सीकिसन के पिता ने पूछा उससे—"तुम नहीं गये वहाँ गीत गाने?"

"सभी चले जायँगे तो पेट-पूजा कैसे होगी?"

"खाना बनाने की भी बारी है क्या?

"उसकी बारी कैसे हो सकती है?" कुछ रिसाकर चूल्हा फूँकते-फूँकते वह व्यक्ति बोला—"खाना पकाने का शास्त्र है एक, और उसे ठीक-ठीक सबको पहुँचा देना यह दूसरी कला है। बारी कैसे लग सकती है इसमें?"

वृद्ध की समझमें आ गयी बात। बोला—"तो आप महाराज हैं, विद्यार्थी नहीं?"

"जी हाँ।"

"नौकरी हुई आपकी, वेतन भी मिलता होगा ?"

"जी हाँ।"

"घी-मक्खन वेतन में से कटकर मिलता है, या साबुत ही अलग ?"

महाराज की कुछ समझ में नहीं आया। कुछ देर उस बूढ़े पर अचल दृष्टि रख मन में कहने लगा--"गँवार जान पड़ता है यह, आज ही आश्रम में आया है।"

बूढ़े ने अपना परिचय दिया--"मैं सीकिसन का पिता हूँ।"

"कौन सीकिसन ?"

"मेरा बेटा सीकिसन और कौन सीकिसन ?"

"सीकिसन दो हैं यहाँ। बड़ा सीकिसन या छोटा ?"

"वह सीकिसन, जो अभी यहाँ बर्तन मल रहा था।"

"छोटा सीकिसन कहो।"

"महाराज, वह छोटा लड़का अकेले ही बर्तन मल रहा था, बेचारे पर दया नहीं करते आप ?"

"वह आश्रम के भंडार में से गुड़ चुराकर खा गया था। यहाँ मारपीट, गाली-गलौज से दंड देने का नियम नहीं है। बेगार से दंड वसूल किया जाता है।" महाराज ने कहा। चूल्हे में लपटें उठने लगी थीं। उसने एक बड़ी भारी कढ़ाई उसके ऊपर रख दी और उसमें तीन छोटी-बड़ी बाल्टियों का दूध छानकर उँडेल दिया।

पुत्र की चरित्र-गाथा सुनकर पिता को दबना पड़ा। बोला—"बड़ा दुष्ट लड़का है यह, पीटने ही से ठीक होगा।"

"सभी ऐसे हैं बालक। माँ-बाप थोड़े बैठे हैं उनके यहाँ।

मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता का नाम है भूख। छोटे पकड़ में आ जाते हैं, बड़े साफ निकल जाते हैं।" महाराज ने हँसकर कहा।

महाराज की उदारता पर बूढ़ा मोहित हो गया और कहने लगा—"महाराज, आपकी शरण में है यह सीकिसन।"

"कौन सीकिसन ?" महाराज ने फिर ताड़ना दी।

"छोटा कहते हो, तो छोटा ही सही। यही छोटा सीकिसन; लेकिन मुझसे कहा गया था यहाँ सब बराबर हैं।"

"सब बराबर हैं! झूठी बात! कभी हो ही नहीं सकता! झंडा-प्रार्थना के पश्चात् ईश-प्रार्थना होगी। फिर दोनों यहाँ आवेंगे। देख लेना बड़ा सीकिसन बड़ा ही है और छोटा छोटा ही। चाहे आँख से नापो, चाहे हाथ से। सबकी बराबरी हो कैसे सकती है? छोटा-बड़ा भगवान् की रचना है। पाँचों उँगलियाँ बराबर हैं, ये केवल कहने की बातें हैं, सौदा पटाने की बोली है केवल। कहाँ हैं पाँचों उँगलियाँ बराबर! बीच की सबसे बड़ी है, तो अँगूठा सबसे बलवान।" महाराज ने उच्च घोष में कहा। वह सूनी घासलेट के टीनों से छायी हुई पाकशाला गूँज उठी!

"छोटा ही सही महाराज। यह छोटा सीकिसन आपकी शरण में है। यह मातृहीन है और इसका पिता मैं गरीब ब्राह्मण, जीते जी भी मरे हुए के ही समान हूँ। नटखटी करे जभी, इसके कान खींच दिया करना।"

"ना भाई मुझसे यह नहीं होगा।" कान पकड़कर महाराज उठे और एक कलछुल उठाकर गरम होते हुए दूध की कढ़ाई में डालकर बोले—"छात्रों की कनपकड़ी के लिए इतने शिक्षक लोग हैं। मैं तो बस लोहे की कढ़ाई की कनपकड़ी करता हूँ या पानी के नल की। जो कुछ मिल जाता है उसे उबाल, भून, सेंककर सबको खिला-पिलाकर बराबर कर देता हूँ। और कुछ नहीं जानता।"

"यही मतलब है मेरा। खाते समय तनिक ध्यान रख देना उसका। बड़ा उग्र स्वभाव का है, खाते समय अवश्य ही रोष में भरकर उठ जाता है।"—गिड़गिड़ाकर वृद्ध ने कहा।

"उठ जाने दो, यहाँ अम्माजी थोड़े बैठी हैं जो थाली लिये-लिये फिरेंगी उन्हें मनाती हुई दिन भर। एक दिन की एकादशी से वह उपदेश मिलेगा कि जनम भर याद रहेगा। आप जाइए प्रार्थना हो रही होगी। वहाँ जा सकते हैं आप। कोई रोकेगा नहीं। हाँ, रोटी खाने यहीं आइयगा।"

सीकिसन के पिता समझ गये महाराज उन्हें टाल रहा है। चल दिये। दो दिन आश्रम में रहे। जो कुछ देखा-भाला, उससे अपने राज का सपना तो दूर हो गया, परंतु पुत्र की अवस्थिति आश्रम में घर से कई गुना अच्छी ही समझी।

तीसरे दिन वह विदा होने लगे। आश्रम के संचालक विशाल-जी के पास जाते समय भेंट करने के लिए गये और बोले—"आज जा रहा हूँ। लड़का आपकी शरण में है सरकार!"

"सरकार! सरकार कोई नहीं। हम सब समान ही हैं।" विशालजी बोले।

"नहीं हैं समान। हो भी नहीं सकती समानता।" बूढ़े ने कह ही तो दिया।

वह वाक्य बाण-सा लगा विशालजी को वह बोले—"हमारे त्याग और तपस्या का ऐसा मूल्य आँक रहे हो तुम। क्या विषमता पायी है तुमने यहाँ?"

"कुछ नहीं, जाने दीजिए।"

"नहीं तुम्हें कहना पड़ेगा। मैं प्रत्येक मनुष्य के भावों का आदर करता हूँ, कहो। तुम्हारा दैन्य कोई बाधक नहीं है। कहो, यदि

सत्य तुम्हारा आधार है, तो मैं उसके आगे अपना मस्तक विनत कर दूंगा।"

"आपके आश्रम में छोटे बच्चे सबसे अधिक काम करते हैं और माल उड़ा जाते हैं बड़े, बुरा न मानियेगा महाराज। एक पागल की सी बात समझ लीजियेगा इसे। नमस्कार।" बूढ़ा विदा हो गया।

कुछ दूर तक सीकिसन उसे पहुँचा आया। फाटक पर पहुँच कर बूढ़े को मार्ग में एक खड़िया का टुकड़ा पड़ा मिला और उसने 'आश्रम' शब्द को काटकर उसके ऊपर लिख दिया—जेल—'राष्ट्रीय जेल' वह चला गया।

शायद उन्हीं दिनों कुमार ने जेल की भीषण यातनाओं को हँसते-हँसते सहन करते हुए अपनी बैरक के फाटक की दीवाल पर एक कोयले से लिख दिया—'कृष्ण-भवन'।

१२

जेल के भीतर कुमार को भीषण से भीषण यातनाएँ दी गयी थीं। बैरक में समाज के निकृष्टतम अपराधियों का साथ उसका साथ था। उनके विचारों की मलिनता, रूप और वेश की भयंकरता, उजड्ड चेष्टाएँ, चौबीसों घन्टे का गाली-गलौज देख कर तो आरंभ के कुछ दिन काटने कुमार के लिए दूभर हो गये।

चोर, डाकू, गिरहकट, जेबकट, जाली सिक्के बनानेवाले यही सब उसके सखा थे। समाज का वह सबसे सड़ा-गला अंग इसीलिए उसका साथी बना दिया गया था कि उसकी उज्ज्वल भावना

दूषित हो जाय। अवश्य ही उनमें से बहुतों को यह सिखाया भी गया था कि बात-बात में वे कुमार के साथ लड़ें-झगड़ें, अपशब्दों का व्यवहार ही नहीं, उससे मारपीट तक करें।

परंतु उन्हें यह ज्ञान ही नहीं था, कुमार के भीतर एक अद्भुत सहनशीलता की ज्योति जागी हुई थी। कोई भी कलुष-संसर्ग उसे निर्वापित करने को नहीं बढ़ सकता था। घृणा, घृणा से बढ़ती है। कुमार ने बचपन ही से मानवता का प्यार सीखा था। मनुष्य की दुर्बलताएँ उसमें दया जगाती थीं, घृणा नहीं।

उनके गाली-गलौज और कुचक्र जब कुमार की सहनशीलता को न डिगा सके, तब कुमार धीरे-धीरे उनके हृदय की कोमलता में प्रवेश पाने लगा।

वे कुमार के प्रति जब कोई अन्याय और अत्याचार करते, कुमार अपने प्रतिरोध की निष्क्रियता में उनके पश्चात्ताप जगा देता। कहते हैं मनुष्य का कोई भी भाव या चेष्टा जो दूसरे को सुख या दुःख पहुँचाने के उद्देश्य की जाती है, यदि वह उपेक्षित रख दी जाय, तो वह लौटकर उसी के पास आ जाती है। निष्क्रिय प्रतिरोध का यही मूल मंत्र है। सहनशीलता इसी से मानवता की सबसे बड़ी पहचान है।

कुमार के साथियों में जो सबसे बलिष्ठ, धूर्त्त, गंदा और क्रूर था उसका नाम था धनई। बात-बात में हर किसी से लड़ पड़ता और दिन भर लड़ते ही रहना तो उसकी साधारण चर्या थी। उसके प्रत्येक वाक्य में कम से कम एक गाली का अस्तित्व ही उसकी व्याकरणीय क्रियात्मकता थी। उसका प्रत्येक समय मरने-मारने का समय था। धीर और शांत वह कभी नहीं देखा गया। शयन में भी नहीं। सोये में उसकी नाक बड़े भीषण स्वरों में बजती थी। नये बंदी रात की शून्यता में उसकी 'घुर्र-घुर्र' से

महीनों तक निद्रा से चौंक-चौंककर उठ जाते थे। स्वप्नों में वह बड़बड़ाता, हाथ-पैर पटकता और कभी-कभी पास-पड़ोसियों के धप भी जमा देता था।

समस्त साथी उसे भयानक काल के रूप में देखते थे। अधिकारी भी बहुत सावधानी से उससे बातें करते थे। भय नाम की कोई वस्तु नहीं थी उसके जगत् में, न दंड नाम का कोई मनुष्य का परिष्कारक शस्त्र।

धनई कहता था—"जेल मेरा घर है। जब मैं छूटकर इसकी दीवारों के बाहर जाता हूँ, तब वहाँ जेल समझता हूँ। मेरा सबसे बड़ा दुर्दिन होता है वह, जब जेल का द्वार मेरे लिए बाहर की ओर खुलता है। मैं अपनी इच्छामात्र से फिर उसे भीतर की ओर खुलवा लेता हूँ। न्यायालय उसे अपनी विजय समझकर धोके में पड़ जाता है। विजेता मैं हूँ! बाहर के अधिकारी यहाँ धकेल देते हैं मुझे दंडित कर। यहाँ के अधिकारी कहाँ भेजेंगे?"

वह सत्रहवीं यात्रा थी उसके जेल की। जेल के रहन-सहन में सुख का अभ्यासी, उसमें चलनेवाले दाँव-पेंचों में सिद्ध सब उससे भय खाते थे—सहवासी भी और निरीक्षक भी।

कुमार धनई को अव्यवस्थित जेलों की व्यवस्थित उपज जानता था। वह समझता था, यदि जेलें दंड पर इतना ध्यान न रखकर अपराधियों के परिष्कार पर ध्यान रखतीं, तो कदाचित् देश के कई व्यक्तित्व समाज के भार न होकर उसके प्रकाश हो जाते।

न्याय को निःसंदेह अपराधी के लिए दंड का विधान करना चाहिए; किंतु वह दंड यदि उसके भीतर पश्चात्ताप जगाकर उसे शुद्ध न कर सका, तो ये कारागारों की ऊँची-ऊँची दीवारें और लम्बी-लम्बी बैरकें समाज में अशांति फैलानेवाले अपराधों के विश्व-विद्यालय हैं, जहाँ से शिक्षा पाकर दीक्षित हो अपराधी

वहाँ से निकलता है और समाज में पाप बढ़ाने का अधिकारी हो जाता है।

ये सभ्यता के अभिशाप हैं। ये रोगों के चिकित्सालय नहीं, उनके संग्रहालय और वर्धनालय हैं। इनके भीतर रहकर मनुष्य अपने उस लज्जा और शील के स्वाभाविक कवच को खोकर नग्न पाप की साकार मूर्त्ति होकर निकलता है।

वहाँ उसे कीड़े मिले हुए चावल, पत्थर मिला हुआ आटा खाने को मिलता है। क्या यह जीवन की भयानक भर्त्सना नहीं है? वहाँ उसे गाली मिली हुई आज्ञाएँ और पशुत्व में मिला हुआ व्यवहार मिलता है। क्या यह मनुष्यता का उपहास नहीं है!

वह विषाक्त वायुमंडल प्राणी के भीतर भयानक विद्रोह उत्पन्न कर देता है। वह राज-द्रोह और देश-द्रोह से भी निकृष्ट है। वह द्रोह है मानवता का—सत्य और अहिंसा का। राज्य की सीमा किसी देश तक ही है और देश की किसी राज्य तक ही। मानव-द्रोही सारे संसार का वैरी है।

जेल-जीवन की वह पहली रात कुमार को स्मरण हो उठती है, जब जमादार ने उसे बैरक में धनई के निकट धकेल दिया था।

"लो एक नया चेला।" जमादार नें कहा था।

धनई कुमार का हाथ पकड़कर अट्टहास्य कर उठा—"वाह बेटा! खूब आये। लेकिन बड़े दुबले-पतले हो। घर पर माँ-बाप खाने को नहीं देते थे? अच्छा किया यहाँ आ गये। मैं सच कहता हूँ अगर धनई के इशारों पर चलते रहे, तो हड्डी पर हड्डी, लोथड़े पर लोथड़ा, खाल पर खाल और गाल पर गाल चढ़ जायगा तुम्हारे कुछ ही महीनों में। कितने दिन की मेहमानी मिली है?"

"तीन साल की !" कहकर जमादार चला गया।

"तब तो घबराने की कोई बात नहीं है। हाथ मिलाओ।"

कुमार ने हाथ बढ़ा दिया।

धनई ने कुमार का हाथ कस लिया अपने पंजे में। कुमार चीत्कार कर उठा !

"बस ! इतना ही दम रखते हो, तो भारी गलती की तुमने जेब काटकर।"

"जेब नहीं काटी।" कुमार ने कोख में हाथ दबाकर कहा। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये थे।

"जेब नहीं काटी तो ताला तोड़े होंगे।"

"ताला भी नहीं तोड़ा।" कुमार ने कहा। उस भयानक और विशाल आकार धनई को देखकर कुमार के मन में भय या घृणा का कोई भाव नहीं जागा। जीवन के एक नवीन और दुष्प्राप्य अध्ययन के रूप में वह पुराना अपराधी उसे दिखाई दिया। वह उसे इस प्रकार देखने लगा, मानो उसके साथ कई दिनों की जान-पहचान है।

"ताला भी नहीं तोड़ा ? हूँ !" धनई ने अपना सिर हिलाया। उसकी घनी मूँछें और आधी सफेद दाढ़ी भूल उठी—"तो फिर क्या सदर फाटक से नहीं आये, आप हवाई जहाज पर से टपक पड़े हैं इन ऊँची-ऊँची दीवालों के भीतर ?"

कुमार ने उसके व्यंग्य को अज्ञान समझा। अपने अभिमान से नहीं, अपनी उदारता से उसे अपने वश में करने का निश्चय किया। उसने कहा—"मैं राजनैतिक बंदी हूँ।"

"स्वराजवाला ?"

"हाँ।"

"कानून से निडर बस इस भाईचारे में हम-तुम दोनों एक हैं। क्या डर है ? साथ-साथ खायेंगे, मौज से सो रहेंगे। असली भूख है तो फिर खाना क्या बढ़िया, क्या घटिया ? असली नींद है तो क्या रेशम और क्या बोरा ? तंदुरुस्ती ही इसकी चाबी है। मैं दूँगा तुम्हें, मेरे पास है !"

कुमार ने सोचा, चुप रह जाना नैतिक पतन होगा। उसने साहस कर धनई के विरोध में कहा—"परंतु मेरे और आपके अपराध में अंतर है।"

"कैसा अंतर ?"-गरज उठा वह।

"आपका अपराध सत्य और अहिंसा को तोड़ने का है, मेरा जोड़ने का।"

"जो है सब ठीक है। मतलब की बात सुन, कोई कहता है माल उड़ाने से और कोई कहता है कसरत करने से आदमी मोटा और ताकतवर होता है। चोट्टे हैं, दुनिया को धोका देते हैं। मैं कहता हूँ आदमी ताकतवर होता है बेफिक्री से और निडरता से। कायदा-कानून किसी को कुछ न मानने से मोटाता है आदमी। सबके ऊपर अपना हाथ, अपना सिर समझने से आती है ताकत। अपनी मनमानी करने से आदमी तगड़ा होता है।"—धनई बोला।

"लेकिन मन की ताकत एक चीज है, शरीर की दूसरी।"

"क्या है वह मन की ताकत ?"

कुमार के मन में दो दिव्य चमक और चमत्कारपूर्ण ग्रह स्फुरित हो उठे, सत्य और अहिंसा के सूर्य और चंद्रमा की भाँति। परंतु उस उजड्ड और पुराने पापी के मन में कैसे उनका प्रवेश किया जायगा, वह सोचने लगा।

"क्या है वह मन की ताकत ? पढ़ाई-लिखाई ? आदमी को निकम्मा और डरपोक बना देने की चीज।"

"नहीं, वही मनुष्य की सच्ची शक्ति है, उसी को पाकर शरीर के बल की सार्थकता है।"--कुमार बोला।

"क्या बकता है तू ? ले अभी फैसला हो जायगा।"--कहकर धनई ने कुमार का हाथ पकड़ लिया और उसे धोती-जैसा मरोड़ कर निचोड़ने लगा।

"हैं! हैं! मरा! मरा!" कुमार चिल्लाने लगा।

कुछ कैदी चारों ओर से तमाशा देखने लगे।

"बोल, अब बोल। तू बड़ा या मैं ?"

कुमार अपने मन की दुर्बलता पर पछताया और रोते-रोते बोला—"आप निःसंदेह मुझसे बली हैं। हाथ छोड़ दीजिए। उखड़ जायगा।"

"अच्छा कह जोर से धनई काका!"

"धनई काका!"—कुमार को कहना पड़ा।

"अच्छा बैठ जा उस बोरे पर।" धनई ने उसका हाथ छोड़ दिया।

कुमार हाथ की पीड़ा से व्याकुल होकर बैठ गया बोरे पर। अब भी तो उसका भाव अशुद्ध नहीं हुआ उस धनई पर—समाज के उस अत्यंत पतित नमूने पर। कुमार ने उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसके पालन-संवर्धन, उसकी सभा-संगति पर ही उस मनुष्य की बर्बरता का आधार रक्खा। उसने सोचा—"यह भयानक व्यक्ति जब अपने साधारण व्यवहार में इतना राक्षसी है, तब अत्याचार की इसकी घड़ियाँ कैसी भयावनी होती होंगी। परंतु कुछ भी हो, इसके राक्षसी बल को मुझे अपने मानसिक बल से जीतना होगा अवश्य।"

धनई बेड़ियों से झंकृत पैर की ताल में गाने लगा कुछ। फिर कुमार की ओर देखकर बोला—"पढ़े-लिखे हो कुछ ?"

"हाँ।"

"हिसाब-किताब लिख लोगे?"

"हाँ।"

"अच्छी बात है, बैठे रहो। ठीक है, पास कर दिया मैंने तुम्हें। हो गये तुम मेरे चेले।"

कुमार ने मन में कहा—"क्या यह मन की विजय के चिह्न नहीं हैं? जो कुछ भी हो, यह मेरे भीतर संघर्ष क्रमागत रखने के लिए एक अद्भुत व्यक्ति मिला है। मुझे पढ़ने को पत्र और पुस्तकें न भी मिलें, लिखने को कागज और मसि भी न मिले, तो चिंता नहीं, मैं निर्जीव होकर चिंता में न डूब सकूँगा यहाँ। हमारा संघर्ष मनुष्य की अंध चेतना से है। मेरे शत्रु के प्रतीक में यह धनई है मेरे सामने। इसके जिस पशुबल का इसे इतना गर्व है, मैं उसे जीतकर इसे समझा दूँगा। यह मनोबल के समीप कुछ भी नहीं है।"

धनई अपनी बेड़ियाँ झनकारते हुए न जाने कहाँ चला गया था बैरक के दूसरे भाग में कहीं। संध्या का आवरण सघन होने लगा था।

"शत्रु ही संघर्ष है, संघर्ष ही जीवन और शत्रु को अपनी ही शारीरिकता का एक अंग समझना सच्ची अहिंसा है। अहिंसा ही विजय है। कैसा भयानक है यह धनई! मेरा हाथ अभी तक दुख रहा है। एक बट उसमें यदि यह और देता तो फिर यह हाथ अलग और मैं एक दूसरी वस्तु हो जाता।" कुमार उस तख्त पर बिछे हुए बोरे पर बैठा-बैठा विचार कर रहा था—"इंद्रियों का क्या अपराध है, धनई के बल का दोष नहीं—वह उपयोग की वस्तु हो सकती थी। दोष है उस प्रेरणा का जिसकी जन्मभूमि

हमारा मानस है। दोष है उस आदर्श का जिसने उसे भिन्न दिशा दिखायी है।"

कुछ बोरे-बिस्तर सिर पर उठाये धनई कुमार के समीप आ खड़ा हुआ और कुमार के सिर पर उन्हें फेंककर बोला--"लो।"

कुमार अचकाकर उठ खड़ा हुआ। उसका अंग कपड़ों पर की धूल से भर गया और एक असह्य दुर्गंधि से उसका माथा भनकने लगा। परंतु उसको अपना संतुलन स्थिर रखकर उसे धनई के एक छोटे-मोटे परिहास में परिगणित करना पड़ा।

"ले बेटा, ले आया यही तेरा बिस्तर है। इनमें से किसी को होश भी तो नहीं रहता ड्यूटी का। जमादार की राह देखते रहते, तो शायद अगले हफ्ते तक भी कुछ ओढ़ने-बिछाने को नसीब न होता तुम्हें।" उसने कहा—"यह सीट खाली है, बिछा लो इसी पर। यहीं सो रहोगे।"

कुमार के होश उड़ गये! वह छुआ-छूत को छोड़कर कीटाणुओं के सिद्धांत को मानने लगा था। उस दुर्गंधि भरे विस्तर को देखकर सोचने लगा— "हे भगवान! यहाँ क्या कीटाणुओं का सिद्धांत भी भूल जाना पड़ेगा?"

"देखते क्या हो? सबसे बढ़िया छाँट-छाँटकर लाया हूँ। जरा महँकता है, लेकिन जुँई एक भी नहीं है निसाखातिर रहो। जमादार ने किसी एक और भलेमानस के लिए धूप में सुखा रक्खा था, मैं उड़ा लाया। ऐसी-तैसी उसकी! बिछाओ, बिछाओ। रात में ऐसी कड़ाके की सरदी पड़ती है कि सुबह तक लकड़ा जाओगे। अरे दो दिन, चार दिन आयेगी बदबू। मुमकिन है बदन में गड़े भी। फिर आदी हो जाओगे, तब मजा ही मजा है। तीन साल काटने हैं यहाँ, तीन साल! कानून तोड़ने का साहस किया, यह ऊँच-नीच नहीं देखा? अब जब फँस गये, तब फिर

भुगतो जैसे भी हो। लेकिन जरा अपने इस दुबले-पतलेपन का खयाल रखते चलो।"

"बड़ा गंदा है। धोया नहीं जाता क्या? न जाने किसने ओढ़ा था!"

"किसी भाई ने ही ओढ़ा होगा, जानवर ने नहीं।"

"बीमरी के कीड़े होंगे इसमें। कोई छूत-छात का रोग हुआ तो?"

"यहाँ कैसी छूत-छात? कुछ नहीं, खाली एक वहम। कीड़े कैसे! कह तो दिया लीखें हो सकती हैं—जुँई एक भी नहीं है।"

"कीटाणु होंगे।" कुमार उसे साइंस सिखाने लगा।

"क्या हुए कीटाणु?"

"छोटे-छोटे बहुत छोटे कीड़े, रोग के कीड़े—जो आँखों को दिखाई नहीं देते।"

"खूब! जब आँखों को दिखाई ही नहीं देते, तब फिर हुए कहाँ से?"

"होते हैं। शीशे की नली से दिखाई देते हैं।"

"झूठी बात। ऐसी बातों में अगर जेल के भीतर विश्वास रक्खोगे, तो फिर गुजर-बसर होना मुश्किल हो जायगा। बिछा लो बेटा, धनई भी कुछ तजरबा रखता है। उसके बाल धूप में नहीं हुए हैं सफेद। इस जेल की ऊँची-ऊँची दीवारों के साये में ही बदला है उनका रंग। अगर कहीं हड्डी के भीतर छिद गयी ठंडी हवा के तो निमोनिया हो जायगा दूसरे दिन। सच कहता हूँ तुमसे, बाप की कसम—क्या अस्पताल जेलखाने से भी भयानक जगह नहीं है? और जेलखाने के भीतर अगर रोगी हो गये, वहाँ अस्पताल हो गया, तो जीते-जी मरने का मजा मिल जायगा। म—जाऽ मि—ल-

जा ऽ य—गा ऽऽ”—वाक्य का अंतिम भाग गाता हुआ धनई न जाने कहाँ को चला गया !

“कैसा अद्भुत मनुष्य है यह ? मनुष्य की छूत न माननेवाले इस कुमार के सामने मलिन वस्त्रों की छूत न मानने का एक नवीन पाठ इसने रख दिया है ! यह हृदय के भीतर घृणा की कोई छाया नहीं रहने देना चाहता। धनई मनुष्यता का कोई भी आदर्श नहीं है। और उसका यह विश्वास ? इसपर चलने को बाध्य हूँ। ऐसा न करूँ तो फिर क्या करूँ। करना ही पड़ेगा। कल धूप में सुखा लूँगा। फिर किसी दिन गरम पानी से धो लूँगा।”—कुमार धीरे-धीरे बिस्तर बिछाने लगा।

कुछ ही देर में आ पहुँचा धनई फिर। उसके हाथ में एक तामचीनी का मग और सिर पर टोप की तरह रक्खी हुई एक तामचीनी की ही तश्तरी थी। वह कुमार के सामने आकर खट से अटेन्शन में खड़ा हो गया।

कुमार की उधर दृष्टि पड़ते ही उसने उसे मिलिटरी सलामी देकर कहा—“गुड मार्निंग सर !” उसने कदाचित् बिस्तर बिछा लेने पर अपना हर्ष प्रकट किया—“गुड, वेरी गुड, थैंक यू !”

बूढ़े बंदी की इस अल्हड़ मस्ती पर रीझ उठा कुमार। पूछने लगा—“धनई काका, क्या पल्टन में नौकरी की थी कभी आपने ?”

“मी जेल सुपरडंड इस माफक। यू सलाम बोलो।”

कुमार ने दो उँगलियाँ दिखाकर सलाम किया।

“इस माफक दो उँगली क्या बाट ?”

कुमार के भी हलकी भावुकता समा गयी। बोला—“हुजूर, एक उँगली भगवान और दूसरी उँगली जन्मभूमि के लिए।”

“और हम सुपरडंड, तुम्हारा राजा—हमारे वास्ते अँगूठा ?”

चार पाँच क्षणों का विराम देकर हँसने लगा—"ह! ह! ह! ह! बहुत बढ़िया लड़के हो तुम। देखो जितना सलाम करोगे, उतने दबा दिये जाओगे। जब राजा को नहीं मानता, तो भगवान भी कोई चीज नहीं। सिर्फ खयाली डर। मेरे बच्चे, उसी डर से तो तू इतना दुबला-पतला है।"

कुमार पर धनई के संस्कार खुल पड़े। वह सोचने लगा—"यह कैसे विद्रोह की भीषणता है। कैसे कलुषित विचारों ने मनुष्य के इस पंजर में अपना अधिवास बना लिया!" वह बोला—"भगवान की यह नास्तिकता, धनई चाचा! यहाँ पर मेरा मतभेद है आपसे!"

"क्या माने? राजा को तुमने भी नहीं माना, मैं भी नहीं मानता हूँ। अरे भगवान क्या है? वह राजा का राजा है। जब राजा ही नहीं तब. राजा का राजा कैसा?" धनई ने सिर पर से तश्तरी उठाकर हाथ में ले ली।

"राजा के मानने न मानने की बात नहीं है मेरे। मेरा तो झगड़ा है राज्य-प्रणाली से।"

"खुद राजा बनना चाहते हो? बहुत बुरी बात है, जान आफत में फँसी रहेगी। खबरदार, न राजा को मानो, न राजा बनने की कोशिश करो। और भगवान? उसकी शकल का कोई भी सिक्का चलता हुआ देखा तुमने?"

"धनई काका! ये सूर्य और चन्द्रमा! ये कैसे सिक्के हैं? सारे दृश्य इन्हीं के प्रकाश ने तो हमें दिखाये। इनकी चाल पर क्यों नहीं तुम चकराते?"

"जब मेरे खेत बह गये, तब यह भगवान कहाँ था; घर में आग लगने के दिन भी मैंने इसे पानी बरसाता हुआ नहीं पाया।

खैर, छोड़ो ये सब बातें, फिर हो जायँगी—अभी तो तीन साल हैं तुम्हारे।"

कुमार के हाथ एक और दुर्बल नस आयी धनई की।

धनई ने मग उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—"लो, रात को सिरहाने से दबा लेना इसे। नहीं तो कोई चुरा लेगा। यह समझते रहो यहाँ बराबर तुम चोट्टे और लुटेरों की बस्ती में हो और मैं इन सबका सरदार हूँ।"

कुमार ने मग ले लिया। वह पिचका और मैला था। कुमार उसे सूँघने लगा।

"यह भी सबसे बढ़िया छाँटकर लाया हूँ। दफ्तर के हुकुम से यह भी बड़े नाज और नखरों से तुम्हारे पास आता। सुबह यह तुम्हारे दिशा-मैदान का साथी होगा। फिर इसमें चाय पिओगे। फिर दाल, फिर पानी, जैसी मौज हो तुम्हारी। यह लो तश्तरी जमीन पर रखकर इसमें खाना खाओ और सिर पर रख लो तो हुकूमत करो। मगर एक बात है—सोते बखत जरूर इसकी तकिया बना लेना। यहाँ सिर उठाने को तकिया नहीं मिलेगी। कोई चुरा ले गया, तो फिर झींखते ही रह जाओगे।"

घंटी बजी।

कुमार के मुख पर एक जिज्ञासा उपजी।

धनई बोला—"कुछ नहीं, परेड की घंटी है। नंबर मिलेगा तुम्हें आज। जाओ।"

"आप?"

"मैं क्या किसी का नौकर हूँ? तनखा मिलती है क्या कोई मेरी मौज जाऊँ-जाऊँ, न जाऊँ तो न जाऊँ तुम जाओ, अभी जवान हो, पहला दिन है।" धनई ने मूँछों पर ताव दिया।

कुमार तामचीनी के दोनों वर्त्तनों को सिरहाने रखने लगा।

धनई बोला--"लिये जाओ हाथ में, वहीं से फिर खाना मिलेगा।"

खा-पीकर रात को जब कुमार सोने लगा, तब धनई ने उसके मन का भाव जानकर कहा--"आज अभी खातिरदारी ही हुई है तुम्हारी। कल से जब मशक्कत पर मशक्कत पड़ेगी—थकान एक तरफ खींचेगी और नींद भी उसी तरफ, तब यह बिस्तर तुम्हें दिखाई देगा फूलों की सेज-सा। आज चाहे जितने नखरे कर लो। मैं तो सोता हूँ अब।"

कुमार ने सब कुछ बिछा दिया था। ओढ़ने का विचार था ही नहीं उसके। उस मलिनता को कैसे अंग पर ले लेता वह?

पैर भूमि पर लटकाये सीट के एक सिरे पर बैठा कुमार उस वातावरण की विचित्रता पर विचार कर रहा था—"आह! कुछ लोग ऐसे भी हैं ही संसार में। मेरे इधर और उधर इस लंबी बैरक में बड़े आनंद से पैर पसारकर सो चुके हैं कई।"

सोते-सोते धनई ने खाँसकर गला साफ किया और पूछा—"सब कुछ तो हुआ। नाम क्या है तुम्हारा?"

"कुमार!"

"कुम्हार कैसे?"

कुम्हार नहीं, कुमार।"

"कुमार? अच्छा कुमार! आज मशक्कत कुछ कम की है मैंने। सारा वदन दुख रहा है। सोये नहीं अभी?"

'नहीं।"

"तो उठो, जरा मेरे हाथ-पैर और पीठ तो ठोक दो मुट्ठी और लातों से अपने।"

बिना कुछ आगा-पीछा सोचे कुमार उठ खड़ा हुआ और धनई के पैर दबाने लगा बड़ी प्रीति और मनोयोग से।

कुमार की विद्या और कुलीनता का कोई प्रभाव नहीं पड़ा था धनई पर, परंतु उसकी इस निःस्वार्थ सेवा से विमोहित होने लगा धनई।

धनई ने पूछा—"कौन जात हो तुम ?"

"ब्राह्मण हूँ !" कुमार ने अपने काम में बिना कोई यति दिये कहा।

एकाएक धनई के पैर ऊपर को मुड़ गये। कुमार ने चौंककर अपने हाथ खींचे, बोल उठा—"क्या हुआ काका ? पैर दुख गया क्या कहीं ?"

"हा! हा! हा!" हँसते हुए धनई के मुख से निकला—"पढ़ने-लिखनेवाले ये हाथ, इनसे क्या पैर दुखेगा मेरा ? "ब्राह्मण के बेटे हो तुम!"धनई ने दुहराया—"कलयुग का ब्राह्मण !"

कुमार बोल उठा—"हाँ कलियुग का ब्राह्मण शब्द की महिमा भूला हुआ, सिक्के को ठोस समझनेवाला !"

"लेकिन मैंने भी कभी नोटों पर डाका नहीं डाला।" धनई ने फिर कुमार की ओर पैर पसार दिये।

कुमार फिर अपने समस्त अहंकार को भूलकर उस डाकू के पैर दबाने लगा। कुछ देर में धनई की नाक बजने लगी और उससे नींद आ गयी। कुमार उठा और अपनी जगह पर जाकर सो गया।

धीरे-धीरे महीने पर महीना बीतने लगा और पहले वर्ष पर दूसरे वर्ष की छाया पड़ गयी। दिन भर अथक परिश्रम कर

कुमार बहुधा स्वेच्छा से भी धनई के पैर दबाता रात को। उसके पैर दबाते-दबाते कुमार शनैः-शनैः उस डाकू के हृदय में प्रविष्ट हो गया।

धनई ने पहले दिन कुमार से कहा—"नहीं कुमार, तुम थके हुए हो दिन भर के काम से, सो जाओ। आज मैं तुम्हारे पैर दाबूँगा।"

"नहीं ऐसा कदापि नहीं होगा।"

"क्यों नहीं होगा!"

"आप आयु में मुझसे बड़े हैं।" कहकर कुमार सोचने लगा—"आज मेरी मनोकामना पूरी हुई है। इस कठोर मनुष्य के हृदय की खिड़कियाँ खोल सका हूँ मैं। आज यह उनसे दृष्टि कर बाहर की ओर देखने लगा। भाव की दिशा बदलने लगी। इतने दिनों से इस अद्भुत मनुष्य की सारी चेष्टाएँ अपने ही 'अहं' में केंद्रित देखता चला आ रहा था। आज उसने 'पर'—दूसरे—की ओर चरण बढ़ाये हैं। क्या कोई दीपक जल उठा है इसके अंधेरे मन में?" कुमार ने अपने मन से पूछा।

"अच्छा तो ऐसा भी नहीं होगा कि तुम मेरे पैर दबाओ। कल से खबरदार मेरे पैर नहीं छूने होंगे तुम्हें। अनेक कैदी हैं इस बैरक में। रोज सिलसिलेवार एक-एक की बारी लगा दूँगा। कौन क्या कर सकता है मेरा! जो नहीं आयेगा—मरम्मत कर दूँगा अच्छी तरह।"

उसके पश्चात् धनई ने अपने पैर नहीं छूने दिये कुमार को। पैर क्या! अपनी कोई भी सेवा उससे लेने में उसे संकोच होने लगा। यह बात हो जाने पर कुमार की भावना और भी अधिक आकृष्ट हो गया उसकी ओर। वह लुक-छिपकर धनई के कपड़े धो देता, उसका बिस्तर धूप में उलटता-पलटता।

एक ही के लिए क्यों न हो! कुमार आत्मीयता जगा तो सका उस कठोरता के भीतर। शिला में जब अंकुर फूट चला है, तब अनगिनती शाखा-प्रशाखाओं में वह अपने आप प्रस्फुटित हो जायगा एक दिन।

दिन भर कठिन कार्य का भार ऐसा जकड़ लेता था कुमार को, उसका मन जा ही नहीं सकता था जेल की दीवारों से उड़कर बाहरी जगत में। रात्रि के शून्य अंधकार में जब उसकी श्रांति का हरण करने के लिए सालस पदों से झूमती हुई निद्रा देवी आती, तब कुमार कुछ ही क्षणों में स्वप्निल जगत् मे विचरण करने लगता।

वह सबसे पहले सीधा अपने आश्रम में पहुँचता। आश्रमवासी कोई भी उसे पहचानने में समर्थ न होता. वह जितना उन्हें याद दिलाता, वे उतने ही अविश्वासी हो उठते। चिड़ियों को परस्पर बातचीत करता हुआ कुमार समझता था, वे कहती थीं--"अरे यह तो कुमार है। लक्ष्मी की अँगूठी चुराकर भागा था, जेल हो गयी। कदाचित् आज छूटकर आया है।"

कुमार लक्ष्मी के पास जाता, छाया और स्पर्श की दोनों अंधी रूढ़ियों को नेत्रों का प्रकाश बनाकर। कुमार समझता था उसकी आहट पाते ही वह उसकी ओर दौड़ी-दौड़ी आ जायगी। परंतु वह तो पुकारने से भी नहीं आयी। कुछ और उसके निकट जाकर उसने कहा—"लक्ष्मी!"

लक्ष्मी ने बड़ी असावधानी से उत्तर दिया—"कौन हो तुम?"

"कौन हूँ मैं? नहीं पहचानतीं? तुम्हारा सहयोगी।"

"साथ का योगी? क्या योग लिया है मैंने तुम्हारे साथ? मैं जोगिन हूँ क्या?"

"इस आश्रम में हमने साथ-साथ काम किया है।"

"तुम्हारा क्या नाम है ? मैं नहीं पहचानती तुम्हें ।"

"मेरी ओर दृष्टि तो करो—कदाचित् प्रवास की कठिन भूमि ने मुझे परिवर्तित कर दिया हो। फिर भी इधर देखो तो सही, अवश्य ही कोई न कोई रेखा, कोई न कोई पहचान मेरे शेष रह ही गयी होगी।"

"भीतर आओ।"

"भीतर नहीं आ सकता।"

"तो मैं भी नहीं देख सकती तुम्हारी ओर।"

"जाने दो फिर। यह तो नहीं कहूँगा तुम कठोर हो। फिर आऊँगा कभी।"

तुरंत ही कुमार फिर अपने गाँव में चला जाता पिता के सामने।

पिता ने उसे देखकर मुँह फेर लिये। वह सामने से चला गया उनके पास। उन्होंने धक्का देकर कहा—"जा दूर हट कपूत! तुझे देखकर भी पाप लग जायगा।"

"पिता, चोरी नहीं की मैंने। देश के लिए जेल गया हूँ।"

"जा निकल, मैंने अपने उत्तराधिकारी में से तेरा नाम बिलकुल काट दिया है।"

कुमार निराश होकर माता के निकट पहुँचा। माता कहने लगी—"कौन हो तुम ?"

"तुम्हारा पुत्र कुमार।"

"हूँ! मेरे पुत्र का नाम कुमार है ही नहीं।"

"हैं, हैं, माँ! यह क्या कह रही हो तुम ? कुपुत्र के हो जाने पर भी मातृत्व में कोई अंतर नहीं होता। और तुम करुणा की देवी मेरी माता हो।"

"कोई पागल है क्या यह ?"

"पिता को विस्मृति हो गयी है मेरे लिए। माता से बढ़कर और कौन साधन है उनकी पहचान जगाने का ? कह दो उनसे।"

"तू जाता नहीं रे। लकड़ी से पीटूँ क्या तुझे, तब जायगा ?"

निराश होकर कुमार वहाँ से चला—"ये सब बदल गये हैं आज, या मैं ही परिवर्तित हो गया हूँ ?" वह आगे बढ़ा घर से। उस पर्वत की ओर आया जिसके शिखर पर उसने एक शिला और एक वृत्त के चारों पार्श्व में परिक्रमा जगायी थी। उसने देखा उस शिखर में पर्वत को जाने के लिए जहाँ एक अनुसंधानमात्र था, वहाँ पर्याप्त चौड़ा राजमार्ग बन गया है। वह शिखर पर जा पहुँचा।

उसने देखा वह छोटा-सा वृत्त एक विशाल परिधि में घिर गया है और उस शिला में से किसी ने माता का रूप बाहर प्रकट कर दिया है।

"धन्य हो माता, भारतमाता ! विश्व के तिरस्कार पर भी तुम अपनी अधम संतान को गोद में उठा लेती हो। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।" कुमार ने उनके चरणों में माथा रख दिया।

भारतमाता की प्रतिमा हँसने लगी !

"हँसती क्यों हो माँ ?"

"मूर्त्तिकार ऐसी ही रेखा बना गया मेरे अधरों में।"

"मुझे पहचानती हो ?"

"हाँ, क्यों नहीं।"

"कौन हूँ मैं ?"

"धनई डाकू। जो सत्रहवीं बार जेल से छूट जाने पर अब अट्ठारहवीं बार फिर उसका द्वार खटखटाने को यहाँ आया है।"

"नहीं माँ ! ऐसा क्यों कहती हो ?"

"बुरा मानने की क्या बात है इसमें ? लेकिन यहाँ से तुम इस वृक्ष को चुराकर नहीं ले जा सकते—इसकी जड़ें गहरी हैं। मुझे भी नहीं, क्योंकि मैं भारी बहुत हूँ।"

कुमार प्रतिमा के पैरों पर गिरकर जोर-जोर से रोने लगा। उसके वह स्वप्न का रुदन स्थूल जगत् में फूट पड़ा।

निकट ही सोये हुए धनई की नींद खुल गयी। वह चौंककर उठा—"कुमार !"

कुमार की नींद नहीं टूटी उसकी पुकार से। उसके समीप जाकर झकझोरा उसे— "कुमार ! कुमार ! क्या हो गया ? क्यों, रोते क्यों हो ?"

कुमार तब भी चैतन्य न हो सका था। वह सिसकियाँ भरने लगा था। धनई ने उसे छाती से लगाकर उसके सिर पर हाथ रक्खा और उसके आँसू पोंछे—"क्या हो गया तुम्हें ? जाग उठो बेटा, तुमने कोई डरावना सपना देखा है। लेकिन तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है। जब तक धनई तुम्हारे साथ है, कौन है जो तुम्हारा बाल भी बाँका कर सके ?"

कुमार को चेतना आयी—"चाचाजी !"

"हाँ बेटा !"

"कौन हूँ मैं ?"

"एक निर्मोही माँ-बाप की संतान। परंतु एक नामी डाकू की गोद में छोटे-से बच्चे की तरह निडर होकर खेलनेवाला ! क्या सपना देखा तूने ?"

"यही कि बाहरी जगत् हमारी भीतर की ध्वनि की ही प्रतिध्वनि है। लेकिन मेरे माता-पिता से निर्मोही क्यों कह दिया आपने ?" कुमार उठ गया।

"कभी लौटकर देखा भी तुम्हारी तरफ ?"

"कैसे 'नहीं' कह दूँ ? अधिकारियों ने कितनी ऊँची दीवार उठाकर रख दी है हमारे बीच में ? प्रिय परिजनों को पत्र भेजने की सभी प्रार्थनाएँ ठुकरा दी हैं उन्होंने, क्या उनकी चेष्टाओं पर पानी नहीं फेर दिया होगा ? धनई चाचा ! मैं राजनैतिक कैदी हूँ, अपराधी हूँ तो क्या—मैंने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कुछ नहीं किया है।"

"तो क्या तू समझता है धनई ने अपनी गठरी बाँधी है, अपना महल उठाया है ? डाके डाले हैं उसने बड़े-बड़े, इसमें शक नहीं। लेकिन क्या सैकड़ों विधवाओं और अनाथों को, अनगिनत निर्धन, रोगी और अपाहिजों को अनाज के दानों की तरह रुपया नहीं बाँटा है उसने ?" धनई ने हाथ उठाकर कहा।

कुमार ने सिर से पैर तक उस विशाल काया को देखा। बाहर की चाँदनी ने सीमेंट के फर्श पर लोहे की छड़ों का छाया-चित्र खींच रक्खा था। बैरेक की वह नींद-भरी शून्यता गूँज उठी उसकी घोषणा से। कुमार ने अपने मन में कहा—"फिर क्यों मैं यह समझता हूँ कि धनई नास्तिक है। यह मेरा झूठा अभिमान है जो मैं समझता हूँ। इसके भीतर पर-भावना मैंने जगायी है।"

"क्या देखता रह गया ? एक भी कैदी नहीं जाग सका। सो जा तू भी। अधिक शोर कर इन्हें नहीं जगावेंगे।"

"चाचाजी ! आप नास्तिक तो नहीं हैं ?"

"यह सूनी रात इस बहस के लिए नहीं है। फाटक पर लापरवाही से कटी हुई लालटेन की बत्ती ने कारिख फैलाकर रोशनी को धुँधला कर दिया है। पहरेवाला बैठे ही बैठे ऊँघ रहा है ! जानता है वह धनई की आदत को, अकेले भी बड़बड़ाता

रहता है वह। इसी से निडर है। सो जा बेटा, सो जा। सुबह चार बजे से ही तो फिर जुत जाना पड़ेगा हल में।"—धनई अपने बिस्तर पर चला गया।

"क्या बजा होगा ?"—कुमार ने पूछा।

धनई ने अपनी दाढ़ी खुजलाकर कहा—'काले बज चुके, अब सफेदों की बारी है। बस अब ज्यादे बक-बक नहीं।"

कुमार के कारावास का दूसरा वर्ष भी बीत चला। विशाल जी को उसकी भेंट का एक अवसर प्राप्त हो गया था। परंतु वह केवल एक झलकमात्र की थी। कुमार ने केवल इतना ही कहा कि उसकी श्रेणी में कोई परिवर्तन कराने की आवश्यकता नहीं है, वह जहाँ पर है, सुखी है। और विशालजी ने कहना आरंभ किया था—"हम लोग ठीक ही हैं, गाँव में तुम्हारे माता-पिता भी सुप्रसन्न। आश्रम की दशा ठीक नहीं है। सारे देश में महँगी, अकाल, अभाव, दमन और हाहाकार है। वसुंधरा महाभारत के रक्त में सन गयी है !"

अधिकारी ने आँखें तरेरकर कहा—"तुम पॉलिटिक्स बोलने लगा। नेई, यह बाट नहीं मान सकटा। फुल स्टॉप! टाइम खतम। चलो।"

"क्या झूठ कह रहा हूँ ? कोई षडयंत्र रच रहा हूँ ? दस मिनट का समय स्वीकृत हुआ है। एक भी तो नहीं बीता।"

"फिर ठीक तरह का बाट करो, टो टाइम किसी के घर से थोड़े जाटा है, और वढ़ा दिया जायगा।"

"ठीक तरह से कैसी बात ?"

"यही बोलो। तंदुरुस्ती का बाट, हवा-पानी का खबर, रिश्तेदारी का मरना-जीना, फसल की बोआई-जुताई, और क्या बाट ?"

विशालजी साहब का मुँह ताकने लगे।

"करो, करो फिर और बाट।"

"अखबार जर्मनी की विजय के समाचारों से भरे रहते हैं।"

"अखबार का बाट नई माँगटा। सब झूठा, सब प्रोपेगैंडा, जर्मन रेडियो उससे भी गंडा।"

"मित्र-राष्ट्रों की जीत की खबरें भी तो अखबारों में छपती हैं।"

"वो सब सही। उसका बाट करो।"

"कोई बात नहीं करूँगा। हो गया बस।"

"बस? चलो फिर बाहर।"

ऐसे ही एक बार विशालजी फिर मिले थे कुमार से। उन्होंने कुमार के पिता से भी चलकर पुत्र से भेंट कर लेने का आग्रह किया था, पर वह किसी प्रकार गाँव से बाहर जाने को सम्मत नहीं होते थे। एक दिन विशालजी ने लक्ष्मी को भी साथ चलने की बात कही, पर उसने भी अस्वीकृति दे दी और कहा था—"विश्व-युद्ध के कारण भारत की स्थिति डँवाडोल है और उसकी छाया हमारे आश्रम पर भी पड़ी है। मैं उसे छोड़कर नहीं जा सकती। छात्र न भी रहें, आश्रम का चिह्न अवश्य अवशिष्ट रखना है हमें। कौन कब आकर हमारी ध्वजा के स्तंभ को काट जाय, उसकी सतत चौकीदारी है मेरे ऊपर। मैं उसका अपमान जीते जी न देख सकूँगी। उसे नीचा न कर सकेगा कोई सहज ही।"

एक दिन कुमार ने कहा—"धनई चाचा! अखबार, लेख, रेडियो या किसी और मनुष्य से हम जुड़े हुए नहीं हैं बाहरी संसार से। फिर भी आकाश में जो घने बादल उठते हैं, उनके विषम आकार, डरावनी छायाएँ और बिजली की तड़पन,

ये सदैव ही क्या हमें सारी परिस्थितियाँ नहीं दिखा जातीं ? सत्य को कौन ढक सकता है ? प्रचार की झूठ कहाँ तक फैली ?

धनई बोला—"ठीक तो है। यह एक हवा है। चारों ओर बहती रहती है। कौन इसे रोक सकता है ? हर कान में आकर कुछ न कुछ फूँक जाती है। एक बात नहीं सुनी तुमने ?"

"कौन-सी ?"

"मैं तो बड़ी चिंता में पड़ गया हूँ। हिंदुस्तान के बाजारों से ठोस सिक्के सब गायब हो गये—ऐसे जैसे गधे के सिर से सींग !"

"कहाँ गायब हो गये ?"

"कहाँ बताऊँ ? काला अच्छर भैंस बराबर। तुम अखबारों के लिए रोते हो ? मेरे किस काम के ? मुझे मिले भी तो मेरी नाक पोंछने के सिवा और किस मतलब के ? सुनो, रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दुवन्नी इन सबकी इकाई है पैसा—पैसा—एक पैसा। पैसे ही से यह सब बने हैं। कल रात मैंने सपने में देखा—"पैसे में हो गया छेद, उस छेद से सबसे पहले निकल भागा राजा का सिर, उसके बाद इकन्नी, दुवन्नी, चवन्नी, अठन्नी, और समूचा रुपया—सब उसी छेद से निकल भागे। मैं उसी दिन समझ गया था, यह राजा के लिए बड़ा अपशकुन हुआ है।"

"इस छेद का इतिहास तो बड़ा विकट है चाचाजी। यह छेद किसी ने नहीं किया अपने आप हो गया। आपका सपना सच है।"

"बाजारों में नोट ही नोट बिछ गये हैं। मैंने नोटों के पुलिंदों पर कभी छापा नहीं मारा है। कागज़ की चोरी, अपनी शान के खिलाफ समझता हूँ मैं।"

"सिक्के गायब हो गये हैं, अब तो ? मैं समझता हूँ अब यह पेशा छोड़ दीजिए।"

"छोड़ सकता हूँ।"—धनई ने हाथ उठाकर कहा।

कुमार के मन में एक आशा प्रदीप्त हो उठी! एक डाकू को सच्चे साधु में बदल देना क्या सारे प्रांत का परिष्कार कर देना नहीं है? उस वृद्ध डाकू की बात में कुमार ने बड़े बल का परिचय पाया था विगत दो वर्षों की संगति में। वह जो कहता था उसे करता था। वाणी के इस बल को वह महापौरुष समझता था। कुमार ने प्रसन्न होकर कहा—"तो छोड़ दीजिए।"

"जेल से छूटने ही पर तो छोड़ सकूँगा। अभी साढ़े चार साल और काटने हैं। लेकिन फिर करूँगा क्या?"

"मेरे आश्रम में रहियेगा। भगवान का भजन, माला लेकर जपते रहियेगा--मन में सारे संसार की मंगल-कामना करते रहियेगा।"

"क्या होगा इससे?"

"आत्मा उज्ज्वल हो उठेगी।"

"आत्मा मैली है क्या मेरी? इस पाखंड के बदले मुझे तुम्हारा आश्रम भोजन-वस्त्र दे तो दूँगा, लेकिन वह हजम होगा कैसे?"

"जो काम आपको रुचिकर होगा, दे दिया जायगा।"

"अच्छा एक शर्त पर ही तो--"

"कहिए।"

"अगर तुम अपने माता-पिता को छोड़ दो, तो मैं तुम्हें अपनी गोद ले लूँ। डाका डालना तभी छूट सकता है। बोलो, है मंजूर?"

"हाँ, मंजूर है।"—कुमार ने उत्तर दिया।

"कुछ भी तो नहीं सोचा तुमने। तुम अपने माँ-बाप की एकमात्र संतान हो। यह अभागा बूढ़ा जानता है, संतान क्या

वस्तु है। तुम्हारे 'हाँ' कहने से होता क्या है? मंजूरी तो उनसे ली जायगी।"—धनई बोला।

"मैं उन्हें भी राजी कर लूँगा।"

"तब की तभी देखी जायगी।"

"आप मुझे गोद लेकर क्या करेंगे?"

"अपना मन भुलाने के लिए। हठी बालक जैसे खिलौना पाकर अपनी जिद छोड़ देता है, ऐसे ही यह बूढ़ा डाकू तुम्हें पाकर दूसरा रास्ता तलाश करेगा और अपनी आदत भुला सकेगा। क्यों है न ठीक?"

कुमार ने सोचा—"ठीक तो है बात।"

"तुम्हें गोद लेकर ममता की एक नयी दुनिया बसाऊँगा कुमार! तुम्हारे जाने के दिन निकट आ रहे हैं। तुम्हारी संगति ने एक ज्योति दिखायी है मुझे। तुम्हारे जाने के बाद इस अंधकार में कैसे रह सकूँगा मैं?"

परंतु उन दोनों में से किसी की भी इस संबंध की आशा पूरी न हुई। विधाता का अद्भुत विधान!

धनई एकाएक बीमार पड़ गया। हठी स्वभाव उसका था ही। औषधि और परहेज दोनों में से किसी को भी नहीं माना उसने। बड़ी तीव्रता से उसका रोग बढ़ता गया। टायफाइड और निमोनिया की जटिलता में आक्रांत हो गया वह। कुमार दिन-रात उसकी परिचर्या में लगा रहता। तीव्र ज्वर के प्रलाप में रात भर बकता धनई।

कुमार नहीं समझता था कि इतने शीघ्र उसका अंत आ जायगा। अपनी गोद में उसका सिर रक्खे हुए था। धनई चिल्लाया—"कुमार बेटा, एक भूल ठीक करता हूँ। राजा है या नहीं मैं नहीं जानता, परंतु भगवान है।"

"हाँ चाचाजी, भगवान हैं और वह दयालु भी हैं। आप शीघ्र अच्छे हो जायँगे।"

"मैं अच्छा हो गया हूँ। इसीलिए सरकार ने मुझे पहले छोड़ दिया है। चलो तुम्हारा आश्रम किधर है।"--धनई ने एक हिचकी लेकर प्राण त्याग दिये !

कुमार चिल्लाया--"चाचाजी ! चाचाजी !"

१३

जेल के अधिकारियों ने तीन साल का ठीक हिसाब लगाकर ही विशालजी को कुमार को छोड़ने की तिथि बतायी थी। विशालजी राष्ट्र के उस वीर सैनिक के उपयुक्त स्वागत की योजना का विचार करने लगे। परंतु कुमार को पंद्रह दिन पहले ही छोड़ दिया गया।

कुमार विह्वल हो उठा छूटने के दिन। अवश्य ही वह मुक्त वायुमंडल और अपने परिचित प्रिय परिजनों के बीच में जाने को अधीर था, परंतु रह-रहकर उसे यह ध्यान होता था जैसे कुछ छूट जायगा उसका जेल ही में।

"क्या छूट जायगा ?" उसने विचार किया—"क्या लाया था वह अपने साथ ? कुछ भी तो नहीं ! जो खद्दर के वस्त्र मेरे अंग पर थे, वे विद्रोह के भयानक प्रतीक समझे गये। मेरे जेल के भीतर प्रविष्ट होते ही वे बदल दिये गये और न जाने कहाँ डाल दिया। उन्हें कभी देखने को भी नहीं मिले। परंतु उन वस्त्रों

के भीतर जो मेरे विचार का आवरण था, उसे छू भी नहीं सके थे। कौन छू सकता है उसे ?"

"कौन छू सकता है उसे ?"—प्रतिध्वनि हुई। धनई की वह विशाल छायाकृति आकर स्थिर हो गयी उसके सामने।

विगत तीन वर्षों में समस्त राष्ट्र की सेवा के प्रति जो उसकी भावना थी, उसको ओट में कर केवल धनई ही उसके सामने खड़ा हो गया था। उसके विचारों में अपना साम्य पाया, तो उसे कुमार ने खो दिया। मृत्यु इतनी कठोर क्यों है ?

धनई की संगति ने उसके कारावास में उसको मानसिक श्रम दिया था, पतित को उठा देने की एक पवित्र सेवा दी थी। उसी के आज छूट जाने का उसे दुःख था। एक अदृश्य विधान मनुष्य के विचार और कर्म से अछूता रहकर उसके अहंकार को तोड़ देता है और वह उस विधायक को भगवान की संज्ञा से पुकारता है। जीवन पर्यन्त अपनी नास्तिकता को अटूट रखकर धनई ने भी मरते समय उसे पुकारा था।

दो मैले और फटे वस्त्रों में उसकी लज्जा ढककर कुमार के लिए जेल के द्वार खोल दिये गये। एक सिपाही स्टेशन तक उसके साथ गया और उसे हल्द्वानी की गाड़ी में बिठा आया।

कुमार को क्या ज्ञात था वह सर्वथा एक नवीन जगत् में पैर रखता जा रहा है। द्वितीय विश्व-युद्ध में सारी वसुंधरा आक्रांत और रक्तरंजित हो उठी है। जल-थल और आकाश में युद्ध के जाल फैल गये हैं। सारी जनता, उसकी संस्कृति और संपत्ति भूगर्भ में छिपती चली जा रही है। राजनीति के मानचित्रों के रंग बड़ी तीव्रता से बदलते जा रहे हैं। उधर रूस में जर्मनी बढ़ रहा है, इधर पूर्व में जापान दुर्बल राष्ट्रों को निगलता हुआ भारत की सीमा पर आ गया है।

उसे क्या ज्ञात है था, अगस्त की ध्वंसलीला भारत में फूट पड़ी थी। जेल में जो कुछ उसने सुना था, वह सब अधूरा और अस्पष्ट था। भारत के समस्त राष्ट्रीय नेता जेलों में बंद थे और अज्ञात स्थानों में भेज दिये गये थे। सर्वत्र दमन और अत्याचार मूर्त्तिमान होकर नाच रहा था। चारों ओर अन्न-वस्त्र का हाहाकार था। कब कहाँ पर क्या हो जाय, कोई नहीं कह सकता था। साम्राज्य की लिप्सा रखनेवालों ने हवा में मार्ग ढूँढ़कर गिरि-सागरों के कवच को तोड़ दिया था।

गाड़ी में बैठा-बैठा वह जा रहा था। यात्रियों के मुख पर विचित्र हवाइयाँ उड़ती हुई उसने देखीं। सब एक-दूसरे पर शंकित, किसी को किसी का विश्वास नहीं। सब अधीर, सब चिंतित!

वह अपने बंधुत्व के सूत्र गाँधी टोपी को खोजने लगा। कहीं भी नहीं दिखायी दी। वह जला दी गयी थी, वह फाड़ दी गयी थी। बहुतों ने उसे छिपा दिया, बहुतों ने रँग लिया। कुमार को सत्य तक पहुँचते देर न लगी।

स्टेशनों पर भाँति-भाँति की राष्ट्रीयता के मनुष्य उसे मिले। उनमें अमेरिकन थे, आस्ट्रेलियन युद्ध के बंदी जर्मन और इटैलियन भी थे, शरणार्थी वर्मा-निवासी भी थे। सह-यात्रियों की फुसफुसाहट से धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वह अपने घर के निकट पहुँचता गया, वास्तविकता भी उससे दूर न रह सकी।

भोजीपुरा के स्टेशन पर उसने शंकर को देखा। उसने पुकारा भीड़ में—"शंकर!" वह रेल से उतर पड़ा था।

शंकर उसे देखकर भी नहीं पहचान सका। कुमार ने कहा—"नहीं पहचानते, मैं कुमार हूँ।"

"कुमार!" कहकर शंकर ने उसे गले से लगा लिया—"कैसे बदल गये तुम। जेल से छूटकर आये हो क्या आज ही?"

"और तुम क्या अपरिवर्तित हो ?"

शंकर पूरी मिलिटरी यूनिफार्म में था। वह वाइसराय का कमीशन पाकर पलटन में ऑफिसर हो गया था। उसके पास दूसरे दरजे का टिकट था, छुट्टी में घर जा रहा था। भारत की पूर्वी सीमा पर उसकी नियुक्ति थी। उसने कुमार से वहीं चलने का आग्रह किया। जब कुमार न माना, तब शंकर उसी के दरजे में बैठ गया।

वह कहने लगा—"कुमार, तुम्हें कुछ भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए। मार्ग हमारे भिन्न हैं केवल, वेश भी अलग हो गया है। परन्तु ध्येय एक ही है।"

कुमार निःसंदेह साथी के विदेशी सूत और विदेशी काट के वस्त्रों पर बड़ी कटीली दृष्टि निक्षेप कर रहा था।

गाड़ी की खड़-खड़ के पृष्ठ-संगीत में शंकर उससे कहने लगा—"तुम अभी नये जगत् में प्रवेश कर रहे हो। तुम्हें सुनाने के लिए मेरे पास एक सहस्र शुभ समाचार है। धीरे-धीरे सब कहूँगा। अंतरराष्ट्रीय स्थिति एवं हमारी अंतर स्थितियाँ सब सहायक हो उठी हैं। भारतमाता का मुकुट चमक उठेगा अब।"

"इस सर्वथा विदेशी आवरण और आचरण में तुम मेरे आदर्श में पतित हो उठे हो शंकर। मैं तुमसे बात नहीं करता, परंतु विवश हूँ। मैं इस महायुद्ध में देश-वासियों की भरती का विरोध करने के लिए तीन साल की कारावास की यातनाएँ भुगत रहा हूँ और तुम—मेरे बालकाल के मित्र, संबंधी—उस युद्ध में ऑफिसर बनकर योग दे रहे हो। तुम्हारे कंधे पर के ये सितारे त्रिशूल होकर मेरे प्राणों को छेद रहे हैं। तुम्हारी चाल-ढाल, वस्त्र-वेश, बिस्तर और ट्रंकों को देखकर तो मेरे होश ही उड़े जा रहे हैं। तुम एक दिन भूखे किसान के लिए आँसू बहाते थे। जो

बढ़िया सिगरेट तुम ये फूँक रहे हो, उसके एक पैकेट का मूल्य कदाचित् एक निर्धन देशवासी को दो जून का भोजन दे सकेगा।" कुमार ने निराशा के स्वर में कहा।

"नौकरी ही ऐसी है भाई। लेकिन तुम्हें मेरे हृदय के भीतर प्रविष्ट होना होगा। तुम देखोगे, वहाँ जो माता की प्रतिष्ठा पहले थी, वह और भी उज्ज्वल हुई है। विचार की परिधि और विस्तृत करो भाई! शंकर इस युग में माता की मुक्ति के लिए ही भरती हुआ है। लेकिन सबसे पहले मैं तुम्हें कपड़े पहनाऊँगा।" शंकर अपने सूटकेस की ओर आकृष्ट हुआ।

कुमार अस्वीकार करते हुए बोला—"नहीं भाई! यह भी कोई बात हुई? युद्ध-विरोधी नारा जगाया था मैंने। लोगों से कहा था, इस पाप-युद्ध में न एक पैसा दो, न एक मनुष्य। जेल जाते समय ऐसा रूप दिखाया था मैंने और उससे आते समय तुम पूरी वरदी पहनाओगे मुझे?"

"कैसे दयनीय दिखाई दे रहे हो तुम मुझे इन फटे और मैले वस्त्रों में? क्या यही मिले थे! चौथी श्रेणी में रहे?"

"मेरे खद्दर के वस्त्र उन लोगों ने छीनकर जला दिये। जो कपड़े वहाँ पहनता था, गिनती में कम पड़ जाने के भय से वे भी ले लिये गये। मैं तो कोई दैनिक पत्र लपेटकर बाहर आ जाने को तैयार था, पर अपने सुनाम की रक्षा करने के लिए अधिकारियों ने इन चीथड़ों में मेरी लज्जा को भी बचा लिया।"

"धन्य है वीर! इन चीथड़ों में तुम्हारा मुख स्वर्गीय प्रभा से चमक रहा है। परंतु इस दैन्य में तुम्हें देखना हमारा कलंक होगा।" शंकर ने अपना ट्रंक खोल लिया।

"नहीं भाई, इस विदेशिता से तो यही चीथड़े ठीक हैं। भारतीय

मिल के तो हैं। मैं तो भारत की प्रकृत दीनता के दिग्दर्शन के लिए कपड़े के फटे और मैले होने को भी उसे शृंगार मानने लगा हूँ। वह शासन-प्रणाली का आलस्य होगा, मेरा नहीं।"

"वरदी नहीं पहनाऊँगा, दूसरा पहन भी नहीं सकता। कुरता और धोती हैं मेरे।"

"खद्दर की !"

"हाँ, खद्दर की। छिपाकर रक्खे हैं ट्रंक में।"

कुमार सम्मत प्रतीत हुआ—"गाँधी टोपी भी है ?"

"नहीं। लेकिन मैं तुम्हें अभी पहनने की राय न दूँगा। उसे पहनते ही फिर घर न जा सकोगे। देश के समस्त नेता जेल में बंद हैं। जनता के मार्ग-प्रदर्शन के लिए दो-चार तो रहने ही चाहिए बाहर। यह राजनीति है, नीति से काम लो, नीति धार्मिकता है। कपड़े पहनो, तो तुम्हें और एक समाचार सुनाता हूँ।" शङ्कर ने ट्रंक के तले में छिपाये हुए अखबार की लपेट से दो वस्त्र निकालकर कुमार को दिये।

कुमार ने कपड़े पहनने में कोई आपत्ति न की। शङ्कर ने उन दोनों वस्त्रों के चीथड़े चलती ट्रेन से बाहर फेंक दिये।

"ये स्मृति के चिह्न थे।"

"दासता के प्रतीक। हम स्वतंत्र होने जा रहे हैं। सुनो, लाखों की संख्या में भारत की राष्ट्रीय सेना भारत पर आक्रमण करने के लिए सशस्त्र सुसज्जित खड़ी है पूर्व में।"

कुमार उसे एक कहानी समझने लगा, तो शङ्कर ने उसे विस्तार से सब समझाया। यूरोप और एशिया के युद्ध के समाचार दिये। अगस्त के विद्रोह के रूप में जो चिनगारी

भारत में फूट पड़ी उसका वर्णन किया। इस यज्ञ में भारतीय नर-नारी, बच्चे-बूढ़ों ने जो आहुति दी, उसका वृत्तांत कहा।

कुमार कहने लगा--"परंतु मेरा व्रत अहिंसा है।"

"अहिंसा दुर्बल का शस्त्र है।"

"और हिंसा सबल की पाशविकता है।"—कुमार ने कहा।

"हिंसा पाशविकता है—निश्चय है। परंतु कब ? जब उसका ध्येय केवल एक व्यक्ति का स्वार्थ हो। एक पशुबल के विरोध में एक संगठित राष्ट्र का विद्रोह हिंसा नहीं है। वही तो नीतिज्ञता है।"

"नहीं शङ्कर, तुम मेरे संस्कार नहीं बदल सकते। मैं मृत्यु के भय पर भी सत्य और अहिंसा रूपी अपने धर्म के दोनों चरणों में से किसी को न गवाँ सकूँगा। हाँ, तुमने जो यह 'भारत छोड़ो' नामक युग की ध्वनि मुझे सुनायी है, मैं इसे जागृत रक्खूँगा।"

परंतु यदि इसे नीति से नहीं पुकार सके, तो यह ध्वनि जागृत कैसे रहेगी ?"

"नहीं समझा।"

"तुम इसे पुकारोगे और अभी पकड़कर तुम्हारे दोनों अधर सी दिये जायँगे।"

"मैं पुकारूँगा, पहाड़ के एक-एक शिखर और घाटी को निनादित करूँगा।"

"कैसे ? यही तो पूछता हूँ। यह अराष्ट्रीय विधान तुम्हारा पीछा करेगा।"

"केवल नगरों में ही तो ? मैं नगर छोड़ दूँगा। ग्रामों में प्रचार करूँगा।"

"इसके फंदे ग्रामों तक नहीं फैले हुए हैं क्या ?"

"हैं, पर क्या वहाँ हमारे पक्ष की प्रबलता नहीं है ? वे मुझे ढक लेंगे। मैं ग्रामों से भी दूर चला जाऊँगा, निर्जन वन-पर्वतों में लता-वृक्ष और पशु-पर्वतों को राष्ट्र के जागरण का निमंत्रण दूँगा। वहाँ रेल-मोटर-डाक-तार, सेना-पुलिस, किसी के कोई बंधन ही नहीं हैं। न उस दुर्गम ऊँचाई पर कोई काला कानून ही पनप सकता है। न उसका आरोहण ही ये कर सकेंगे।"

"जब किसी काले कानून को तोड़ देना पाप नहीं है, तब उससे बच निकलना, उसकी आँखों में धूल डाल देना भी तो बुद्धिमानी है।"

"है।"

"हिंसा नहीं है न ?"—शंकर ने पूछा।

"हिंसा नहीं है। कदापि नहीं है।"

"अहिंसा की जय हो ! नीति पर ही अहिंसा जीवित रह सकेगी। तुम नीतिज्ञ हो उठे हो कुमार ! कदाचित् जेल की तीन साल की कठिन शिक्षा के बाद।

कुमार मुसकाने लगा।

"भारत के स्वतंत्र हो जाने पर दूसरों की धरती छीनने को नहीं, अपनी भूमि की रक्षा के लिए तो हमें सेना रखनी ही पड़ेगी न।"

"यह क्या अहिंसा का आदर्श होगा ? सेना पशु-बल का प्रतीक है।"

"आदर्श की भिन्नता पर, उसकी पशुता शोषण के लिए है, पोषण-रक्षण को नहीं। 'भय बिन होइ न प्रीति'—क्या, तुम्हें इस सूत्र की मनोवैज्ञानिकता में संदेह है ?"

"कहते जाओ, तुम्हारा मतबल क्या है ?"

"ज्यों-ज्यों हम आरोहण करते जाते हैं, सरणियाँ बदलती जाती हैं और बदलते जाते हैं सूत्र। समुद्र-तल पर पानी एक सौ डिग्री में उबलता है और पहाड़ों पर दालें नहीं गलतीं।"

"जानता हूँ यह सब। अर्थ पर आओ अपने।"

"भरती का विरोध अनावश्यक है अब। जिस विदेशी सेना से यहाँ से चले जाने का आग्रह है हमारा, उसके स्थानों की पूर्ति के लिए न चाहिए कुछ ? और भी तो समझो यह आजाद हिंद सेना उसी भरती की उपज है। उसने साम्राज्यवादियों से विद्रोह कर भारत को ओर मुख किया है। उन्होंने उसके बंधन काटने की शपथ ली है। 'जय हिंद' की तुमुल ध्वनि से उन्होंने धरती, सागर और आकाश को निनादित किया है और 'दिल्ली चलो' का मंत्र उनका पथ-प्रदर्शक हुआ है, आज सारा भारत; सोते-जागते उनके भारत-प्रवेश की कल्पना कर रहा है।"

"तुम यह कोई कहानी कह रहे हो ?"

"पूर्वीय रण के मैदानों से आ रहा हूँ। सच्ची साक्षियों के आधार पर ही मैंने तुमसे उसका विशद वर्णन किया है। मैं सच कहता हूँ, भारत की स्वतंत्रता का सूर्य उदित न हुआ हो अभी, परंतु यह प्रकाश, यह लालिमा और यह प्रभात सब उसी के अग्रदूत हैं।"

मार्ग भर शंकर ने कुमार को भारत के भीतर और बाहर की समस्त परिस्थितियों से अवगत करा दिया। कुमार ने समझा तीन ही वर्ष के भीतर सारा विश्व बदल गया—भारत के एक-एक बिंदु और एक-एक कण में क्रांति सजीव हो उठी !

कुमार मार्ग भर खोजता रहा। गाँधी टोपी का कहीं कोई चिह्न भी नहीं मिला।

शंकर ने उसे आश्वासन दिया—"गाँधी टोपी अदृश्य नहीं हुई है, वह हो नहीं सकती। उसकी शुभ्रता हमारी स्वतंत्रता के युद्ध का अमर और अटल ध्रुव हो गया है। मुझे आज भारतीयों के मस्तक पर की प्रत्येक टोपी गाँधी टोपी-सी ही दिखाई दे रही है। क्योंकि उसके आवरण में रहनेवाला प्रत्येक मस्तक आज भारत की मुक्ति के अटूट विचार में तल्लीन है। क्या मेरी यह टोपी मेरे देश-विद्रोह की सूचना है ?"

कुमार सोच में पड़ गया !

"कभी नहीं।" शंकर ने स्थिरता-पूर्वक कहा—"अनेकता की एकता ही राष्ट्रीयता है। उदार होओ कुमार ! यह टोप-धारी—तुम्हारे बालकाल का साथी तुम्हारी राष्ट्रीयता का भी सहयोगी है। यदि सब उसके भीतर सम्मिलित न हो सके, तो वह राष्ट्र हुआ या एक संप्रदाय ! राष्ट्र के भीतर कोई भी अछूत नहीं है। जब हमारे भीतर यह व्यवहार होगा, तभी तो विश्व में वह आदर्श फैला सकेंगे।"

कुमार बोला—"ठीक है।"

"क्या विचार हैं फिर ?"

"देखो।"

"बुद्धि की स्थिरता एक वस्तु है, हठ नितांत दूसरी।"

"हठ न करूँगा। जानता हूँ वह जड़ता है। इच्छा की दृढ़ता नहीं है, मस्तिष्क की दुर्बलता है।

"तब पहले गाँव को ही चलो। माता-पिता के दर्शन करो। क्या धरती पर के देवताओं की गिनती वहीं से नहीं है ? क्या

सेवा और स्नेह की पाठशाला उन्हीं के चरण नहीं हैं । हाँ, हमने पहले पाठ वहीं आरंभ किये हैं ।"

"तुम्हें वहाँ जाने की छुट्टी मिली है मुझे—" कुमार कहते-कहते रुक गया ।

"तुम भी तो तीन वर्ष बाद छूटे हो ।"

"नहीं मित्र, जब तक देश स्वतंत्र नहीं होता, मुझे छुट्टी कहाँ ? माता-पिता के चरणों में मेरे प्रणाम के अनंतर कह देना कुमार की कोई चिंता न करें ।"

"मैंने कह दिया और उन्होंने मान लिया ।"

"तुम दो-तरफा गोली-बारूद के रणक्षेत्र में हो, तुम्हारे माता-पिता धैर्य रख सकते हैं । मैं एकांगी हिंसा के मैदान में हूँ, मेरे लिए निश्चिंत क्यों नहीं हो सकते वे ?"

"फिर क्या प्रोग्राम है ?"

"सबसे पहले आश्रम में ही जाऊँगा ।"

"इस भारतव्यापी दमन में वह दीपक कब का बुझा दिया गया होगा । यदि तोड़-फोड़-जलाकर वह ध्वंस नहीं हुआ है, तो उसमें ताले अवश्य पड़े होंगे ।"

हल्द्वानी पहुँचकर उनकी रेल की यात्रा समाप्त हुई । मोटर में चढ़ने से पहले ही उन्हें एक मित्र मिल गया । पहाड़ पर का बहुत-सा इतिवृत्त उसने सुनाया । उसी के मुख से उन्होंने सुना कि विशालजी पकड़ लिये गये हैं और किसी अज्ञात दिशा—देश की जेल में बंद हैं । आश्रम का कोई समाचार दे न सका वह, पर उसकी कल्पना कर लेना कुछ कठिन न था ।

संभव है, कुमार घर चलने को सम्मत हो जाय, इस विचार से शंकर ने रानीखेत तक के दो टिकट लिये । दोनों मोटर पर बैठे ।

एक-एक मनुष्य, एक-एक घर और एक-एक गाँव, दमन की ठोकरों से क्षत-विक्षत प्रतीत हो रहा था। राष्ट्र का जयनाद तोपों की गर्जना में अवसित हो गया जान पड़ता था। परंतु उस क्षुब्ध वायु-मंडल के पीछे हँसती हुई मूर्त्ति विश्व के रंगमंच में पदार्पण करने के लिए सन्नद्ध खड़ी जान पड़ती थी। प्रत्येक प्राणी के हृदय में यह विश्वास प्रत्येक श्वास में दृढ़ होता जा रहा था कि माता के साथ शृंखालाओं से छूटकर संतान के लिए वर और अभय से परिपूर्ण हो उठेंगे।

कुमार ने शंकर का हाथ पकड़कर पूछा—"शंकर, तुम्हें बंदूक भी चलानी पड़ती है क्या ?"

"तो क्या शत्रु की आरती उतारता हूँ ?"

"जापान के हम धार्मिक गुरु हैं।"

"साम्राज्य की लिप्सा में उसकी अहिंसा भूल गई ! यह गुरुता की भूमि पर क्यों नहीं आक्रमण कर रहा है ?"

"निश्चय, तुम्हारे लिए नहीं।"

"हमारे लिए क्यों नहीं ? हम अपनी पवित्र धरती पर किसी विदेशी के पदांक सहन नहीं कर सकते। हमारे शासकों ने जब हमारी धरोहर हमें लौटा देने का वचन दिया है, तब फिर उन्हें दूसरे के देश में अपने शत्रु को घेरने की आवश्यकता क्या है ?"

"तुम्हें देखकर भय लगता है। मुझे कोई कल्पना न थी, मेरे बचपन का साथी, संध्या होते ही घर के भीतर घुस जानेवाला मेरा बंधु, साथ-साथ तकली पर ऊन कातनेवाला यह अहिंसा का पुजारी शंकर एक दिन इस प्रकार हिंसा के मैदान में जूझ पड़ेगा।"

"सामरिक हिंसा, हिंसा नहीं है।"

"तब क्या विशुद्ध अहिंसा है मेरे मित्र!"

"उसके पाप-पक्ष में हिंसा है, धार्मिक पक्ष में अहिंसा ही है। अँधेरे-उजाले का ही संसार है। न तो अहिंसा ही उसका स्थायी उजाला है, न हिंसा उसकी चिर-छायामयी रात्रि।" एक के पश्चात् दूसरा किसी नियामक के चक्र का अनुगामी।"

"विश्व-शांति तब एक पाखंड है क्या ?"

"पाखंड न कहेंगे। एक सुमधुर स्वप्न, एक कमनीय कविता कही जा सकती है। धर्म और अधर्म, हिंसा और अहिंसा—ये दोनों साथ ही साथ एक दूसरे से लड़ने के लिए उत्पन्न हुए हैं। उनके हारकार थक जाने के समय को, उनके घाव भर जाने का अवकाश—शांति-काल कहा जा सकता है। जहाँ उनको बल-संचय हुआ, फिर वही संघर्ष! संघर्ष ही जीवन है और संघर्ष ही जगत्!"

"तुम्हारी सैन्य शिक्षा और सैन्य संचालन ने तुम्हारे विचारों में बड़ा उलट-पलट कर दिया है।"

"युग का आग्रह कहा जा सकता है यह। मनुष्य, एक छोटा-सा प्राणी—तिनके की भाँति उसके प्रवाह में ठहर कहाँ सकता है ?"

दोनों मूक होकर फिर कुछ देर अपने-अपने विचारों में डूब गये। कुमार सोचने लगा—"शंकर ने अपने वस्त्र पहनाकर निःसंदेह मेरे विचारों को भी अधिकृत कर लिया है।"

वे फिर बातें करने लगे। तीन साल के उस कारावास ने कुमार को बिलकुल मूढ़ और परदेसी बना दिया था। बात-बात में शंकर उसे दवा ले रहा था।

"मैदान से पहाड़ की उँचाई पर चढ़कर देख रहे हो। सच कहो, क्या सारी सत्ता परिवर्त्तित नहीं दिखायी दे रही है ? क्रांति

प्रकृति का नियम है, राजनीतिज्ञ इसे मनुष्य का निर्माण भूठे ही कहता है। बयालीस सन् की सारी कथा तुमसे कह चुका हूँ। क्या तुम उसे हिंसा की प्रेरणा कहोगे ? मैं तो उसे स्वाभाविक संगठन मानता हूँ। और जानता हूँ उसी अगस्त के महीने से हम स्वतंत्र हो गये। यह जो एक आतंक-सा तुम देश में देख रहे हो —हमारी दासता की अंतिम छाया है। शृंखलाएँ टूट चुकी हैं, केवल उसके शताब्दियों के संसर्ग का पड़ा साँचा है।"

कुमार कुछ आशा और कुछ निराशा के भावों में तैरता-डूबता जा रहा था।

"इसीलिए मुक्त हो तुम ! यह केवल भावना की ही बात है, स्वतंत्रता कोई स्थूल वस्तु नहीं है। हे भारत-माता के पुत्र ! अहिंसा के युग की समाप्ति का नाम ही भारत की स्वतंत्रता है।"

"और हम स्वतंत्र होकर हिंसक हो गये हैं। दुर्बल प्रजा के लिए भय और बलहीन पड़ोसी राष्ट्रों के लिए आतंक के कारण ?"

कदापि नहीं, स्वप्न में भी नहीं। शस्त्र हमारी शक्ति का प्रतीक है। उसका अर्थ संहार नहीं है, संरक्षण है। अहिंसा का युग दुर्बलता है, हिंसा का पाशविकता। अहिंसा और हिंसा के समन्वय की चेतना ही स्वतंत्रता है। वहीं पर बुद्धि को स्थिरता प्राप्त होती है।"

"शंकर ! तू इतना आगे बढ़ गया ?"

"नहीं बंधु, तुम्हारे त्याग, तुम्हारी तपस्या और तुम्हारी अहिंसा ने ही यह सब किया है।"

"परंतु तुम यह किसकी ओर से लड़ रहे हो ?"

"सेना से होता क्या है ? यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।"—कहते हुए शंकर ने अपने कोट के बटन खोलकर

भीतर जेब से एक छोटी-सी पुस्तक निकाली और कुमार के हाथ में रख दी ।

"क्या है यह ? गीता ?"

"हाँ ।"

"राष्ट्रीयता साम्प्रदायिकता नहीं है शंकर ! मैं शीश नवाता हूँ इस पुस्तक को । परंतु--"

"गीता को साम्प्रदायिक पुस्तक मानना कदाचित् तुम्हारे उसके प्रति अज्ञान को प्रकट करता है । तुमने पढ़ा होगा इसे, मनन नहीं किया । संसार भर के अनेक पंडितों ने इसकी महत्ता मानी है । मैं तो इसे जीवन-विज्ञान मानता हूँ और इसे छाती से लगाकर मृत्यु के क्षेत्र में विचरता हूँ । यह कोई कवच होकर मेरी रक्षा करेगी इसलिए नहीं, परंतु मृत्यु पर अभय प्राप्त करने के लिए ।"

"कृष्ण और धनुर्धर ये कौन हैं ?"

"एक के हाथ में वंशी और दूसरे के हाथ में गांडीव ! यही तो समन्वय है---सेवा और शक्ति का, गीत और टंकार का !"

"जय हिंद !" कुमार चौंक पड़ा !—"यही चेतना क्या आज सारे राष्ट्र में समा गयी है ?"

"हाँ ।"

"तब निश्चय हम स्वतंत्र हो गये !"

"चलो फिर गाँव को चलो । माता-पिता के दर्शन करो, उस शिखर पर उस वृक्ष और शिला की परिक्रमा करेंगे, जहाँ विश्व-जननी के दर्शन की एक नैसर्गिक प्रेरणा हमें मिली थी ।"

कुमार ने विवशता दिखायी ।

रानीखेत पहुँचकर शंकर कहने लगा—"तो निश्चय है तुम्हारा आश्रम ही को जाओगे ?"

"हाँ।"

"यह हठ है। हठ स्वतंत्रता नहीं है ।"

"ग्राम से घृणा नहीं है, वही तो मेरा चरम लक्ष्य है—गाँव की ओर, गाँव की ओर मैं निरंतर उसी ओर को जा रहा हूँ—संभव है कुछ घूमकर।" कुमार ने कहा ।

वहाँ उन दोनों के मार्ग विभक्त हो गये। शंकर ने कुमार को वहाँ कुछ भोजन कराया और उसके लिए अल्मोड़े तक मोटर का टिकट मोल लेकर उसे गाड़ी में बिठा विदा किया। शंकर की मोटर-यात्रा वहाँ समाप्त हो गयी। कुलियों का प्रबंध कर उसने भी पैदल अपने ग्राम के मार्ग में पैर बढ़ाये।

नगर के बाहर ही कुमार मोटर से उतर गया और सीधे आश्रम की ओर चल पड़ा। नंगे सिर, नंगे पैर, मार्ग के बटोहियों से बहुत-कुछ आश्रम के वृत्तांत उसे ज्ञात हो गये।

कुमार आश्रम के निकट पहुँचा. नीचे सड़क पर एक दुकान थी। उसके दो-तल्ले पर यात्रियों के ठहरने का प्रबंध था, दुकानदार आरंभ से ही आश्रम के प्रति सुदृष्टि नहीं रखता था। कुमार से कोई बोलचाल न थी उसकी ।

कुमार को आता देखकर वह दुकान के बाहर निकल आया और हाथ जोड़कर कुमार से बोला—"जय हिंद !"

कुमार ने मन में सोचा—"यह अधिकारियों से अधिक सम्पर्क रखनेवाला दुकानदार ! कभी कोई ध्वनि हम दोनों को नहीं जोड़ सकी थी। यह कौन मंत्र है जो देश की विभिन्नताओं का संग्रह कर रहा है।" कुमार ने प्रसन्न वदन उत्तर दिया—"जय

हिंद !" उसकी दृष्टि दो-तल्ले पर गयी, खिड़की पर उसने एक पुलिस के सिपाही की लाल पगड़ी सूख जाने के लिए लटकती हुई पायी। दुकानदार से आगे कोई बात न चल सकी। कुमार आश्रम की ओर बढ़ा।

दमन, संहार और बर्बरता नाचती हुई दिखाई देने लगी मार्ग के दोनों छोरों पर। वह आश्रम के फाटक पर आया। पत्थर के दोनों प्रवेश-स्तंभ टूटकर भूमिसात् हो पड़े थे भूमि पर, हारे हुए नहीं, वीरगति पाये हुए सैनिकों की भाँति! आश्रम के संज्ञा-वट का कहीं पता नहीं था। जगह-जगह से आश्रम की सीमा-रक्षक दीवाल तोड़ दी गयी थी, और पास-पड़ोस के समस्त पशुओं को आश्रम के भीतर जाकर उसकी खेती उजाड़ देने की सुगमता मिल गयी थी।

ध्वंस! ध्वंस! ध्वंस! आश्रम में सर्वत्र ही ध्वंस का प्रलय नर्त्तन! खेती उजाड़ दी गयी थी, फलों के पेड़ काट डाले गये थे। गौशाला की गायों का कहीं पता न था, गौशाला फूँक दी गयी थी। छात्र न जाने कहाँ गये, छात्रालय की आग और धुएँ से काली दीवालें, छतविहीन, आकाश को मुख उठाये नीरव होकर किसी दानव इतिहास के पृष्ठ उलट रही थीं। पाकशाला, यज्ञ-शाला, अतिथि-निवास सबका यही हाल था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे पत्थर का हृदय रखनेवाला राक्षसों का दल आश्रम को रौंद कर चला गया!

शिक्षक-निवास और विद्यालय की मुख्य पीठ दोनों भी भस्म-स्तूपों में परिणत हो गये थे। कुमार सोचने लगा—"आश्रम की यह दशा है, आश्रम-वासी न जाने किस विपत्ति में पड़े होंगे। यह ध्वंस हमारी समस्त आकांक्षाओं की और राष्ट्र-भावना की समाधि हो चुका क्या? नहीं! कदापि नहीं!" एक अद्भुत प्रकाश उसके मानस में चमक उठा।

वह ध्वजा के मैदान की ओर बढ़ा। केवल वह भूमि-देवता का मंदिर अपना अक्षत मस्तक आकाश में उठाये खड़ा था !

उसने भूमि-देवता को हाथ जोड़कर कहा—"हे देव ! इस भयानक ध्वंस में सुरक्षित रह जानेवाले तुम कौन हो ? तुम्हारा यह कैसा देवत्व है, जो तुमने चुपचाप आश्रम के विध्वंसकों का अत्याचार देख लिया ! तुम्हारे स्थापत्य की सरलता पर उनकी आँखें मुँद गयीं और तुम इस दानवता का इतिहास कह दोगे मुझसे।"

कुमार ने ध्वजा-स्तंभ को देखा। वह काटकर न जाने कहाँ फेंक दिया गया था और उसपर फहरानेवाली राष्ट्र-ध्वजा ? कुमार सोचने लगा—"आश्रमवासी उसकी मान-रक्षा न कर सके क्या ? "

दूर से देखकर एक ग्वाला कुमार के निकट चला आया। कुमार ने पूछा—"क्या है ? "

"जय हिंद।"

"यह ध्वंस क्या हिंद की जय है ? " कुमार ने पूछा।

ग्वाला धीरे-धीरे कुमार के कान में कहने लगा—"आजाद हिंद की फौज शीघ्र ही चढ़ाई कर अपना देश जीत लेनेवाली है।"

"ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की है और रेडियो ने आकाश-वाणी !"

उस ग्वाले की सरलता कुमार के प्राणों में छिपकर उसमें विश्वास उपजाने लगी। उसने अपना हर्ष छिपाकर पूछा—"कौन कहता है ?"

"तुम नर-नारियों की कहते हो। एक-एक पशु-पक्षी यही कह रहा है।"

"आश्रम की यह दशा किसने की ?"

"पुलिस और सेना ने ?"

"आश्रम-वासी कहाँ हैं ?"

"कुछ भाग गये, कुछ पुलिस पकड़ ले गयी।"

"विशालजी ?"

"सुनते हैं जेल में हैं ?"

"लक्ष्मीजी ?"

"पहले पकड़ ली गयी थीं, फिर छोड़ दी गयीं। नगर में अपने घर पर हैं।"

"राष्ट्र-ध्वजा ? उसका क्या हुआ ? अत्याचारियों ने उसे कुचलकर टुकड़े-टुकड़े किये—उसपर थूका ? उसे आग में डाल दिया ?"

"नहीं, आश्रम के चार विद्यार्थियों ने उसके लिए बहुत मार खायी, वे उसे लेकर भागे। पुलिस ने बंदूक लेकर उसका पीछा किया। मैं वन में गायें चरा रहा था। झण्डे की मान-रक्षा के वचन लेकर उन्होंने उसे मुझे सौंप दिया और पुलिस को आत्म-समर्पण कर दिया!"

कुमार हर्ष से उछल पड़ा—"लाकर मुझे दे सकते हो उसे ?"

"क्यों नहीं ? परंतु दुकान में पुलिस के दो सिपाहियों का पहरा है, वे आपको पकड़ ले जायँगे।"

"मैं उनकी पकड़ में न आऊँगा। मैं सबल हो उठा हूँ, उनकी आँख में धूल झोंककर भाग जाऊँगा। फिर वे हमारे ही तो देश-भाई हैं। जिस स्वतंत्रता को हम प्राप्त कर रहे हैं, क्या उसमें उनका भाग नहीं है ?"

"पुलिस अपनी है ?"

"जिस प्रकार यह झण्डा तुमने सुरक्षित रख लिया, मुझे न छिपा सकोगे ?"

"क्यों नहीं ?"

"इन सघन वनों में, इन दुर्गम घाटियों में मैं भारत की स्वतंत्रता की घोषणा करता हुआ जाना चाहता हूँ। हम लाखों हैं ! जब वे मुझे छिपा देने को तैयार हैं, तब ये उँगली पर गिनी जानेवाली पुलिस क्या कर सकेगी ?"

"कुछ नहीं कर सकती। प्रजा की एकता ही स्वराज्य है। जब हम एक हैं, तब चाहे जो कर सकते हैं।"

"तो जाओ, वह राष्ट्र-ध्वजा लाकर मुझे दो। मैं उसे लेकर इन पर्वतों के अंतरभागों में दौड़ जाऊँगा। प्रत्येक ग्राम और घाटी से, प्रत्येक वन और पर्वत से उसे फहराता चला जाऊँगा। सबके हृदय में उस स्वतंत्रता के प्रतीक का परिचय अंकित कराता जाऊँगा। मैं कहूँगा उनसे, हम अब स्वतंत्र हो गये हैं—यह देश हमारा है और राज भी हमारा ही। वह विदेशी भारत छोड़कर जा रहा है। पर्वत के कुछ नगरों को छोड़कर हमारे ग्रामों में कब बसा वह ? 'भारत छोड़ो' की ध्वनि का उच्चारण यहाँ दूसरे प्रकार से होगा। वह है--'भारत छोड़ दिया उसने।' "

ग्वाला असमंजस में पड़ा। सैनिक शासन का आतंक उसके हृदय में समाया हुआ था। कहने लगा--"चलो, वहीं गाँव से ही चलो। यहाँ झंडा लाने की क्या आवश्यकता है। पुलिसवालों ने अवश्य तुम्हारे आगमन की सूचना दे दी होगी नगर में। वे आते ही होंगे।"

"तुम जाओ तो सही। वे कुछ नहीं कर सकते। मैं कह दूँगा उनसे, विदेशी-शासन के सूत्र सिमट गये हैं, भारत छोड़ दिया उसने। एक कल्पित भय से क्यों वह जनवाद के प्रति विश्वासघात

करते हैं ? यहीं से चलूंगा। इस ध्वजामंडप के चारों ओर बहुत समय की, हमारे बहुत-से साथियों की साधना एकत्र है। यात्रा के लिए उन सबकी मानसिकता को साथ लेकर चलना है। ध्वजा ले आओ। जिस आश्रम का उन्होंने अन्त किया है, वहीं से दीपक जलाकर चलूँगा और समस्त गिरि-क्षेत्र को इस आश्रम की भावना में बदल दूँगा। प्रत्येक घर एक-एक आश्रम हो जायगा। जाओ, झण्डा ले आओ।"

ग्वाला कुमार की निर्भीकता से प्रभावित हो उठा—"गायों को देखते रहना।"

कुमार हँसा—"सिंह कहाँ है यहाँ ? वह तो कब का चला गया। इन पर्वतों के हिम से घबराता था वह।"

ग्वाला चला गया ध्वजा लाने के लिए। मार्ग में जो भी मिला, उसे वह कुमार के आगमन का समाचार देता गया ! कुमार के पास एक-एक कर मनुष्य आकर जमा होने लगे।

कुमार उनसे कहने लगा—"स्वतंत्रता निर्भयता है। अभय से सारा आकाश व्याप्त हो उठा है इस प्रदेश का। भयंकर सैनिक शासन की कोई चिंता न कर आप सब लोग यहाँ चले आये हैं। यह क्या छोटी साक्षी है ? इस आश्रम के ध्वंस पर आँसू बहाना नहीं है, इसे चरितार्थ कर वह पैशाचिकता ही स्वयं उसमें भस्मीभूत हुई है। हम स्वाधीन हो गये हैं। स्वाधीनता के दो रूप हैं—भीतरी और बाहरी। बाहरी बंधन काटकर हमें भीतरी शृंखलाओं से लोहा लेना है। वे हमारे भीतरी शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। उन्हें निकालकर हमें अपने मन को भी मुक्त करना है। वह पवित्र मंदिर इन विदेशियों के शासन से कलुषित हो रहा है। इनको निकाल बाहर करना है। काम इन सबका राजा है, उसे जीत लेने पर ये सब के सब अपने-आप पराजित हो

जायँगे। जिस दिन इस बाहरी स्वराज्य से हमारी मन की निर्मलता का मिलन होगा, वही दिन हमारे राम-राज्य के आरंभ का होगा। हमारा क्रोध चला जायगा, और जीवमात्र की मैत्री हमारा स्वभाव हो जायगा। हम स्वार्थ और लोभ को तिलांजलि दे देंगे और पर-दुःख-कातरता, प्रतिवासी की सहायता हमारा व्रत हो जायगा। हम अपनी छोटी-सी कौटुंबिकता को भारतव्यापी कौटुम्बिकता में परिवर्धित कर मोह की पीड़ा से छूट जायँगे। हम भारत में रहनेवाले एक-एक प्राणी के भीतर, चाहे वह किसी रंग और धर्म का क्यों न हो, एक ही घट-घटवासी ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करेंगे। सद्भाव हमारी भीतरी स्वतंत्रता है और सद्वर्त्तन, और सद्व्यवहार और समानता हमारी बाहरी स्वाधीनता।"

ग्वाला राष्ट्रीय ध्वजा लाता हुआ दिखाई दिया। एक दंड के सहारे वह उसे आकाश में फहराता हुआ दौड़ा आ रहा था। ग्वाले ने आकर वह ध्वजा कुमार को सौंप दी।

"यही वह प्रतीक है। मानसिक विचारों और सांसारिक स्थूलता की संधि प्रतीक ही करता है। भारत की स्वतंत्रता के प्रतीक में जो विश्व-मैत्री की साधना देखते हैं, वे धन्य हैं। धन्य है यह आर्यावर्त्त, जहाँ शारीरिकता के बंधन पहन लेने को देवगण भी ललचाते हैं। जय हिंद!" कुमार झंडा लेकर चल पड़ा ग्राम की ओर।

सारी सभा भी 'जय हिंद!" की तुमुल ध्वनि उच्चारती हुई उसके पीछे-पीछे चली।

दुकान की ओर हल्ला सुनायी दिया। नगर से कुमार को पकड़ने के लिए सेना आ रही थी। परंतु कुमार साथियों-सहित नदी के पुल के पार पहुँच चुका था।

एक प्रचंड आवेश में जनता भर गयी थी। उन्होंने सेना को

पीछा करते हुए देखकर एक अद्भुत बल का परिचय दिया। घंटों का काम उन्होंने जो क्षणों में कर दिखाया, उसे सोच-सोच कर वे स्वयं चकित हो गये।

"जय महावीर बली!" के वज्रघोषों से उन्होंने उस जीर्ण काठ के पुल को तोड़कर नदी में बहा दिया और कुमार के आगे बढ़ जाने के लिए मार्ग सरल कर दिया।

सेना उस प्रदेश से अपरिचित, सहज ही संतरण का मार्ग न निकाल सकी। वह बहक गयी और कुमार को आगे बढ़ जाने का सुयोग मिल गया।

किसी प्रकार नदी पार कर जब सेना गाँव में पहुँची, तब कुमार का कहीं पता न था। सब ग्रामवासी अपने-अपने कामों में लग गये थे। केवल दो स्वयंसेवक कुमार के साथ-साथ उसके पथ-प्रदर्शन के लिए आगे बढ़ गये थे।

सेना के ऑफिसर ने गाँव के प्रधान से पूछा—"कुमार कहाँ है?"

"कौन कुमार? कुमार नाम का यहाँ कोई प्राणी नहीं है।"

"अभी इधर आया है झंडा लेकर।"

"जहाँ, जिस घर के भीतर घुसा है, ढूँढ़ लो।"

कई घंटों तक उन्होंने गाँव का तिल-तिल छान डाला। कुमार का कुछ भी पता न मिला। घर-घाट, खेत-खलिहान, चूल्हा-चक्की, लकड़ी-घास के संग्रह, मंदिर-बावलियाँ ढूँढ़-ढूँढ़कर वे निराश और श्रांत हो गये, कुमार क्या उसका कोई पद-चिह्न भी न मिला।

रोष में भरकर ऑफिसर ने पैर पटककर कहा—"वह यहीं है, जरूर यहीं है। भाग नहीं सकता इतने समय में।"

प्रधानजी कहने लगे—"अविश्वास की कोई औषधि नहीं

है। तुमने ढूँढ़ लिया। तुम्हारे प्रवेश के लिए सभी द्वार हमने मुक्त कर दिये। अब केवल एक ही बात है।"

"क्या बात है?"

"हममें से किसी एक को कुमार समझकर पकड़ ले जाओ।"

ऑफिसर इस व्यंग्य पर बुरी तरह झल्लाया—"सारे गाँव को फूँक देने की ताकत है मेरे पास।"

'फूँक दो।" प्रधानजी ने असीम साहस के साथ कहा—"फूँक दो, हम प्रस्तुत हैं। इस बर्बरता पर ही क्या भारत में विदेशी शासन की समाधि बना देंगे आप? संसार के इतिहास में वह पृष्ठ कितना शोभन और सचित्र दिखायी देगा।"

"क्या बकता है?"

"तुम बारूद की नोक पर हमारे जीवन को रख देने की घोषणा करते हो, क्या है हमारा अपराध?"

"तुम विद्रोही हो, विद्रोही को फूँक देने का हुक्म है।"

"हम विद्रोही हैं! देश-प्रेम हमारा विद्रोह है? मानवता की सबसे बड़ी संज्ञा—अहिंसा हमारा अलंकार है और मृत्यु उसकी कोई भयंकरता नहीं है हमारी दृष्टि में। जो बोल रहा है हमारे भीतर उसे तुम्हारी गोली छेद नहीं सकती। यह बाहरी शरीर, इसे हम कपड़े की भाँति बदल लेंगे। आप भारतीय हैं, सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए आपके हृदय में। अत्याचार की नृशंसता, कभी ठहर नहीं सकती चार दिन।"

"फिर कहाँ गया वह?" ऑफिसर ने पूछा।

"हम क्या जानें। हमें अपने काम से अवकाश ही कहाँ है, जो हम मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक यात्री का इतिवृत्त लेते रहें?"

"इस गाँव का कौन-कौन उस सभा में गया था?"

"कोई नहीं।"

"पुल किसने तोड़ा ?"

"हमें क्या ज्ञात।"

बड़ी उधेड़-बुन में पड़ गया ऑफिसर। उस उलझन के बीच में कोई मार्ग ही न निकाल सका। उस डूबते को एक सैनिक ने तिनके का सहारा देते हुए कहा--"इधर एक मार्ग में कुछ नये पदांक दिखायी दे रहे हैं।"

ऑफिसर ने बिना कुछ आगा-पीछा सोचे उधर ही सारी भेड़ें हाँक दीं। थोड़ा आगे बढने पर उन्हें गायें चराते हुए चार बालक मिले। दूर से उन्हें आते हुए देखकर बालक मार्ग पर आकर खड़े हो गये।

ऑफिसर ने पूछा—"इस रास्ते हल्ला मचाते हुए कोई लोग गये हैं ?"

"हाँ।" एक ने कहा।

दूसरा बोला—"वे 'जय हिंद ! जय हिंद !' कहते हुए हिंदुस्तान की मरी गुलामी को ले जा रहे थे एक कपड़े में बाँधकर।"

"किधर ?"—ऑफिसर ने पूछा।

"नदी किनारे, फूँक देने को।"

"उनके हाथ में तिरंगा झंडा भी था ?"

"हाँ, था।"

"कितनी देर हुई ?"

"परसों की बात है।"

ऑफिसर ने क्रुद्ध होकर पूछा—"नदी किनारा कहाँ है ?"

"नदी के किनारे बस सब किनारा ही किनारा है दोनों तरफ।"

ऑफिसर ने बंदूक की सिटकिनी खटकायी और सामने उन ग्वालों की ओर देखा—चार छोटे-छोटे बालक ! तीन लड़के थे। तीनों में से दो ने अपनी लम्बाई से अधिक का एक-एक फटा और मैला कुरता पहन रक्खा था। नीचे का अंग बिलकुल नंगा था। घुटनों से कुछ नीचे तक उन लम्बे कुरतों से बार-बार अपनी लज्जा ढकने का प्रयत्न कर रहे थे। सिर पर फटी ही टोपियाँ भी थीं। एक ग्वाले ने अपने पिता का फटा कोट पहन रक्खा था। उसमें बटन एक भी न था। कोहनियों में थिगलियाँ पड़ी हुई थीं। और कोई वस्त्र उसके अंग पर नहीं था। एक मूँज की पुरानी रस्सी से वह बटनहीन कोट उसने कमर पर बाँध रक्खा था रोमन कैथोलिक पादरियों की भाँति ! एक हाथ से कोट के दोनों कॉलर गले पर मिलाये हुए था।

लड़की—सिर पर रूखे केशों के ऊपर एक धोती का टुकड़ा पड़ा हुआ था उसके। एक जीर्ण झँगुला—चोली और घँघरे की अविभक्ति, उसके अंग में थी। जगह-जगह गाँठें देकर उसे जोड़ रक्खा था। हाथ में उसके एक हँसिया था। बालिका की अवस्था सात वर्ष की होगी। किनारे की वह सहज परिभाषा उसी के मुख से निःसृत हुई थी।

ऑफिसर मन में सोचने लगा—"जो गाँव के बालक सिपाही का नाम सुनकर भग जाते थे, आज वे शस्त्रों से भी नहीं डरते हैं ! देश की सारी चेतना बदल गयी !"

वे चारों बालक दैन्य और दारिद्र्य के चार चलते-फिरते चित्र-से दिखायी दिये। उनके बाल-सारल्य में एक तेजस्विता चमक रही थी। ऑफिसर प्रयत्न करने पर भी अपने क्रोध को न उभाड़ सका। उसने पूछा—"कौन हो तुम ?"

"हम हरिजन बालक हैं।"

"बताओ—अपने-अपने बाप का नाम।" ऑफिसर ने जेब से कागज-पेंसिल निकाल उन्हें डराने को कहा।

परंतु वे नहीं डरे। आपस में उन्होंने एक-दूसरे का मुँह देखा। सब के भावों को पढ़कर सब से बड़ा बोल उठा—"हमारे पिता का नाम दोरोटिया है।"

ऑफिसर ने साथियों की ओर मुख किया। उनमें से एक बोला—"समय नष्ट कर कोई लाभ नहीं। ये मूढ़ बालक हैं। इन्हें कुछ भी मालूम नहीं है। समय गहरा होता जा रहा है। किसी जंगल में रात काटनी पड़ गयी तो अवश्य बीमार हो जायँगे। ओवरकोट भी वहीं छोड़ आये हैं।"

ऑफिसर बोला—"खाली हाथ लौट जाना बड़ी शरम की बात होगी। एक निहत्थे असामी को न पकड़ सके।"

"फिर बिना किसी सूत और संकेत के किधर बढ़ें। जनता का कोई सहयोग नहीं है, साथ में। उसे रास्ता बताने से भी इनकार है। असामी की पहचान ही क्या है आपके पास?"

"तिरंगा झंडा।"

"उसे छिपा दिया होगा उसने।"

बालकों में से एक ने पूछा—"स्वराज्य कहाँ तक आ गया है? हमारी झोपड़ी तक आने में उसे अभी और कितने दिन लगेंगे?"

"स्वराज्य!" यह शब्द इतना मधुर और इतना प्रिय उस ऑफिसर को कभी नहीं लगा था जितना आज। उसने अनुभव किया वह भारतीय है और उस 'स्व' में उसका भी ममत्व है। देश के मूर्तिमान अभाव और दारिद्र्य ने अपनी शिशु-वत्सलता से एक अद्भुत प्रश्न पूछा।

ऑफिसर बंदूक दूर रखकर भूमि पर बैठ गया। कुछ देर मूक रहकर अपने एक साथी से बोला—"जी चाहता है यह बंदूक और यह वरदी तुम्हारे हाथ वापस भेज दूँ।"

"और आप ?"

"इन पर्वतों की गहराई में खो जाना चाहता हूँ।"

"यह राजद्रोह हो जायगा।"

"होने भी दो।"

"यह दुर्बलता है। लज्जा की बात है।"

"विद्रोही को न पकड़ सकने की लज्जा से विद्रोही बनने में क्या हानि है ? दृष्टिकोण बदलने से क्या वही देशभक्ति न हो जायगी ?"

"बाल-बच्चों का क्या होगा ?"

"हाँ।" कहकर ऑफिसर बंदूक संभालकर उठ खड़ा हुआ।

बालक ने फिर पूछा—"आपने हमारे सवाल का कोई जवाब नहीं दिया ?"

ऑफिसर सिर खुजलाने लगा।

दूसरे बालक ने पूछा—"आप किसे ढूँढ़ रहे हैं ?"

एक सैनिक ने उत्तर दिया—"हम भी स्वराज्य को ही ढूँढ़ रहे हैं।"

बालकों ने समझ लिया वह हँसी कर रहा है। ऑफिसर ने साथियों को लौट जाने का हुक्म दिया।

बालक एक साथ चिल्ला उठे—"जय हिंद !"

ऑफिसर के अधरों में उस प्रतिध्वनि को फूट जाना ही पड़ा-"जय हिंद !"

१४

नगर में कुमार के जेल से छूटकर आने का समाचार वनाग्नि की भाँति फैल गया, साथ ही उसके फिर वारंट और गिरफ्तारी का हुक्म भी ।

अपने जीवन की उस मुक्ति को धिक्कारती थी लक्ष्मी । वह वारंवार यही सोचती कि वह जेल के भीतर बंद होती तो कदाचित् अधिक सुखी रहती । उसके पिता जब लोहे की छड़ों के भीतर हैं, उसका जीवन-सखा जब बंधन में है, तब उसकी मुक्ति क्या एक पाखंड नहीं है ?

करती क्या वह ? पिता का आदेश था वही और माता की अनुनय-विनय । छोटे भाई बहनों का उत्तरदायित्व सम्हालना ही पड़ा उसे ।

कुमार के लौट आने का समाचार सुनकर वह आनंद-विह्वल हो उठी । कुछ असंतुष्ट भी हो गयी वह उसपर । मन में कहने लगी—"तीन वर्ष निरंतर उनकी चिंता करती हूँ । सदैव ही उनकी स्मृति से अपनी दुर्बलता को छिपाती रहती हूँ । विवाह के पाश में उनके अनिष्ट को नहीं साधती, तो क्या मैं उनसे प्रेम भी नहीं करती हूँ । फिर क्यों मेरा प्रेम इतना प्रबल नहीं सिद्ध हुआ ? मेरा विश्वास था, वह सीधे जेल से छूटकर यहीं आवेंगे । वह आश्रम की ही ओर खिंचे । कदाचित् उन्हें उसकी सच्ची स्थिति का पता नहीं है ।" उसने माता के पास जाकर कहा—"माँ, मैं कुछ देर के लिए बाहर जा रही हूँ ।" उसने कुमार के आने का समाचार व्यक्त नहीं किया माता के सामने ।

पर उसका छोटा भाई दौड़ता हुआ आया और कहने लगा-

"कुमार जेल से छूट आये हैं। उन्होंने आश्रम में फिर दफा तोड़ी है। सेना की एक टुकड़ी मोटर में चढ़ उन्हें गिरफ्तार करने गयी है।"

लक्ष्मी न जाने पायी।

सारा नगर आकुल उत्सुकता से कुमार की गिरफ्तारी पर विचार कर रहा था। संध्या हुई, रात्रि हुई। कोई ठीक-ठीक समाचार न आया।

शून्य रात्रि में सो जाने का अभिनय करती हुई लक्ष्मी जाग ही रही थी। हर खटके पर वह चौंक उठती। सड़क पर ही उसका मकान था। गिरफ्तार होकर कुमार का कोतवाली को जाने का वही मार्ग था। लक्ष्मी को विश्वास था कुमार को बंदी बनाया जा सकता है, पर उनकी वाणी को नहीं बाँध सकता कोई। वह भारतमाता के जयनाद से सबकी नींद तोड़ते जायगे।

परंतु सारी रात केवल कुछ कुत्तों के भौंकने और कभी-कभी हवा की सरसराहट के विरामों के अतिरिक्त अपनी ही शून्यता में बीत गयी। कुमार के बंदी होकर आने का कोई संकेत नहीं मिला। मोटर क्या। किसी की चाप भी नहीं सुनी उसने।

लक्ष्मी सोचने लगी—'तब क्या मोटर में चढ़ाकर उसी रास्ते वे लोग उन्हें स्थानांतर को ले गये हैं? संभव है, नगर में उत्तेजना के बढ़ जाने का भय हो गया हो अधिकारियों को।"

किसी प्रकार रात कटी, दूसरा दिन भी। तीसरे दिन समाचार आया कि कुमार सेना की आँखों में धूल झोंककर भाग गया!

लक्ष्मी को इस समाचार से बड़ी प्रसन्नता हुई! उसका हृदय उछल पड़ा! वह कुमार के स्वभाव से परिचित थी। जेल से छूटने के पश्चात् उसकी वह परिवर्तित मनोवृत्ति उसके हर्ष का कारण बन गयी।

और भी कई दिन बीत गये, महीने समाप्त होने लगे, सेना और गुप्तचरों के जत्थे पर जत्थे भेजे गये; परंतु कोई भी कुमार को न पकड़ सका। सारी जनता सरकार की इस दुर्बलता और इस पराजय पर तालियाँ पीटने लगी।

सरकार क्षुब्ध हो उठी! एक क्षुद्र अपराधी, जिसके गले में अभी तक जेल की तौक का साँचा भी नहीं मिटा था, इतने महीने में भी नहीं पकड़ा जा सका था। यह इस बात की प्रत्यक्ष साक्षी थी कि शासकों को मतिभ्रम हो गया और उनका प्रभाव जाता रहा!

अपनेपन की एक विचित्र पहचान जाग उठी थी प्रजा में। कुमार को अपने प्राणों की ओट में छिपा चले वे। एक घाटी से दूसरी घाटी, एक गाँव से दूसरे गाँव तक राष्ट्र का संदेश सुनाता हुआ बढ़ता गया वह।

वह स्वतंत्रता की भविष्यवाणी-सा चला जा रहा था, जनता देवता की भाँति उसका स्वागत करती जाती थी। वह स्वाधीनता का अग्रदूत जहाँ जाता, वहाँ उसे पकड़नेवाली आसुरी शक्तियों के विकर्षण का वातावरण बन जाता। पग-पग में सरकार को विफल-मनोरथ बना देने में प्रजा बड़ा आनंद लेने लगी।

वह अभय और मुक्ति का मंत्र बोता हुआ चला गया। ठोकरें उसकी बाधा न हुईं, न गिरि-वन उसके अवरोध। निशा और अंधकार उसका पथ छिपा न सके, न भूख और प्यास ने उसको शिथिल-प्रतिज्ञ किया!

उसने स्थानीय पटवारी और प्रधानों पर भी ऐसी माया डाली कि धीरे-धीरे वे उसे देखे का अनदेखा करने लगे। कभी-कभी वे और कुमार एक ही गाँव में रात काटते थे और कभी-कभी एक

ही घर में उनका डेरा पड़ा रहता था, परंतु ऐसा विभक्त जैसे ऋण से धन और अँधेरे से उजाला ।

सरकार ने कुमार को जीवित या मरा पकड़ लानेवाले के लिए एक सहस्र रुपये के पुरस्कार की घोषणा की। जगह-जगह उसके चित्र समाचार-पत्रों में छापे गये, दीवारों पर चिपकाये गये, ग्रामों में बाँटे गये। वह पुरस्कार क्या था, देशद्रोह के लिए एक प्रलोभन था। वह देश-भक्ति के पवित्र वर को अपवित्र कर देने के लिए नरक-अभिशाप की छाया थी। हमारे ही हाथों से हमारी दासता को अटल कर देने की कुचेष्टा थी। उस पुरस्कार की घृणित लोथ को चारों ओर से भूखे गिद्धों की दृष्टि खोजने लगी ।

धीरे-धीरे एक-एक कर पूरा वर्ष अपने बारह महीने के चक्कर में घूम गया! कुमार जीता है या मृतक, बाहरी जगत् को यह सत्य न मिला! कोई कहता था कुमार गोरी नदी की बाढ़ में बह गया। कोई कहता था पुलिस ने उसे पकड़ लिया था, पर उसने उनके हाथों में आत्मसमर्पित हो जाने से काली नदी में कूदकर आत्म-हत्या कर लेना ही उत्तम समझा। कोई कहता था वह नेपाल चला गया। कोई कहता था वह तिब्बत-चीन होता हुआ रूस में है ।

उस टूटे हुए छिन्न-भिन्न देवालयों की बस्ती में कुमार की माता प्रत्येक मंदिर की परिक्रमा कर अपने पुत्र के लिए कुशल-मंगल की याचना करती, गृहस्थी के कामों में लगकर मन को भुलाने की चेष्टा करती; पर उसकी वेदना निरंतर स्तूपाकार उसके हृदय का विषम भार बनी रहती।

उनके पति देवता बूढ़े पंडितजी प्रगट में यही दिखाते थे, जैसे कुमार का कुछ भी मोह उनके मन में नहीं है। परंतु जब पूजा-पाठ के समय भगवान की सन्निधि में होते, तब उससे कहते—

"हे भगवान्, कौन पाप किये मैंने जो तुमने मेरी चौथी अवस्था की लाठी छीन ली और प्रकाश हटा लिया।"

एक दिन पत्नी को धैर्य बँधाते हुए कहने लगे- " रात-दिन रोती हुई रहोगी, तो आँखें फूट जायँगी। रोना-धोना भगवान के अविश्वास की अभिव्यक्ति है। उससे दुख बढ़ता है, घटता नहीं। भगवान का ही सारा विधान समझो। जो कुछ हो रहा है, सब ठीक ही है।"

"कुमार की खोज के लिए कोई भी चेष्टा नहीं की आपने। लोग कहते हैं, ये कैसे निर्मोही माता-पिता हैं।"

"सरकार की चेष्टाएँ तो हो रही हैं। मैं कर ही क्या सकता हूँ! यह सब मेरे ही पापों का फल है। मैंने उसे नगर के स्कूल में भेज कर विदेशी भाषा पढ़ायी। यह नहीं समझा उसका मन अपने देश की ही संस्कृति का उपासक था।"

"क्य होगा अब ? मेरे मन में भयानक सपने जाग उठते हैं।"

"सहन करना ही है। रोते हुए सहन करने से क्या हँसते हुए सहन करना श्रेष्ठ नहीं है?"

"पल्ले गाँव में 'बाईसी' लगी है, वहाँ एक 'जागर' लगानेवाला आया है। कहते हैं सच्चा देवता उसके अंग में आविर्भूत होता है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान सब कुछ बता देता है। आज रात को भी जागर लगेगा।"

पर पंडितजी के मन में कोई उत्साह न आया। पत्नी कहने लगीं—"आस-पास के सभी गाँववाले अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर वहाँ जाते हैं। रोगियों को औषधि बताता है वह, लड़ाई-झगड़ों के भविष्य, सुख-संतान की वृद्धि के उपाय सुझाता है। सभी लोग कहते हैं उसकी वाणी वाण-सी लगती है।"

"विधाता की रेखा में कोई भी बिंदु घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता है। यह झूठी आशा की चमकें हैं, जो मन को बहका ले जाती हैं, फिर अंततः हमारे ही कर्म-भोग के मैदान में छोड़ देती हैं।"

"कुमार कब आयेगा, यह प्रश्न तो पूछा जा सकता है! हानि क्या है?"

"ठीक तिथि नहीं बता सकता वह।"

"महीना, वर्ष तो बता देगा।"

"अगर उसने कह दिया, वह कभी न आयेगा तो?"

पत्नी फूट-फूट रोने लगी—"कैसा भयानक अपशकुन आपकी वाणी से निकला? हे भगवान्! मेरे कुमार की रक्षा करो। हे स्वामी, मैंने कभी किसी की बुराई नहीं सोची है, मुझे ऐसा दंड क्यों?"

पति-देवता अधीर हो उठे। उन्होंने पत्नी को धीरज बँधाते हुए कहा—"अच्छा मैं जागर में जाऊँगा आज रात।"

पत्नी ने आँसू पोंछ लिये—"आपने अंगरेजी नहीं पढ़ी है। आप संध्या-पूजा करते हैं। फिर आपको जागर में अविश्वास नहीं होना चाहिए।"

पंडितजी ने ऊँची गरदन कर देखा, कुछ सिपाही एक ऑफिसर के साथ उनके घर की ओर आ रहे थे।

पंडितजी घबराकर उठे। पंडितानीजी घर के भीतर चली गयीं!

"मुझे आपके घर की तलाशी लेने का आज्ञा-पत्र प्राप्त है।"

"मैंने क्या चोरी की है?"

"यह तो नहीं जानते। परंतु आपके पुत्र कुमार पर भयंकर राजद्रोह का अपराध है।"

"राजा का क्या द्रोह साधा है उसने ?"

"हमें इसकी विवेचना करनी नहीं है।"

"तो क्या कुमार को मैंने यहाँ छिपा रक्खा है ?"

"तलाशी ही उसका समाधान कर देगी।"

पंडितजी को तलाशी के लिए अपने मकान के द्वार, शृंखल और ताले खोल देने पड़े। एक-एक कोना, एक-एक संदूक, एक-एक वर्त्तन, एक-एक दाना छान डाला गया। कुमार या उसका कोई चिह्न वहाँ नहीं मिला। कुछ कुमार के हाथ के लिखे हुए पुराने लेख तथा कुछ पत्र अधिकृत कर ऑफिसर ने अपने कर्तव्य की पूर्त्ति समझी।

ऑफिसर अपने साथियों को विदा कर पंडितजी से विदा होने लगा—"पंडितजी, न्याय समझ में आ रहा है। संसार के ऊपर कठिन पापों की छाया पड़ी है। रोटी का प्रश्न सब से कठोर है। आप ज्ञानवान हैं, आशा है मुझे क्षमा करेंगे।"

पंडितजी उसकी भलमनसाहत के वशीभूत हो कहने लगे—"परंतु मेरा लड़का, डाकू या हत्यार नहीं है। वह आस्तिक है। उसे भगवान का विधान सदैव ही मान्य है। फिर उसका अपराध क्यों ?"

"आपको धैर्य रखना चाहिए। समय बड़ी तीव्रता से बदल रहा है। संभव है शीघ्र ही नये आलोक में जो कुमार का इस समय अपराध है वह एक पुण्य साधना के रूप में आपकी प्रसन्नता का कारण हो जायगा।" अधिकारी जाने लगा।

पंडितजी उसके साथ-साथ बहुत दूर तक गये—"कब आयेगा वह समय ?"

"आयेगा अवश्य। देश उसके लिए क्षेत्र बन चुका है और देशांतर ने उसके लिए सुयोग उपजा दिया है। कब ? इसे कौन बता सकता है ?"

पंडितजी मन में सोचने लगे—"जागर में नाचते हुए मनुष्य के अंग में समाया हुआ देवता बता देगा।" प्रकट में उन्होंने कहा—"कुमार के हाथ के लिखे हुए इन लेखों का क्या होगा ?"

"अनुसंधान के लिए आवश्यक हैं।"

"वह कापी तो दे दीजिए। उसका राजनीति से कोई संबंध नहीं है। वह देवी का कवच है।"

अधिकारी ने वह कापी देखी—"देवी का कवच ? हाँ, इसका शक्ति से मतलब है, राजनीति से नहीं।"

"और यह दूसरी कापी भी।"

"यह क्या है ?"

"यह इन टूटे हुए देव-मंदिरों के स्थापत्य और मूत्तिकला की विवेचना है। यह भी धार्मिक वस्तु है।"

"नहीं, यह धर्मिक वस्तु नहीं है। यह संस्कृति का इतिहास है।"

"जब देवी के वचन को आप राजनीति में सम्मिलित नहीं करते, तब उसकी प्रतिमा और इतिहास को क्यों वहाँ जोड़ते हैं ?"

"मूर्त्ति अखंडित होती तो मुझे कोई आपत्ति न थी। ये खंडित होने से राजनीति से संबद्ध हो गयीं।"

"कैसे ?"

"ये राज्य-क्रांति द्वारा ही खंडित हुई हैं न ?"

"हाँ ।"

"बस, राजनीति में शामिल हो गयीं। साम्प्रदायिक भावना है इसमें ।"

"इस पहाड़ पर कभी कोई सांप्रदायिक भावना नहीं पनपी है ।"

"तो ये मूर्त्तियाँ टूटी क्योंकर ?"

"आपकी दृष्टि में ये मूर्त्तियाँ मान्य नहीं हैं क्या ? बड़े परिश्रम से कुमार ने इस इतिहास को लिखा है ।"

"यह सुरक्षित ही रहेगा । सरकार धार्मिकता में कोई हस्तक्षेप नहीं करती । इनको ऐसे ही लौटा देने का मैं उत्तरदायी रहूँगा । जब मैं यहाँ तलाशी के लिए आया हूँ, तब कुछ न कुछ तो मुझे ले जाना ही चाहिए न ?"

पंडितजी अधिकारी के तर्क पर हँसने लगे—"यह भी कोई बात हुई ।"

"आपको कोई चिंता न करनी चाहिए। इन कागज-पत्रों से कोई अनिष्ट नहीं साधा जा सकता। न आपका न आपके पुत्र का।"

"और क्या अनिष्ट होगा ? इतनी बड़ी खाई खोद दी गयी है पिता-पुत्र के बीच में। तीन साल का कड़ा दंड भोगकर वह आया। हमने एक दिन के लिए भी उसका मुख नहीं देखा और आपके काले कानून ने उसे फिर हमसे विभक्त कर दिया !"

"पंडितजी"—अधिकारी उनके कान में कहने लगा—"अब भी कोई देर नहीं हुई है। यदि आप कुमार को कहीं से प्रकट कर

दें और वह मेरी बात मान जाय, तो मैं उसे सारे अपराधों से मुक्त करा सकता हूँ।"

"ये दोनों बातें असंभव हैं। न मैं उसे प्रकट कर सकता हूँ, न वह अपना अपराध प्रकट करेगा। फिर आप कहां से मुझे उसे प्रकट कर देने को कह रहे हैं? क्या मैंने उसे कहीं छिपा रक्खा है?"

"बड़ी विवशता है, फिर तो।" कहकर अधिकारी चला गया।

उसके जाने पर पत्नी ने आकर कहा—"वह कागज-पत्र क्यों उठा ले गया?"

"ले गया वेतन की सार्थकता पूरी करने के लिए।"

"एक दिन फिर पुलिस आयेगी और हमको भी पकड़ ले जायगी क्या?"

"क्यों पकड़ ले जायगी? क्या किया है हमने?"

"कुमार ने ही क्या किया है?"

संध्या हुई। पंडितजी ने संध्या-पूजा के अनंतर भोजन किया।

रात्रि का अंधकार सघन हो चला। दूर गाँव में जागर के ढोल बजकर समस्त घाटी को निनादित करने लगे। पंडित जी भी वहाँ जाने के लिए तैयार हो गये।

पत्नी ने एक रूमाल की गाँठ में कुछ तिल और चावल बाँधकर उन्हें दिये। एक सेवक तेल की लकड़ी की मशाल जलाकर उनके आगे-आगे चला। वे जागर में पहुँच गये।

जागर क्या था।—कैंप फायर?—बीच में बाँज के पेड़ों के बड़े-बड़े तने सुलग रहे थे। चारों ओर ग्रामवासियों की भीड़ लगी थी। एक ओर डमरू, ढोल और थालियाँ बजा रहे थे कुछ

लोग। एक ढोली कुछ सामयिक गीत भी गा रहा था। बीच में आग के चारों ओर नाचते हुए मुंडों में देव-भाव या वीर-भाव जागरित करने के लिए वह उद्‌बोधन-संगीत था। इसी भाव-जागरण के लिए उस नैश सभा का नाम जागर था।

एक-एक कौपीन पहने चार मुंड नाच रहे थे। उनके गलों में फूल मालाएँ पड़ी थीं। हाथों में राखियाँ बँधी थीं। मस्तक पर रोली के तिलक लगे थे। उनके पैर बाजों की चोट पर ताल देते हुए परिक्रमा साध रहे थे। दोनों हाथ-पैरों के संतुलन में ऊपर-नीचे होकर नृत्य की भंगिमा प्रकट कर रहे थे। सारे शरीर में उनके एक प्रकंप प्रवाहित था। कुछ और लोग भी चिमटे, त्रिशूल और मोरछल लिये उनके सहचारी होकर उनके साथ चल रहे थे। उनके हाथ-पैरों का संचालन भी नृत्य के साथ मेल खाता हुआ था।

पंडितजी भी अपने हाथ में रूमाल की गाँठ संभालकर उस सभा में सम्मिलित हो गये।

अचानक गीत-वाद्य बंद हो गया। मुंडों का प्रधान अपनी गति में विराम देकर खड़ा हो गया।

भीड़ में से एक फटे-मैले वस्त्र पहने वृद्धा उसके सामने आयी और अंचल में से कुछ चावल निकालकर उनके उस मुंड के हाथ में रक्खे। वृद्धा दोनों हाथ जोड़कर बड़े भक्ति-भाव से वहीं पर खड़ी रह गयी और मुंड अपने अनुचरों के साथ चल पड़ा। बाजा फिर अपनी चाल पकड़ गूँज उठा।

मुंड दोनों हाथों से अक्षत उछालता हुआ धूनी की एक परिक्रमा पूरी कर फिर उस वृद्धा के सामने आकर खड़ा हो गया। उसने हाथ के शेष अक्षत हवा में उछाले और फिर गिरते हुए दाने हाथ में पकड़ लिये। बाजा फिर बंद हो गया। मुंड उन दानों के जोड़े

मिला-मिलाकर इधर-उधर फेंकने लगा। होठों पर उसके एक गुनगुनाहट थी। कदाचित् कोई मंत्र था या अक्षतों की गणना।

अंतिम अक्षत बिखराकर आधी बंद और आधी खुली आँखों में कहा—"बीमार है कोई!"

"हाँ देवता, हाँ भगवन्! क्या छिपा है तुमसे? दुख दूर करो स्वामी!"

"पूरे वर्ष की बीमारी है। ज्वर है?"

"हाँ मालिक, ज्वर है।"

"खाँसी भी?"

"खाँसी भी।"

"बीमार एक स्त्री है।"

"हाँ स्त्री है, मेरी छोटी बहू है। हड्डी-हड्डी रह गयी है। हे देवता, अब तो दया करनी चाहिए उस विचारी पर!"

"दया! हँ हँ हँ!" हँस पड़ा मुंड—"अहंकार लगा है उसे जेठानी का।"

"जेठानी से कोई झगड़ा नहीं है उसका।"

"तुम क्या जानो।"

"उस अहंकार की शांति का उपाय बता दो।"

"पूजा करो।"

"क्या पूजा करूँ?"

फिर बाजा बज उठा और मुंडों के दल ने फिर तीन परिक्रमाएँ कीं। मुंड-नायक फिर खड़ा हो गया उस वृद्धा के आगे। उसने अपने गले की माला में से एक फूल नोचकर उस वृद्धा के हाथ में रखकर कहा—"बीमार के सिरहाने रख दो इसे। अपने कुलदेवता की पूजा करो, एक बकरी चढ़ाओ।"

वृद्धा ने विनय के साथ बार-बार हाथ जोड़े—"जय हो, देवता की जय हो, भगवान् की जय हो।"

वृद्धा भीड़ में मिल गयी और एक युवक उसके स्थान पर आकर खड़ा हो गया। उसने भी कुछ चावल मुंड के हाथ में रक्खे। बाजा फिर बज उठा और मुंडों का दल फिर आग के चारों ओर नाचने लगा।

हठात् मुंड उस युवक के आगे खड़ा हो गया ! उसने कुछ अक्षतों के छींटे उसके सिर पर मारे। वह फिर नाचकर उसके आगे खड़ा हो गया। वह हँसा और बोला—"औरत !"

युवक हाथ जोड़कर खड़ा था उसके सामने, चुपचाप। मुंड ने दोहराया—"उत्तर क्यों नहीं देता ?"

"कैसा उत्तर हे देवता ! तुम समर्थ हो, सब जानते हो, मैं क्या उत्तर दे सकता हूँ आपके सामने।"

"क्या है तेरा प्रश्न ? औरत का ही तो है न ?"

"हाँ देवता, मायके भाग-भाग जाती है।"

मुंड ने कुछ रिसाकर कहा—"इतने ही के लिए देवता को छेड़ता है। उसको अच्छे प्रकार खिलाया-पिलाया कर।"

"खाने-पीने की कोई कमी नहीं कर रक्खी है। देवता की दया से घर-बाड़ी, नदी-खेत, गाय-भैंस सब कुछ है। काम से जी चुराती है वह। रात में देर तक बक-बक करती है और दिन में देर तक सोती रहती है।"

"तो पीटता क्यों है उसे ? घर की लक्ष्मी पर हाथ उठावेगा, तो सारा जन्म रोते-झींखते ही कटेगा।"

"फिर जो बताओ, वही करूँगा।"

"एक जोड़ा नये कपड़े, पूरी-मिठाई, फल-फूल और चार

जोड़ी लाल चूड़ियाँ, सिंदूर और एक कंघी-डोरा लेकर ससुराल जाओ। किसी ब्राह्मण से उसकी विदाई का मुहूर्त्त निश्चय कर उसे विदा करा लाओ। सास-ससुर के पैर छूकर उन्हें प्रसन्न कर लेना।"—मुंड ने कहा।

"जय-जयकार हो देवता की!" नवयुवक ने उल्लास में भर-कर उच्चारण किया—"और कोई आज्ञा?"

मुंड ने अपने कंधे पर लटकती हुई झोली में से एक लोहे की कील निकालकर युवक को देते हुए कहा—"रात को जब सब सो जायँ, इसे ससुराल की किसी चौखट पर ठोक देना। देखो किसी को ज्ञात न हो।"

"जो आज्ञा, यही होगा सच्चे देवता, यही होगा।"

फिर बाजा बजने लगा, फिर मुंड नाचने लगे।

वृद्ध पंडितजी ने नवयुवक के रिक्त स्थान की पूर्ति की और रूमाल की गाँठ खोलकर अक्षत हाथ में ले लिये। नाचते-नाचते जब वह मुंड-नायक उनके पास आया, तब उन्होंने उसको अक्षत सौंप दिये।

नायक ने चावल के दाने आकाश में उछालकर फिर हाथ में पकड़ लिये। फिर उछाले, फिर पकड़ लिये और एक-दो बार यही क्रम जारी रक्खा। जब हाथ में थोड़े-से दाने रह गये, तब उसने उनको ध्यान से निहारा। आँखें मूँदकर कुछ ध्यान-सा किया। इसके अनंतर उन अक्षतों को खींचकर पंडितजी के सिर पर दे मारा!

पंडितजी ने घबराकर हाथ जोड़े। मुंड एक साधारण श्रेणी का अपढ़ किसान था। अभी तक पंडितजी अपनी संध्या-पूजा और ब्रह्मत्व के अभिमान में हाथ लटकाये खड़े थे। सिर पर अक्षतों की चोट के लगते ही उन्होंने सोचा—"इस मुंड में

देवत्व के आविर्भाव का विश्वास किये बिना कैसे मुझे फल मिलेगा, इसे हाथ जोड़ना ही तो मेरे विश्वास का प्रदर्शन है।" उन्होंने हाथ जोड़ लिये।

झुंड नाचते-नाचते आगे बढ़ गये थे। चक्कर काटकर जब वे फिर पंडितजी के पास आये, तब उनकी विनम्र मुद्रा देखकर झुंड-नायक उनके सामने रुक गया। वह बोला—"कुछ खो गया है!"

पंडितजी की आँखों में आधी-आधी आँसू की बूँदें छलक पड़ीं। हर्ष और विस्मय के अतिरिक्त उनके अधर कम्पायमान हो गये। वह मन में कहने लगे—"बात तो ठीक बता दी इसने।" उन्होंने भक्ति-भाव से सिर ऊपर-नीचे कर मुंड के सत्य का अनुमोदन किया।

पंडितजी की दुर्बलता पकड़ ली मुंड ने। वह उनके मानस में बैठ गया। बोला—"गाय-भैंस नहीं, तुम्हारा बेटा।"

पंडितजी से कोई जान-पहचान न थी उस मुंड की। किसी दूसरी घाटी का था वह। संशय भुलाकर उन्होंने पूछा—"कहाँ है वह?"

"अंगरेज सरकार के राज के बाहर।" उत्तर मिला।

"घर कब आवेगा!"

"शनिश्चर की दृष्टि है उस पर। जब वह हट जायगी, तब वह आवेगा।"

"वह दृष्टि कब हटेगी?"

"किसी ज्योतिषी से पूछो।"

"आप नहीं बता सकते?"

"लड़ाई समाप्त हो जाने के बाद आवेगा!"

"लड़ाई कब समाप्त होगी?"

"लड़ाई कभी समाप्त नहीं होती। एक के बीज में दूसरी की जड़ है और दूसरी की जड़ में तीसरी की गुठली। अधिक लालच मत करो।"

बहुत कुछ धीरज प्राप्त कर पंडितजी घर लौट गये और पंडितानीजी भी पर्याप्त आश्वासित हुईं।

१५

कुमार जाते-जाते जिले की सीमा पर जा पहुँचा। उस पार तिब्बत का राज्य था। कुमार ने एक दिन विचारा, वह अपने किसी अनिश्चित उद्देश्य के होने पर भी कैलास के पथ पर आ गया है। उसके कैलास—मानसरोवर जाने की इच्छा प्रबल हो उठी।

उस दिन चलते-चलते उसे बहुत रात हो गयी। जो मार्ग-दर्शक उसके साथ कुछ मित्रों ने भेजा था, वह रास्ते में बीमार पड़कर निकट के एक गाँव को चला गया था। कुमार ने मार्ग को स्पष्ट समझकर उसे स्वयं ही विदा कर दिया था।

कुमार ने दाढ़ी और सिर पर के बाल बढ़ा लिये थे। भोटिया मित्रों ने उसके कैलास की यात्रा के योग्य उसे ऊनी वस्त्र और कम्बल ओढ़ा दिये थे। सिर पर कानों तक लटकती हुई ऊनी टोपी और पैरों में घुटनों तक चढ़ा हुआ जूता। लम्बा ऊनी कुरता, एक लम्बी पट्टी से बँधी हुई कमर, कंधे पर कम्बल था। उसके एक हाथ में लाठी थी और दूसरे में एक दोमुखी भोटिया झोली थी। झोली के एक भाग में राष्ट्रीय झंडा, ऊन और तकली

थी, दूसरे में उसकी भोजन-भिक्षा। वह थैली कभी उसकी बाँहों पर लटकती थी और कभी उसके कंधों पर।

दो-तीन वर्षों के विजन-प्रवास, अनभ्यस्त उँचाई और परिवर्तित रहन-सहन के बीच में कुमार का वेश ही नहीं, रूप और मानसिकता भी बदल गयी। बोली से कोई उसका मित्र-संबंधी उसे पहचान लेता, तो लेता, उसके दर्शन मात्र से तो कभी कोई भी नहीं, चाहे कितने ही दिनों तक वह उसके साथ क्यों न रह गया होता।

परंतु कुमार आगे जाकर मार्ग भूल गया। संध्या हो गयी और उसे बस्ती के कोई चिह्न न दिखाई दिये। न कहीं खेत, न कहीं पशुओं के पदांक या गोबर। भोजन के लिए उसकी झोली में पर्याप्त सत्तू था, ओढ़ने के लिए भी था ही।

मुक्त प्रकृति में तारा-खचित आकाश को ही सबसे बड़ी छत समझनेवाले शकों और हूणों को वह बराबर देखता चला आ रहा था। मार्ग में जहाँ संध्या हो जाती, वहीं उनका घर बस जाता। धीरे-धीरे सभ्यता के जाल से निकलकर कुमार प्राकृतिकता की ओर बढ़ चला। उसकी धारणा होने लगी—"यह भी तो मुक्ति का प्रकार है। और इस आंदोलन की पृष्ठभूमि एकराष्ट्रीयता नहीं, अंतरराष्ट्रीयता है।"

प्रकृति की निर्जनता और अंधकार में कोई भय नहीं रह गया था उसके। बार-बार भोटिये व्यापारियों के पड़ावों में उसने रातें बितायी थीं। भारतमाता का मातृत्व विकसित होकर प्रकृति के मातृत्व में समा गया था।

चोर-भय भी उसके कुछ था नहीं। उसके पास कोई मूल्यवान रत्न-जवाहरात तो थे नहीं। कितना ही बड़ा चोर क्यों न होता, उसके समीप आकर उससे साधुता का ही तो व्यवहार करता। हिंस्रपशु ? कुमार सिद्धांततः यह भले प्रकार जानता था, जब तक

उसकी वृत्ति में अहिंसा है, कोई भी हिंस्र पशु उसके दाँत नहीं गड़ा सकता।

रात्रि का चंद्र-विहीन अंधकार ऊँचे पर्वतों का तरल वातावरण। न कहीं कोई वृक्ष, न कोई आट! जाते-जाते वह कहने लगा—"विश्वजननी का यह अद्भुत रूप। क्यों यह प्रीति के योग्य न हो!"

थककर वह बैठ गया, एक चट्टान की ओट में तीखी हवाओं से बचने के लिए। पास में कोई कानो कौड़ी भी न होने से चोर-डाकू का अभय पा लिया था उसने। एकाएक दूसरी दिशा स्मरण हुई उसे।

वह सुन चुका था सरकार ने हजारों रुपए का लालच उसके शरीर के साथ जोड़ दिया था। कुछ भी अपने साथ न रखने पर भी वह धनराशि विना उसे भार-त्रस्त किये बराबर उसके साथ चल रही थी। फिर जीते जी कोई उसे ले जाने में समर्थ न हो उसे मारकर तो झब्बू बैल में लादकर ले जा सकता और उसकी हड्डियों को संसार की एक सभ्यतम सरकार के हाथ हजारों रुपयों में वेच तो सकता।

निराश होकर उसने अपने चारों ओर देखा। दूर पर एक जलते हुए प्रकाश ने उसकी दृष्टि खींच ली। वह उठा और उसकी ओर बढ़ने लगा। कभी-कभी जिस भय से हम बचना चाहते हैं, कोई अज्ञात चेतना हमें उठाकर उसी के समीप रख देती है।

वह अग्नि का प्रकाश था। एक हुणिया और उसकी पत्नी उसके पास बैठकर मांस भून रहे थे। हुणिया एक व्यापारी था जो शिशिर और हेमंत की ऋतुओं को नीचे के मैदानों में काटकर तिब्बत को लौट रहा था। उसका कुछ सामान पास ही चट्टा लगाकर रक्खा हुआ था। निकट ही कुछ बकरियाँ विश्राम कर रही थीं और दो झब्बू अभी तक चर ही रहे थे। उनके गलों में

लटकते हुए ताँबे के घंटे, बीच-बीच में बजकर प्रकृति की नींद तोड़ रहे थे।

कुमार का निकट आगमन सूँघकर हुणिये का डरावना कुत्ता भौंकने लगा। रात्रि की स्तब्धता में प्रतिध्वनि की सहायता पाकर वह भयानक स्वर कई गुणा भयानक हो गया। हिंसा और अहिंसा की सारी दार्शनिकता कुमार को भूल गयी। वह सोचने लगा-- "इस प्रकाश से तो उस अंधकार में ही सुरक्षित था!"

कुत्ता भौंकता हुआ उसके निकट ही आ गया। कुमार चिल्लाया—"बचाओ, बचाओ!"

"कौन है?"

"एक यात्री।"

हुणिया झूमता हुआ उठा और कुत्ते को डाँटने लगा। उसके तब भी न मानने पर उसने दौड़कर उसे पकड़ लिया।

दोनों प्रकाश के पास आये। कुमार के न पहचानने पर भी हुणिये ने उसे पहचान लिया। वह कहने लगा—"यहाँ कहाँ आ गये तुम?"

"तुम पहचानते हो मुझे?"

"हाँ। जाड़ों में बागेश्वर के मेले में एक रात हमने तुम्हें अपने तम्बू के भीतर छिपाया था, तुम्हें जब पुलिस ढूँढ़ रही थी। लेकिन आज तुम्हारी सारी हुलिया बदल गयी है। फिर भी मैंने कोई भूल नहीं की है। क्यों ठीक ही कह रहा हूँ न?" हुणिये ने फिर भौंकते हुए कुत्ते के मुख में एक चपत मारकर उसे चुप करा दिया।

कुमार को सब स्मरण हो गया। वह बोला--"हाँ ठीक कहते हो।"

हुणिया बड़ी जोर से हँसने लगा। उसने किसी विशिष्ट ताल में कुमार की पीठ थपथपायी और उसे गले से लगाया—"पुलिस नहीं पकड़ सकी तुम्हें अभी तक? बड़े बहादुर हो तुम।"

कुमार ने मदिरा की दुर्गंधि में सना हुआ पाया उस हुणिये को। उसकी आँखें लाल और विस्फारित थीं। वह अपनी चाल में डगमग और बोल में टूटा हुआ था। कुमार ने उससे कुछ दूर हटने की चेष्टा की !

हुणिये ने अपने बलिष्ठ हाथों से कुमार का हाथ पकड़ लिया—"बहुत ठंडे हाथ हैं तुम्हारे। आग से इतनी देर में गरम न होंगे जितने पानी से। चलो।" उसने कुमार को ले जाकर अपनी पत्नी और अपने बीच में बिठा लिया आग के सामने।

पत्नी मांस चलाती हुई हँसी और कहने लगी—"मैं सोच रही थी, इतना कैसे खाया जायगा। एक और तीसरे का आना ठीक ही हुआ हमारे बीच में।"

हुणिया सामान के बीच में से कुछ निकालता हुआ बोला—"तुमने नहीं पहचाना इन्हें।"

गाल पर हाथ रखकर पत्नी ने कुमार को टक बाँधकर देखा—"नहीं तो।" उसके भरे हुए स्वस्थ मुखमंडल में गुलाब के फूल खिल रहे थे।

"बागेश्वर में उस दिन हमने इन्हें ऊन के ढेर में छिपाया था।" हुणिये ने कहा।

हाँ, याद पड़ गया! उस दिन उचित आतिथ्य न कर सकी थी मैं इनका।" कहकर एक मैले तामचीनी के प्याले में वह मांस के टुकड़े निकाल-निकालकर रखने लगी।

उधर हुणिये ने एक प्याले में कुछ मदिरा ढालकर कुमार की ओर बढ़ायी—"लो पी लो, क्या याद करोगे तुम भी खिशू हुणिये को!"

कुमार ने अनासक्ति प्रकट की।

खिंशू बोला—"मेरे सिवा और किसी दूसरे को यह सूँघने को भी नहीं मिलती, तुम्हें पीने को मिल रही है। पीकर देखो तो सही। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों हरे हो उठेंगे।"

"नहीं, मैं तो कभी नहीं पीता।"

"फिर इन पर्वतों की उँचाई में तुम्हारा शरण ढूंढ़ना सरासर नादानी है।"

पत्नी ने अनुमोदन करते हुए कहा—"कभी नहीं पी तो आज तो चख लो। मुख का स्वाद बदलने के लिए यह मांस परोस दिया है मैंने तुम्हारे लिए। तब तक ठण्डा हो जायगा खाने योग्य।"

कुमार ने खिंशू के पैर पकड़ लिये। वह गिड़गिड़ाया—"मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। आप पीजिए।" फिर उसकी पत्नी की ओर हाथ जोड़कर बोला—"हे देवि, आप भी मुझे माफ करें। मैंने मांस भी कभी नहीं खाया है। एक भी टुकड़ा यदि खा लूंगा, तो मेरी तमाम आँतें वमन द्वारा बाहर निकल आयेंगी।"

पत्नी ने आँखें मटकाकर खिंशू से कहा—"बड़ा अजीब अतिथि ढूंढ़कर लाये।" उसने कुमार के प्रति कहा—"फिर तुझे क्या खिलाऊँ मैं? सत्तू-गुड़ कुछ भी नहीं है, चौबीस बोरे नमक के भरे हैं सिर्फ।"

"सामान से लदी छत्तीस बकरियाँ, दो झब्बू, दो नौकर दबकर मर गये मेरे दर्रे को पार करते हुए। हिम का पर्वत खिसक पड़ा उनके ऊपर। न पानी न हिम! साफ उजला आकाश। भगवान के इस परिहास को केवल खिंशू ही सहन कर सकता है।"

कुमार ने संवेदना के स्वर में कहा—"कब की बात है?"

"इतवार-इतवार आठ और इतवार पंद्रह, परसों को पंद्रह

दिन होंगे। लो पी लो। दिनों की गिनती में क्या रक्खा है ? ये चौबीस बोरे नमक के अगर चार सौ बकरियों के साथ भी हिम-समाधि प्राप्त कर गये होते, तो शायद ही खिशू इतना गरीब पड़ता जितना वह आज है। लो पी लो। कुछ नहीं, अमीरी-गरीबी केवल एक ख्याल ही तो है। अरे दिल चाहिए दिल। पिलानेवाला चाहिए, पी लेने में कठिनता क्या है ?"

कुमार ने बड़ी कातरता से फिर उससे क्षमा माँगी।

"फिर तू आया क्यों यहाँ ? जहाँ पड़ा था, वहीं क्यों न रहा ! मांस नहीं खाता, तो न सही, इसे पी ले तेरी कौन जात चली जायगी ?" खिशू बोला।

"यदि आप अपने आग्रह में दृढ़ हैं, तो मैं विवश हूँ। क्या करूँ फिर चला जाऊँगा।"—कहकर कुमार जाने लगा।

खिशू ने वह प्याला स्वयं पी लिया-थोड़ा-सा बचाकर पत्नी को दे दिया और कुमार से कहने लगा—"अच्छा, जा मत। मनुष्य को मनुष्य का सहारा भी बहुत है।" उसने कुमार का हाथ पकड़कर फिर अपने बीच में उठा लिया और उससे पूछने लगा—"तू जा कहाँ रहा है ?"

"कैलास को जा रहा हूँ।"

"क्या करेगा वहाँ ?"

"सारा संसार उसकी परिक्रमा करता है। मेरा भी परिक्रमा में विश्वास है।"

खिशू ने अपनी पत्नी से कुछ हुणियों की भाषा में कहा। पत्नी हँसने लगी और कुमार उन दोनों का मुंह ताकता रह गया।

"कुछ नहीं। मैं यह कह रहा हूँ, मेरे दोनों नौकर मर गये। खाने-पीने की चोरी अवश्य करते थे वे। हमें कम से कम एक

नौकर तो चाहिए ही। मदिरा तुम छूते नहीं, मांस तुम खाते नहीं। क्या शक है तुम्हारी ईमानदारी में। करोगे नौकरी ?"—खिशू बोला।

"क्या नौकरी होगी मुझसे आपकी ?"

"मुश्किल काम थोड़े है कुछ। बकरियों पर थैले लादना और उतारना। तिक-तिक कर उन्हें हाँक ले जाना। कभी उन्हें चरा लाये, पानी पिला दिया बस। पीठ पर तुम्हें कुछ ले जाना नहीं होगा। ऐसी तिब्बती भाषा तुम्हें सिखा दूँगा कि काला तो काला, गोरे की पकड़ में भी न आ सकोगे तुम कभी।"

"मेरे तो माँ-बाप हैं, खेती-बाड़ी है, नौकरी भी है। मैं पढ़ा-लिखा हूँ। यह कुली का काम करने से क्या लाभ होगा मुझे ?"

"मैं सब कुछ जानता हूँ। पुलिस तेरे पीछे पड़ी है। इसीलिए घर-द्वार सब भुलाना पड़ रहा है तुझे। मैं तेरा दूसरा जन्म बना दूँगा। कोई नहीं पकड़ेगा फिर तुझे। कैलास तक तो चल। जा तो रहा ही है वहाँ, जरा बकरियों पर नजर रखते हुए जाना। क्या घट जायगा तेरे ?"

कुमार ने सोचा—"क्या हानि है।"

"तू बकरियों को न भटकने देगा, हम तेरी राह सँभालते रहेंगे। नहीं तो विकट रास्ता है कैलास का। कहीं भटक गया, पैर फिसल गया या हिम का पर्वत टूट पड़ा तेरे ऊपर, तो सारी दुनिया गोल हो जायगी।"

"हाँ, ठीक बात है। कैलास तक जो आप कहेंगे करूँगा, पर उससे आगे जाना नहीं है मुझे।"

"काम पसंद हो गया, तो चलना।"

"नहीं, कैलास ही रहना है मुझे कुछ दिन।"

"क्या करेगा वहाँ ?"

"कुछ दिन तपस्या करूँगा।"

"क्या तपस्या करेगा वहाँ ? मेरे साथ चल मैं तुझे अपने लामा गुरु के पास ले चलूँगा। बड़े भारी महात्मा हैं वे। हैं, तू तो ऊँघ रहा है !"

आँखें मलते-मलते कुमार बोला—"सब सुन रहा हूँ मैं।"

"पुलिस क्यों तुम्हारे पीछे पड़ी हुई है ? किसी का घर फोड़ा है या किसी को मार डाला ?"

"दोनों में से कुछ भी नहीं।"

"फिर क्या बौरा गयी है पुलिस ?"

"मैंने गोरों के प्रति 'भारत छोड़ो' की ध्वनि जगायी है।"

"और तुमको ही छोड़ना पड़ गया भारत। लामा गुरु ने जब तुम्हारे पैसे में छेद देखा, तभी कह दिया था अब गोरों का राज नहीं टिक सकता भारत में।" खिशू ने कुमार की पीठ में हाथ मारकर कहा—"लामा गुरु केवल सच ही बोलते हैं।"

आती हुई नींद में धनई दिखाई दे रहा था। उससे चौंककर कुमार ने कहा—"हाँ, ठहर तो नहीं सकता अब वह यहाँ।"

खिशू की पत्नी धीरे-धीरे एक गीत गाने लग गयी थी।

खिशू कहने लगा—"और फिर तुम हम पर भी कोई रोक-टोक लगा दोगे अपने देश में आने की ?"

कुमार ने फिर ऊँघते हुए कहा—"तुम व्यापार की कामना से आते हो, राज की कामना से तो नहीं आते।"

"व्यापार की कामना ही तो राज की इच्छा है। गोरे तुला-दंड ही तो लेकर आये थे पहले। तुम फिर सोने लग गये ?"

पत्नी गीत बंद कर बोली—"लो, कुछ तो खा लो।" उसने

भूबल में से दो दाने आलू के निकाले। दबाकर उन्हें देखा, पक गये थे वे। कुछ नमक के साथ उसने उन्हें एक तश्तरी में रख कुमार के सामने रक्खा—"लो, यह आलू तो खा लो।"

उसके मांस के सने हाथों के आलू खाने की कुछ भी श्रद्धा न हुई कुमार के। तश्तरी भी तो उसी के संसर्ग की थी। कुछ भूख भी थी, कुछ उन सत्कारकों के भाव की सराहना की आवश्यकता भी। बाहर के छिलके उतारकर कुमार ने कुछ आलू भी छीलकर फेंक दिये और थोड़ा-सा भीतर का गूदा मुँह में डाल मुँह चला लिया कुछ देर।

खिशू उठा। एक कम्बल बकरियों के निकट बिछाकर बोला—"नाम क्या है तुम्हारा ?"

"कुमार।"

"सिर्फ ? बस ?"

"हाँ।"

"अच्छा कुमार, यहाँ पर सो रहो। ओढ़ने को तुम्हारे पास है ही।"

"हाँ है।"—कहकर कुमार सोने को चला गया।

पत्नी चिमटे का छल्ला बजाती हुई गा रही थी। खिशू के भी हृदय के तार झंकार उठे। छोटा-सा एकतारा था उसके एक, उसे निकालकर ऐंठने लगा वह उसके कान "तुन ! तुन !"

"यह तुन-तुन फिर होती रहेगी। पहले खाना तो खा लो।"

"ठहर जा, ठहर जा, बोल मत इस समय! बड़ी बढ़िया तरंग आयी है। खाना जा नहीं सकता कहीं को, तरंग न जाने किधर बह जाय!" वह धनुष घिसने लगा एकतारे में एक हाथ से और बायें हाथ की उँगलियाँ नाचने लगीं तार के ऊपर—"तुन्न-तुन्न, तुन-तुन-तुन, तुनतुनतुनतुनतुन।"

अनंत तारों से भरी हुई ऊपर नाच रही थी नीलिमा ध्रुव की धुरी पर, और नीचे नाचने लगी वह हिम-सुता एकतारे की स्वर-लहरी पर ! वह अपना आग्रह भूल गयी। उठ खड़ी हो गयी वह बाला, सहज नृत्योल्लसित चरण स्थिर न रह सके धरती पर। खिशू भी उठ गया--दोनों नाचने लगे !

दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हो उठी वह विजन की शून्यता। अभिनेता ही दर्शक हो गये। कुमार गहरी नींद में डूब गया था।

परंतु उस नृत्य की भंगिमा एक भयानक चित्र खींच रही थी खिशू के मानस में। वह मदिरा का काला स्वप्न था क्या ?

खिशू ने एकाएक राग तोड़ दिया और एक तारा उठाकर दूर रख दिया।

पत्नी ने कहा—"अभी कुछ और।"

"चुप रहो। अब कुछ नहीं।"

"इतनी जल्दी थक गये ?"

"कौन कहता है थक गया ?" खिशू ने अपने सिरहाने से छुरा निकाला—अग्नि के प्रकाश में वह चमक उठा। खिशू छुरा लेकर नाचने लगा !

पत्नी नाच बंद कर खड़ी हो गयी थी। कहने लगी—"यह क्या हो गया तुम्हें ?"

"बहुत बढ़िया नाच दिखाऊँगा तुम्हें।"

"पागलपन छोड़ो।"

"यह एक हजार रुपए का नाच है। ठनाठन ठन ! नोट नहीं लूँगा ! चाँदी ठोस ! चाँदी !"

"बहुत अधिक मदिरा पी ली तुमने।"

"छत्तीसों बकरियाँ, दोनों झब्बू, दोनों नौकर—मय सामान के सब वापस मिल जायँगे।"

"न जाने क्या बक रहे हो ?"

खिशू ने छुरी की नोक से सोए हुए किशोर की ओर संकेत किया—"वह देख, वह एक हजार रुपए का नोट सो रहा है। इस छुरे की नोक से भुनाया जा सकता है वह।"

पत्नी पति का स्पष्ट मतलब न समझने पर भी घबरा उठी। वह उसके और कुमार के बीच में जाकर खड़ी हो गयी—"खिशू, कौन-सी राक्षसी चेतना तुम्हारे मन में घर कर गयी ?"

"मेरे चालीस प्राणियों को हिम निगल सकता है, तो क्या यह अकेला परदेसी बच सकेगा उसकी कठोरता में ? सरकार इसकी खोपड़ी की जाँच करेगी, तभी इसकी लोथ के लिए भी एक हजार रुपया देगी। हिम में दबकर यह मरा तो किस काम का, कभी किसी को मिल ही न सकेगा।

"खिशू ! भयानक पाप तेरे मुँह से बोल रहा है ! परंतु मैं तुझे और अधिक न गिरने दूँगी।" पत्नी ने खिशू के हाथ से छूरा छीन लिया।

"छूरा दे दे, नहीं तो तुझे भी मार डालूँगा।" खिशू ने कहा।

"अरे मानवता के कलंक ! तुझे सदैव ही मैंने साधुता से भरा पाया था। यह कैसी पैशाचिकता जाग उठी तुझमें ? वह अतिथि है, शरणार्थी है, निहत्था है और है गहरी नींद में सोया हुआ। पापी ! तेरी वासना को धिक्कार है।" पत्नी ने उसे धक्का देकर भूमि पर गिरा दिया !

टीन के एक बर्तन से उसका सिर टकराया, उसे चोट लगी; परंतु वह उठ गया। पत्नी कुमार को जगाने के लिए उसके निकट जा रही थी। खिशू ने उसे रोककर कहा—"जगा मत उसे। मेरा सिर चकराता है। देख तो रक्त बहने लगा।" वह माथा

पकड़कर बैठ गया। रक्त की धारा ने उसके विचार की धारा की दिशा बदल दी।

"पत्नी दूर अंधकार में उस छुरे को कहीं छिपा आयी और खिशू के पास आकर बोली—"नशा दूर हुआ न?"

"एक भूत-सा मेरे अंग में समा गया था। तुमने बड़ी रक्षा की। तुम देवी हो।"

पत्नी ने पति के घाव में कोई दवा लगाकर पट्टी बाँध दी।

सिर पकड़े हुए खिशू उठा—"क्या हो गया था मुझे?"

"कहाँ जा रहे हो?"

"उठा तो नहीं वह?"

"इधर बैठो— कैसी रागिनी बजायी तुमने? मैं नहीं जानती थी, तार में ऐसी पैशाचिकता भी सोती है। इधर बैठो, खाना खा लो।" पत्नी ने कहा।

"इच्छा नहीं है।" खिशू बैठ गया।

पत्नी ने उसे हठ बाँधकर थोड़ा-सा खाना खिलाया और सुला दिया। थोड़ी ही देर में वह सो गया। परंतु उसकी पत्नी रात भर आशंका में जागती रही।

भोर होने से बहुत पहले ही उसने किशोर को जगाया। खिशू तब सो ही रहा था गहरी नींद में।

कुमार ने उठकर कहा—"अभी तो बहुत ही रात है।"

"लेकिन तुम जिस राह से चल रहे हो, उसमें क्या ठोकरें कम हैं दिन में भी?"

"हमारी सतर्कता और धैर्य क्या ठोकरों का ही वरदान नहीं है?"

हुणिये की पत्नी बोली—"परंतु तुम्हें हमारा साथ छोड़कर चला जाना चाहिए अभी।"

"तुम ऐसा कह रही हो ! बकरियाँ न हाँक ले चलूँगा ?"

"अभी चल दो, कहना मान लो। तुम्हारे प्रति इस दुणिये के मन में बुरी भावनाएँ भर गयी हैं।"

किशोर उसका मुख ताकता ही रह गया !

वह कहने लगी—"हाँ, हाँ, ठीक ही तो कह रही हूँ। इसे तुम्हारे बदले दिये जानेवाले एक हजार रुपयों का लालच हो गया है।"

"नहीं तो !"—कुमार ने आश्चर्य में भरकर पूछा।

"मैं कहाँ तक तुम्हें बचाऊँगी ? उठो, देर न करो।"—कह कर उसने उसकी झोली सत्तू से भर दी।

कुमार ने उठते हुए कहा—"इस अंधेरे में यह अज्ञात पथ—"

"हाँ, एक कुमार्गगामी के साथ से कहीं अच्छा है !"

कुमार ने अपनी झोली हाथ में ले ली और कम्बल कंधे पर रख लिया—" किधर ?"

"शायद और सभी दिशाएँ निरापद हैं।"

"कैलास ?"

"यही तो है उसका मार्ग।"

कुमार ने उस महिला को हाथ जोड़ दिये और उस मार्ग की कठिनाइयों को एक उज्ज्वल देवता के आकर्षण पर भुला दिया !

वेग से वह पथिक बढ़ चला उस मार्ग में। निश्चय नहीं कर सका, वह एक विदेशी राज्य का विकर्षण था या एक पौराणिक कल्पना का आकर्षण। जो कुछ हो, वह मन में समझ रहा था। अनेक वादों के भरे हुए जगत को छोड़कर वह किसी कैवल्यता में प्रवेश कर रहा है, जहाँ मनुष्य की सभ्यता के जाल नहीं हैं,

जहाँ प्रकृति भी अपने नाना रंगों को केवल एक हिम की शुभ्रता में ही विलीन किये बैठी है। उस सनातन हिम में केवल अपने को छोड़कर और कोई भी सत्ता जीवित नहीं रह सकती है। न मनुष्य, न कोई पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष भी नहीं, घास और पत्ती भी नहीं कोई। क्या यही उस हिमालय के देवता की संहार-शक्ति है ?

सौभाग्य से कुमार को दो कैलास-यात्री साधुओं का सत्संग मिल गया। वे दोनों बौद्ध साधु थे। टूटी-फूटी हिन्दी जानते थे दोनों, परंतु अंगरेजी के विद्वान् थे। अंगरेजी के माध्यम से कुमार ने उनकी भावना में प्रवेश किया। धार्मिकता को वाद-विवाद के ऊपर की वस्तु समझते थे दोनों भिक्षु। अवस्था के परिपक्व थे। सारी सृष्टि के लिए उनके विचार कल्याण-कामना से भरे थे।

बहुत बड़ी सीमा तक उन दोनों के स्वभाव में कष्ट-सहिष्णुता बढ़ी हुई थी, वैसे ही आत्मनिर्भरता भी। बहुत कम दोनों आपस में बोलते। उनकी संगति में कुमार का भी मौन बढ़ चला।

वे दोनों साधु जब मार्ग पर चलते हुए अपना प्रार्थना-चक्र घुमाते, तब कुमार तकली निकालकर कातने लगता। साधु मन-ही-मन गुनगुनाते—"ॐ मणि पद्मे हुँ।" और कुमार जपने लगता—"वंदे मातरम्।"

कुमार का सूत्र कभी टूट जाता और कभी उलझ जाता, परंतु उन बौद्ध साधुओं के चक्र में इतनी सूक्ष्मता थी कि उनका सूत्र न टूटता ही था और न उलझता ही। विचार करते-करते कुमार ने सोचा—"यह उलझन पार्थिवता की है।"

यात्रियों की उस त्रयी ने भारत की सीमा को पार कर तिब्बत की भूमि में प्रवेश किया। अचानक एक सँकरे मार्ग पर कुमार का सूत्र फिर टूट गया और उसकी तकली नीचे पहाड़ों की

गहराई में न जाने कहाँ खो गयी ! कुमार उसे ढूँढ़ने को उतरने लगा उतराई में।

"जाने भी दो, पार्थिव सूत्र एक बंधन है।" एक साधु ने कहा।

"चक्र भी तो चला गया।"

"लो मैं अपना चक्र दे देता हूँ तुम्हें।"—कहकर साधु ने उसे अपना चक्र दे दिया।

"और आप ?"

"मेरे पास माला है।"—कहकर बौद्ध अपने गले की माला निकालकर फिराने लगा।

कुमार उस चक्र को घुमाता हुआ चला। वह सोचने लगा—"सारी सृष्टि परिवर्तित है। ग्रह-नक्षत्र सब घूम रहे हैं। विराट् और बिंदु दोनों ही घूम रहे हैं। विकास में विनाश और विनाश में विकास, जन्म में मृत्यु और मृत्यु में जन्म का चक्र संक्रांत है। क्रांति चिरजीविनी है। अपने-आप बिना मनुष्य की प्रेरणा पाये ही !"

यात्री लोग कैलाश पहुँच गये। दोनों बौद्ध भिक्षुकों ने वहाँ एक गुफा में अपने गुरु के दर्शन किये। वे कुमार को भी वहाँ ले गये। कैलास की परिक्रमा कर दोनों भिक्षु ल्हासा को अपने मठ में चले गये और कुमार ने वहीं रहना निश्चय किया।

गुफा के भीतर वह लामा गुरु बहुत दिनों से तपस्या कर रहा था। उसके मुख में उसकी दीर्घ तपस्या अंकित थी। कुमार को जिज्ञासु और उसकी दृढ़ता देखकर लामा गुरु ने उसे अपनी गुफा में रह जाने की आज्ञा दे दी। कुमार वहाँ रहने लगा।

दूर-दूर तक लामागुरु की ख्याति थी। नित्य ही भक्तगण न जाने कहाँ-कहाँ से उनके दर्शनों को आते थे। साथ में वे लोग

भाँति-भाँति की भेंट लाते। लामा गुरु प्रकृत निस्पृह थे, सब कुछ भक्तों में ही वितरण कर बराबर कर देते। संग्रह कर वह किसी भविष्य का निर्माण नहीं करते थे।

केवल दूध का आधार था उनका। वह भी ठीक नियमित समय में प्रभात समय। नित्य ही एक भक्त आकर न जाने कहाँ से उनको दूध पिलाकर चला जाता था। भक्तों को उपदेश करने के अतिरिक्त उनका सारा समय ध्यान और चिंतन में ही बीतता था।

कुमार भी उनकी संगति में प्रार्थना-चक्र को घुमाता रहता। लामा गुरु से सत्य की प्राप्ति के लिए वह श्रद्धावान् हो उठा। एक दिन उनके चरणों में सिर रख उसने कहा—"मैं बुद्ध की शरण हूँ। लाल गुरु ने पूछा—"ये रंग क्या हैं, तुम्हारी झोली में?"

"कुछ नहीं—तिरंगा झंडा, मेरे राष्ट्र का गौरव!"

"भगवान् के राज्य में राष्ट्रीयता—एक साम्प्रदायिकता है।"

१६

द्वितीय विश्व-युद्ध में जापान के आत्म-समर्पण के पश्चात् विश्वयुद्ध की समाप्ति हुई। परमाणु-युग का आरंभ हुआ।

परमाणु की विजय साइंस की विजय थी या दर्शन की? भार और परिमाण की विराटता की पराजय हुई, अणु को भी वही महत्व मिला जो महान् का था। विंदु में विराट् की सत्ता के द्वार खुले। दलित और पराजित जातियों को, जो पृथ्वीतल पर विजेताओं के पद की धूलि बनी हुई थीं, उन्हें अस्तित्व की पहचान हुई और उन्होंने अपने विनत मस्तक उठाये।

इंगलैंड में टोरी दल पर लेबर पार्टी की विजय हुई और वहाँ भारत के प्रति नवीन भावना का उदय हुआ। भारतीय नेतागण मुक्त कर दिये गये और उनके साथ समझौते आरंभ हुए।

विशालजी जेल से छूटकर बाहर आये। परंतु कुमार का अभाव उनके हर्ष को तिल भर भी न बढ़ा सका। उन्होंने कुमार की खोज के लिए अथक परिश्रम किए, पर्याप्त धन व्यय भी किये, पर कुछ फल न निकला।

जिन राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं से जेलें भरी गयी थीं, उन्होंने विधान-भवनों को सुशोभित कर शासन के सूत्र संभाले। राष्ट्रीय संस्थाओं पर से दंड की छाया हट गयी और वे पूर्ण प्रभा के साथ चमक उठीं!

दिल्ली के लाल किले में आजाद हिंद सेना के 'विद्रोहियों' पर मामला चला और वे निर्दोष मुक्त कर दिये गये।

"देशभक्ति कोई विद्रोह नहीं है, वह मानवता के गौरव की वस्तु है!"—यह उज्ज्वल सत्य देश के कोने-कोने में फैल गया।

लक्ष्मी सोचती—"कुमार कहाँ है? इस सत्य की विजय-प्रतिष्ठा कोई जाकर उस पर खोल देता।"

देशभक्ति के अपराधी धीरे-धीरे सब छूटने लगे। विशालजी आशा लगाकर बैठे थे। कुमार आज प्रकट हो जायगा, कल प्रगट हो जायगा। किंतु महीने पर महीने बीतते गये और न तो कुमार कहीं से प्रकट हुआ, न उसका कोई समाचार ही सुना गया! विशालजी सशंकित हो उठे।

उधर लामा गुरु की गुरुता में कुमार का दिन-दिन विश्वास बढ़ने लगा। उस गुरु की त्याग-तपस्या और वीतरागता की कुमार के हृदय में बड़ी गहरी छाप पड़ गयी। अपने को शिष्य बना लेने के

कुमार के आग्रह को ज्यों-ज्यों वे टालते गये, त्यों-त्यों कुमार उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया।

केवल कुमार को शिष्य बना लेना उन्हें स्वीकार न था, इसके अतिरिक्त उन्होंने कुमार को चाहे जितने दिन अपनी गुफा में रहने की आज्ञा दे रक्खी थी।

कुमार गुरु का सामीप्य पाकर उनके रहन-सहन का अनुकरण करने लगा। कुमार के चरित्र-बल पर गुरु की दृष्टि थी, पर उसे शिष्यत्व देने में न जाने क्यों वे आनाकानी कर रहे थे। लामा गुरु के कुछ शिष्यों ने कहा—"गुरु अभी तुम्हारे क्षेत्र की परीक्षा कर रहे हैं। देखभाल कर ही मंत्र देंगे।"

कुमार ने एक दिन उनके एक शिष्य से कहा—"मंत्र तो मुझे ज्ञात है।"

"गुरु उसमें गोप्यता देंगे।"

"गोप्यता देंगे? भगवान के साम्राज्य में गोप्यता कोई वस्तु है, मैं नहीं समझता। क्या गोप्यता का सत्य से कोई सामंजस्य हो सकता है? फिर सत्य तो भगवान का प्रमुख उपादान है।"

"यही तो आवरणों में से एक है। उसी के लिए गुरु की आवश्यकता है।"

"गुरु की आवश्यकता समझकर ही तो उनके चरणों में एक वर्ष से विनत हूँ! फिर क्यों नहीं वे मुझे स्वीकार करते?"

"धैर्य रक्खो।"

कुमार ने फिर धैर्य रक्खा। गुरु से पहले उठकर कुमार उनकी सेवा में लग जाता। गुफा को झाड़ता-बुहारता; स्नानादि के अनंतर जब गुरु ध्यान में बैठ जाते, तब स्वयं भी एक कोने में बैठकर प्रार्थना-चक्र घुमाता और जपता "ॐ मणि पद्मे हुँ।

—ॐ मणि पद्मे हुँ। मणि पद्म में, मणि पद्म में है।" परंतु वह मणि क्या है और वह पद्म क्या है, इन पर उसका संशय ज्यों-का-त्यों बना ही रहा!

गुरुदेव की आँख खुली पाकर एक दिन कुमार ने पूछा—"गुरुदेव! मणि क्या है?"

"तुम मुझे मोहित करना चाहते हो।"

"अपराध क्षमा हो।"

"गुरु का संबोधन अपने ही मन से नहीं दे सकते तुम मुझे। मैंने कहाँ तुम्हें शिष्य के नाम से पुकारा है?"

"फिर क्या देर है?"

"देर कभी नहीं होती। वह केवल एक कल्पना है। और फिर आदान-प्रदान यह एक मिथ्या भाषा है। किसने दिया और कब कोई पा सका! अन्वेषण ने भी उसे नहीं दिया और प्रार्थना ने भी नहीं।"—लामा गुरु बोले।

"प्रार्थना की सार्थकता को कुंठित कर फिर यह स्वयं क्यों प्रार्थना के चक्र को घुमाते रहते हैं?" सोचकर कुमार ने कहा—"फिर आप क्यों यह प्रार्थना-चक्र घुमाते हैं?"

"समस्त पाखंडों को एक में मिला देने के लिए।"

"पाखंड क्या हुआ?"

"कर्ममात्र पाखंड है।"

संशय के महासागर में फँसने लगा कुमार—"फिर सत्य क्या है?"

"मैं नहीं कह सकता।"

कुमार सोचने लगा गुरु बहकावा दे रहे हैं। उसने पूछा—"क्या फिर भाव का साम्य पाकर कर्म की उज्ज्वलता है?"

"उज्ज्वलता क्या हुई ?"—गुरु ने मुख विकृत कर कहा।

"पद्म में वह मणि जो है।"

"मैं नहीं जानता वह मणि क्या है।"

कुमार ने जुड़े हाथों पर अपना माथा टेक दिया भूमि पर। वह आँख मूँदकर सोचने लगा—"क्या है फिर वह मणि! प्रत्येक श्वास में जिसका अनुसंधान जाग उठा है, उस अज्ञात नाम-रूप को यह संज्ञा किसलिए है ?"

कुमार अपने को यथार्थवादी कहता थ। अंकों को लेकर ही सारे यथार्थवाद की सत्ता है। और अंक का अर्थ है सिक्का—अर्थशास्त्र। सिक्कों के चक्कर से छूटकर कुमार जब से उस गुफा में रहने लगा है, उसके यथार्थवाद को चोट पहुँची है। वास्तव में सारी यथार्थता केवल सिक्के ही की है। राजा का सारा राज-काज उसी से है और प्रजा की दौड़-धूप भी उसी के अर्थ। सिक्के की भावना छूट जाने से और उस रहस्य-भरी गुफा में रहने से कुमार में एक नयी कल्पना बल पकड़ गयी। उस शीतल और अंधकार-भरी गुफा के लिए उसके हृदय में एक प्रीति और एक प्रतीति उपज गयी।

लामा गुरु के सामने सिर टेके ही टेके उसने सोचा—'फिर वह मणि क्या है ?" कुछ उजाला-सा उसे मन में कहीं पर दिखाई दिया, उसमें उसने चमकती हुई लक्ष्मी को देखा। लक्ष्मी उसके आश्रम की सहयोगिनी, जिसकी छाया और स्पर्श बचाने का उसका व्रत था। कुमार ने याद किया—"मणि का नाम जगाने पर लक्ष्मी क्यों चमक उठती है! क्या इसीलिए चक्र एक पाखंड है ?"

लामा गुरु बोले—"कुमार, क्या सोच रहे हो ?"

"कुछ नहीं।"

"फिर क्यों भूमि पर पतित हो गये। उठो, अपने स्वरूप की पहचान प्राप्त करो।"

कुमार ने आशीर्वाद से उत्साहित होकर सिर उठा लिया और विनय की—"मुझमें क्या कमी है, बता दीजिए।"

"कहने से नहीं दिखाई देगी वह।" लामा गुरु ने उस विचार-धारा को अचानक बदल दिया—"कुमार, तुम अपना झंडा कैलास के शिखर पर गाड़ सकते हो ?"

"अपने बल की तुच्छता पर नहीं, एक धार्मिक पीठ पर एक राजनैतिक चिह्न को लगा देना क्या युक्तियुक्त है ?"—यह सोचने लगा वह।

"तुम क्यों चुप रह गये ?"

"उस शिखर के प्रति मेरे देश के अतिरिक्त इतने बड़े एशिया के भूभाग की मान्यता है। किसी ने आपत्ति की तो ?"

"किसी को आपत्ति हो नहीं सकती। वहाँ सारी मानवता एक है। भगवान, जो उसे नहीं भी मानता उसका भी है। मैं तुम्हारे साहस को देखना चाहता हूँ।"

कुमार उस परीक्षा के लिए सन्नद्ध हो गया। और एक दिन वह कैलास के शिखर में जाकर अपना झण्डा गाड़ आया।

गुरु ने उसकी सराहना की और उसकी कष्ट-सहिष्णुता को धन्य माना।

कुमार ने उत्साहित होकर कहा—"फिर आप अब तो मुझे शिष्य के नाम से पुकारें।"

"अभी और भी तो कई वंधन हैं कुमार !"

"वंधन कौन है ?"

"अपने मन से पूछो।"

कुमार सोचने लगा—"चिरकाल से देश की मुक्ति की साधना में लगा हूँ, क्या वह मुक्ति का बंधन है? जनता को भूलकर एक अपने जन के स्वार्थ में लग गया हूँ, क्या यह है वह बंधन? क्यों गुरु की एक अपेक्षा जाग उठी मुझमें? इस निर्वास को मनोरंजकता के लिए या अपने मन की आकांक्षा की पूर्ति के लिए? देश की मुक्ति को भूलकर क्या सचमुच मैं अपनी केवल एक की मुक्ति का अन्वेषक हो गया हूँ। तुच्छ स्वार्थ!"

लामा गुरु बोले—"तुम आजन्म अविवाहित रह सकोगे इस गुफा में?"

कुमार ने मन में सोचा—"ऐसी प्रतिज्ञा तो नहीं है मेरी। विवाह की धार्मिकता को मानते हुए मैंने उसमें राजनीति की एक ग्रंथि दे रक्खी है।" उसे कुछ स्पष्टता दिखाई दी—"मैं मणि देश के लिए पाना चाहता हूँ।" सोचकर उसने अपने स्वार्थ को महिमा दी। "मैं क्यों इस गुफा में रहूँगा? यदि मुझे मणि मिल गयी, तो फिर यहाँ काम ही क्या रह जायगा?"

"तुम मूक रह गये कुमार! यही बंधन है। बंधन को काटने से उसे खोल लेना ही अच्छा है। जाओ लौट जाओ भारतवर्ष को आज ही।"

कुमार कहने लगा—"आपको ज्ञात ही है, वहाँ तो बंधनों के जाल बिछे हुए हैं मेरे लिए स्थूल-जगत में भी।"

"जाना ही पड़ेगा वहाँ जैसे भी हो। हम भारत को अपना गुरु मानते हैं, तुम्हारी गुरुता सँभालना द्रोह हो जायगा।"

कुमार कोई निश्चय न कर सका लामा गुरु का यह स्पष्ट उत्तर पाकर उसके पैर भारत की ओर न बढ़ सके। उसे भारत का कोई समाचार नहीं मिला था विगत तीन वर्षों में। राजनीति से संबद्ध व्यक्ति आते होंगे वहाँ, पर वहाँ युद्ध और संधि की कभी कई राष्ट्रीय या अंतरराष्ट्रीय चर्चा नहीं सुना गयी।

निश्चय और अनिश्चय के द्वंद्वों में पड़ा हुआ कुमार वहीं रह

गया और लामा गुरु न उसका संशय तोड़ सके, न उसे असंशय ही कर सके। धीरे-धीरे एक वर्ष और बीत गया !

एक दिन वह लामा गुरु के लिए दूध लाने को गुफा के बाहर गया हुआ था। दो ग्वाले न जाने मार्ग में कहाँ से एक विचित्र यंत्र उठा लाये थे और उसका उपयोग ढूँढ़ रहे थे।

कुमार ने वहाँ पहुँचकर देखा, वह एक रेडियो का सेट था। कामचलाऊ उनकी भाषा बोलने लगा था वह। पूछा उसने—"कहाँ से लाये ?"

"मार्ग में पड़ा मिला।"

कुमार ने समझा, विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त और भी तो अनेक धनी-मानी श्रीमान् इस मार्ग का अतिक्रमण करते रहते हैं। या तो वे भूल गये होंगे, या ये ग्वाले चुराकर ले आये हैं उसे। कुमार उस सेट को देखते ही हर्ष से उछल पड़ा, मानो उसे मणि मिल गयी !

उसने भारत के स्टेशनों पर सुई रखकर कान लगाये ! कुछ नहीं, कोई स्वर। कोई स्पंदन नहीं ! उसने अंतरजातीय स्टेशन टटोले, वही शिला-मूकता। कुमार ने सेट का निरीक्षण कर निराशा से अँगूठा हिलाकर कहा—"ऊँहूँ, बिगड़ गया है।"

ग्वालों ने पूछा—"क्या है ?"

"बाजा है। अपने-आप बजता है।"

"तुम ठीक कर सकते हो ?"

कुमार के भी उतनी उत्कंठा उपज गयी थी उस यंत्र के प्रति। बोला—"चेष्टा करूँगा।" कुमार दूध के साथ उस यंत्र को लेकर गुफा में आया।

"यह क्या ले आये ? रेडियो ?"—लामा गुरु ने पूछा।

"हाँ अंतरराष्ट्रीयता की ध्वनि। इस छोटे-से डिब्बे में धरती पर के सभी सभ्य राष्ट्र अपनी-अपनी बोली में अपने-अपने राग सुनाते हैं।"

लामा गुरु हँसने लगे—"कुछ मैं भी सुनूँ तो।"

"बिगड़ गया है यह। ठीक करना पड़ेगा।"

"कहाँ से लाये ?"

"ग्वाले कहीं से ले आये हैं।" कुमार उसकी देख-भाल में दत्तचित्त हुआ।

"हमारा मस्तिष्क भी तो एक रेडियो ही है। उसे ठीक कर सको तो कुमार वहाँ जगत की सारी बोलियाँ एक में ही लीन हो जाती हैं।"

"कहते हैं वह अंतरराष्ट्रीय बोली अंगरेजी है।"

"नहीं कुमार, उच्चारण करने या लिखने के लिए उसमें शब्द नहीं हैं। शब्द धोका है। जातियाँ इसी के कारण बँटी हुई हैं। अंतरराष्ट्रीय बोली नहीं हो सकती, वह भाव है।"

"फिर कान और आँख के लिए उसकी अभिव्यक्ति का साधन क्या है ?"

"पहले भाव तो समझ लो, वह भाव है जीव-मैत्री का, सब के भीतर एक ही का निवास। नाद उसकी अभिव्यक्ति है।"

"नाद क्या शब्द नहीं है ?"

"नहीं।"

"अक्षर त हैं उसमें ?"

"वह स्वयं अक्षर है—आदि अक्षर ॐकार—वही नाद अनंत भी है। यदि वह हमारे भीतर बोलने लग जाय, तो तुम जगत

की बोलियाँ कहते हो, वह ग्रह-ताराओं से तुम्हें संबद्ध कर दे। नाद की असीम शक्ति है।"—लामा गुरु बोले।

कुमार ने जो कुछ समझा उसकी साक्षी इस प्रकार दी—"अवश्य ही नाद की भारी शक्ति है। जब हमने 'भारत छोड़ो' का नाद जगाया, तब उसने शताब्दियों के व्यवस्थित गोरी जाति का आसन हिला दिया भारत में"। कुमार का सारा ध्यान उस रेडियो के ठीक करने में लगा हुआ था। न तो वह ठीक-ठीक गुरु की बात समझ रहा था, न उनका उत्तर देने में ही उसका मन था।

कुमार की अन्यत्रतल्लीनता देखकर गुरु आँख बंद कर ध्यानस्थ हो गये!

कुमार कभी एक बटन खोलता, कभी दूसरा पेच। कभी एक तार का सिरा खोलता, कभी दूसरे को जोड़ता। कभी बैटरी का छिद्र ढूँढ़ता, कभी रेडियो के बकस की उलझन में मन लगाता। विज्ञान का विद्यार्थी था नहीं कुमार, परंतु रेडियो का साधारण ज्ञान था उसे। एक प्रबल इच्छा उसमें जागृत हो गयी थी उस समय। वह थी मातृभूमि के संबंध की। वह यह जानने को आकुल था कि भारत का आंदोलन कहाँ तक पहुँचा है ?

विश्वास तो था उसे रेडियो बोलेगा। भाँति-भाँति के क्रम बाँधकर वह रेडियो में शब्द जगाने लगा। अचानक रेडियो का बल्ब जल उठा। उससे लहर उत्पन्न हुई—"खर्र, खर्र्र्र, ग्वाँ—ग्वाँ SSS!"

कुमार फड़क उठा। उसने बटन, इधर-उधर घुमाकर संयमित किया। रेडियो बोल उठा!

लामा गुरु आँख खोलकर हँस पड़े और मन में सोचने

लगे--"इस लगन से यदि यह युवक अपने मस्तिष्क के तार और पेंच नियमित करता तो!"

रेडियो हिन्दुस्तानी में बोल रहा था--"आंदोलन के वे राजनैतिक अपराधी जिन्होंने हिंसा में कोई भाग नहीं लिया है, अपराध-मुक्त कर दिये गये हैं।"

अद्भुत उत्साह झलकने लगा कुमार के मुख-मंडल में। वह स्थिर होकर सुनने में दत्तचित्त हो गया, सब कुछ भूलकर।

अचानक रेडियो हिंदुस्तानी भूलकर अंतरजातीय भाषा बोलने लगा—"खर्र्र्र, खर्र्र्र—ग्वाँ-ग्वाँ-ग्वाँ ऽ ऽ!"

गहरी निराशा छा गयी कुमार के मुख-मंडल पर! रेडियो के बल्ब ने बुझकर और भी अंधेरा कर दिया! कुमार व्याकुल होकर इधर-उधर टटोलने लगा।

लामा गुरु हँसने लगे—"अधिक लालच क्यों करते हो कुमार! चिनगारी जब मिल गयी है, तब प्रकाश के लिए क्यों आकुल हो? लौ उत्पन्न कर लो वायु-तत्व से।"

अपने दृष्टि-विंदु से समझ ली कुमार ने गुरु की बात। वह कहने लगा—"हाँ गुरुदेव! मैंने हिंसा में भाग नहीं लिया!"

"फिर वही दुर्बलता! लौट जाओ भारतवर्ष को तुम्हारे राजनैतिक वंद खुल जाने पर भी वहाँ और भी तो सूक्ष्म वंधन हैं। बिना उस मोह से छूटे कैलास किसी का निर्वास हो सकता है, अधिवास नहीं! अपने स्वरूप को पहचानो, भारत एशिया का गुरु है!"

कुमार ने देखा, रेडियो को उस एक ही वाक्य ने उसके लिए जन्मभूमि का मार्ग बाधाहीन कर दिया था। वह जिस अपनी व्यक्तिगत एक काल्पनिक मुक्ति की ओर जा रहा था,

लौट गया उस दिशा से। यथार्थता ने उसका ध्यान खींच लिया और वह यथार्थता थी भारतवर्ष के करोड़ों नर-नारियों की व्यथा और कष्ट की! फिर उसका वह प्राचीन स्वप्न दर्शनीय हो उठा और वह भारतवर्ष को लौट जाने के लिए प्रस्तुत हो गया!

उसने अपनी झोली टटोली। वह रिक्त हो गयी थी, तकली प्रार्थना-चक्र में बदल गयी और उसकी राष्ट्र-ध्वजा। उसे वह ऊँचे शिखर पर स्थापित कर गौरव दे चुका था। उसने अपने कंबल कंधे पर रक्खे और वह रिक्त झोली उठा ली।

लामा गुरु चुपचाप उसकी गति-विधि का अवलोकन कर रहे थे—"अभी जाओगे कुमार!"

कुमार फिर कहने लगा—"हाँ, अभी। कौन मुझे रोक सकता है। मैं निर्दोष हूँ। मैंने हिंसा में भाग नहीं लिया है।"

"फिर वही कहने लगे तुम? यदि देश के लिए तुम्हारी-सी पवित्र भावना रखनेवाला कोई दूसरा, हिंसा की लपेट में पड़ गया, तो क्या वह है दोषी?"

कुमार ने सोचकर कहा—"वह भी निर्दोष है।"

"फिर मिथ्या अभिमान छोड़ दो।"—लामा गुरु कहने लगे।

कुमार पर वह सत्य अनुमोदित हुआ। वह बोल उठा—"अब न कहूँगा कभी यह किसी से।"

वह संसारी प्राणी कुमार, लामा गुरु से विदा माँगते समय गद्गद हो उठा और वह वीतराग तपस्वी नाना प्रकार की खाद्य-सामग्री से कुमार की झोली भारी करते समय उसका हृदय भर उठा।

"यह प्रार्थना-चक्र यहीं छोड़ जाऊँगा।"

"क्यों ?"

"आपने इसकी चाबी नहीं दी ?"

"मंत्र ज्ञात तो है तुम्हें ।"

"उसका अर्थ तो नहीं ।"

"मंत्र का अर्थ नहीं होता, ध्वनि होती है ।"

"तकली में अर्थ और ध्वनि दोनों हैं । इन पर्वतों की उँचाई में वह वहाँ खो गयी है, ढूँढ़ लूँगा फिर ।"

"जाओ तुम्हारा पथ मंगलमय हो । एक धरोहर से तुम मेरे पास संचित रहे इतने वर्ष, वह भारत की वस्तु उसे प्राप्त हो, यह कामना रखकर तुम्हें विदा करता हूँ ।" लामा गुरु ने कहा ।

कुमार को पैर नहीं छूने दिये उन्होंने । गुफा के बाहर कुछ दूर तक पहुँचा गये वह उसे । देखा उन्होंने अद्भुत वेग और उत्साह से कुमार बढ़ा जा रहा था भारतवर्ष की ओर आकाश के किसी टूटे हुए तारे के समान !

गुफा के भीतर जाते हुए लामा गुरु सोचने लगे—"बड़ा अद्भुत यह युवक है ! पार्थिवता के बंधन छूट जाने पर जिस दिन यह अंतर्मुख हो जायगा, उस दिन सहज ही इसके भीतरी द्वार खुल जायँगे ।"

पहाड़ी सरिता के वेग में उतरता कुमार बढ़ चला भारत की ओर । कहा जा सकता है, उसके उद्देश्य में न भूमि ने विराम दिया, न समय के अंधकार ने ही बाधा पहुँचायी । क्योंकि जहाँ कहीं उसका तन विश्राम लेता, मन उसका शयन और स्वप्न में भी दौड़ता ही रह जाता था मातृ-भूमि की ओर !

कुमार ताकलाकोट पहुँचा । भारत से आनेवाले यात्री और व्यापारियों ने वहाँ उसके संबंध के बहुत-से समाचार फैला रक्खे

थे। संक्षिप्त रूप में वे इस प्रकार थे कि भारत के दोनों प्रमुख दलों और अंग्रेज सरकार के बीच समझौता आरंभ हो गया है, तथा शीघ्र ही भारत में स्वतंत्रता का सूर्योदय हो जायगा।

कुमार के भारत-प्रस्थान में और भी वेग भर गया। जो भी मिलता उसे, यही समाचार सुनाता। कुमार के हर्ष और आश्चर्य का ठिकाना न था। सत्य ऐसा रहस्यमय उसे कभी न दिखायी दिया था।

अचानक इस प्रकार देश के बलिदान में फूल खिल उठेंगे, कुमार को यह कल्पना भी नहीं थी। सोच तो रहा था वह—"परंतु इसमें काँटा कहाँ पर है?" बात अच्छी तरह खुली न होने से, समझ नहीं सका वह।

कुमार ने अपने जिले के लिपू दर्रे को सकुशल पार किया। एक कल्पित अभिशाप से भागते हुए अवश्य ही उसके मन में अनेक संशय-भय थे और आज एक प्रत्यक्ष वरदान के आकर्षण में समस्त भय और सारे संशय तिरोहित हो गये उसके।

जन्मभूमि के दर्शन करता हुआ प्रसन्न मन बढ़ता चला कुमार। उसके बढ़े हुए सिर और मुख पर के बालों में उसका व्यक्तित्व छिप गया था। कुछ-कुछ भोटिया वेश में वह और भी परिचितों के लिए प्रवासी-सा बन गया था।

बागेश्वर के निकट आने पर अचानक उसकी एक मनुष्य से भेंट हुई। उसे देखकर कुमार की अबाध गति रुक गयी। उसके मुख पर एक मुसकान खिल पड़ी।

मनुष्य ने रुककर बड़े ध्यान से कुमार को देखा—"कौन हैं आप?"

कुमार हँस पड़ा और ध्वनि ने सारे भेद खोल दिये।

"कुमार!" कहते हुए उस मनुष्य ने कुमार को गले से लगा

लिया—"कुमार! कब से खोज रहा हूँ मैं तुम्हें।" वह मनुष्य हयग्रीवजी थे।

"क्यों तुम्हें मुझे खोजने की आवश्यकता पड़ी?"

"मैंने ही तो तुम्हें जेल की ओर भेजा था। फिर विशालजी ने विशेष रूप से तुम्हारी खोज के लिए मुझे नियोजित किया है। कई आदमियों को लेकर मैं तुम्हें ढूँढ़ रहा हूँ। मैं नहीं जानता था, मेरा परिश्रम इस प्रकार अचानक सफल हो जायगा। कुमार! तुमने सुन लिया होगा, भारतमाता स्वतंत्र होने जा रही है?"

"कब?"

"परसों" पंद्रह अगस्त को। भारतवर्ष के पिछले एक सहस्र वर्षों में क्या कोई ऐसी उज्ज्वल तिथि और भी है कोई?"

"तुम सत्य ही कह रहे हो?"

हयग्रीवजी ने सारी स्थिति बैठकर कुमार को समझायी। कुमार दीर्घ श्वास लेकर कहने लगा—"अब मेरी समझ में आया, इस फूल में काँटा कहाँ पर है?"

"कैसा काँटा?"

"यह विभाजन, देश के दो भाग ही तो एक काँटा है।"

"तुम्हें अपनी बुद्धि को देश के कर्णधारों से विशेषता न देनी चाहिए। फूल में काँटे के होने से क्या उसकी मोहकता में कोई कमी हो जाती है। परसों पंद्रह अगस्त है। हमारा चिरसाधित स्वतंत्रता-दिवस सारे देश में असाधारण उत्साह से यह उत्सव मनाया जानेवाला है। देश के समस्त दुर्गों, न्यायालयों, विधान-भवनों, राजकीय-भवनों तथा झोपड़ियों से लेकर प्रजा की अट्टालिकाओं तक हमारा तिरंगा झंडा फहराया जायगा।"

"और वह यूनियन जैक?"

"वह कल दिन भर का ही अतिथि है केवल हमारे आकाश में। कल संध्या समय वह अंतिम बार उतर जायगा।

"इतनी सरलता से?"

"विगत पचास वर्षों का युद्ध है इसके पीछे। लाखों मनुष्यों के बलिदान ने इसे पवित्र किया है। तुम इसे सरलता से कहते हो। फिर भी यह युद्ध-विहीन क्रांति संसार के इतिहास की अद्भुत घटना है। इसमें हम स्वतंत्रता लेनेवाले ही महिमान्वित नहीं हुए हैं, हमें स्वतंत्रता देनेवालों ने भी स्तुत्य त्याग दिखाया है।"

"वह कूटनीतिज्ञ गोरी जाति! उसने अवश्य ही कोई फँसी ग्रंथि दे रक्खी होगी। उसने फिर यह हमें मोहित कर दिया।"

"वह बिलकुल चला जायगा। शस्त्र-बारूद और सेना-विभाग हमारा हमें सौंपकर अपनी गोरी सेना के एक-एक सैनिक को यहाँ से जहाज में चढ़ाकर लौट जायगा। अंतरराष्ट्रीय सम्पर्क और भारत की रक्षा इन दोनों विभागों पर भी पूर्णतः हमारा अधिकार हो जायगा। फिर अब हमारे स्वतंत्र होने में कौन शंका है तुम्हें?"

कुमार चाहता था विश्वास कर ले, परन्तु वर्षों के सभ्य जगत् से दूर रह जाने के कारण उसे अपने जातीय और अंतर-जातीय इतिहास के बीच की सरणियाँ अज्ञात थीं। हयग्रीवजी ने जो कुछ उसे समझाया था, कदाचित् वह पर्याप्त न हो सका था।

"नेताओं पर विश्वास करो, बिलकुल वैध रूप से, अहिंसा के फल-स्वरूप यह स्वतंत्रता की देवी परसों भारतवर्ष में अवतीर्ण हो जायगी।"

"परन्तु यह बीच की दीवाल?"

"उसमें हम प्रीति के द्वार खोल लेंगे जिनसे होकर एक-दूसरे के सुख-दुख में भाग लेंगे, वाणिज्य-व्यवसाय क्रमागत

रक्खेंगे, साहित्य और संस्कृति का आदान-प्रदान करेंगे। तुम्हें अब अविश्वास और संशय छोड़कर स्वतंत्रता के स्वागत के लिए तैयार हो जाना चाहिए। देखो यह हमारे राष्ट्रीय झण्डे का रूप है।" उसने अपने कोट के कालर में से झण्डा निकालकर कुमार को दिया।

कुमार उसे देखकर बोला—"देश विभाजित हो गया दो भागों में, तो फिर यह हरा रंग क्यों रह गया इसमें ?"

हयग्रीवजी उत्तेजित होकर बोले—"कुमार, तुम साम्प्रदायिकता की संकीर्णता से ऊँचे नहीं उठ सके हो अभी तक। रंग एक सार्वभौमिक वस्तु है, सूर्य के प्रकाश की भाँति, उसी का उपजाया हुआ—प्रकृति का एक दान। उसे साम्प्रदायिक रंग में रँग देना मूढ़ता है। रंग के अर्थ को और अधिक व्यापकता दो, क्या वही रंग भारतमाता की शस्य-श्यामलता का नहीं है ? कृषि-प्रधान हमारे देश के किसान के श्रम-जीवन का रंग क्यों नहीं हरा है ! यह शांति का रंग है।"

"और यह लाल रंग ?"

"लाल नहीं केसरिया लाल। यह हमारे शौर्य का प्रतीक है।"

"इन दोनों के बीच में यह शुभ्रता ! इसमें अवश्य कुछ परिवर्तन पाता हूँ। चरखा कहाँ गया ?"

"गया कहाँ ? अपनी ही जगह पर है। आँखें खोलो।"

"इसकी मूँठ कहाँ, तकली कहाँ, माल कहाँ, स्तंभ कहाँ और आधार कहाँ ?"

"वे अनावश्यक उपकरण हटा दिये गये। उसका सारभूत अंश, चरखे के प्राण चक्र की क्या प्रतिष्ठा नहीं देख रहे हो तुम वहाँ ? चरखा शब्द ही चक्र का अपभ्रंश है।"

"देख रहा हूँ, यह तो मशीन का पुरजा है एक, यह मशीन-युग का आवाहन है या हाथ के श्रम की पूजा ? हैंडिल कहाँ गया उस चक्र का ?"

"बको मत—इस चक्र की संगति अशोक के चक्र से कर दी गयी है।"

"क्या यह साम्प्रदायिकता न हुई ? अशोक का कौन-सा चक्र है ? बुद्ध के धर्मचक्र से तुम्हारा अर्थ होगा ?"

"हाँ, हाँ। क्या बुरा है धर्मचक्र। धर्म राजनीति का प्रकाश है।"

"परन्तु वह हैंडिल कहाँ गया ? श्रमजीवी कहाँ पर पकड़ेगा इसे ?"—फिर कुमार ने वही कहा ।

"तुम सनकी हो।"

"मैं यथार्थवादी हूँ।"

"बिना आदर्शवाद के यथार्थवाद एक कोरी मूढ़ता है।"

"तुम अपने सहयोगी को मूढ़ कहते हो ? क्या मैंने अपनी इस राष्ट्रीय ध्वजा के लिए, हिम में, वर्षा में, अंधकार-प्रकाश में, जेल में, प्रतिबंधों में, देश में, विदेश में सभी यातनाएँ नहीं सही हैं ? यह मेरे प्राणों की प्रतिष्ठा है, उसके परिवर्तन को समझ लेना चाहता हूँ, तो अपराध क्यों हो गया मेरा ? हम स्वतंत्र होने जा रहे हैं मित्र ! क्या स्वतंत्रता भावों की उदारता का अर्थ न देगी ?"

हयग्रीवजी ने शांतिपूर्वक कहा—"इसे समझने के लिए तुम्हें अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण छोड़ देना पड़ेगा, कला की सहायता लेनी होगी। झंडे के दो पक्ष हैं, दक्षिण और वाम। दक्षिण पक्ष में चरखे का यथार्थ चित्र वामपक्षी को बिलकुल उलटा अस्वाभाविक

दिखायी देता है। दोनों पक्षों के साम्य के लिए चाहिए सम मात्रिकता—सिमेट्री, सर्वतोभद्रता !"

"तंत्रशास्त्र का चक्र ?"

"सुनो रेखागणित के सममात्रिक रूपों में। सबसे परिपूर्ण रूप चक्र का ही है। जिधर से देखो, जहाँ पर से केंद्र को सम्मिलित कर बाँटो—समता और सानुरूपता। क्या स्वतंत्र भारत के लिए ऐसी समानता अपेक्षणीय नहीं है तुम्हें ?"

कुमार प्रसन्न हो उठा हयग्रीव की व्याख्या से, कहने लगा—"मित्र तुम्हारे मस्तिष्क की इस उपज ने मुझे मोह लिया—मेरे सारे भ्रम दूर हो गये।"

"परंतु यह मेरी सूझ क्यों होने लगी ?"

"फिर किसने कहा यह ?"

"पंडित माउंटबैटन ने राजधानी दिल्ली में भारत की दासता और स्वतंत्रता की संधि पर खड़ा हुआ वह अंगरेजों का अंतिम और भारत का पहला गवर्नर जनरल। कल रात की शून्य घड़ी में वह अंगरेजों की सारी सत्ता हस्तांतरित कर देगा हमारे राष्ट्रपति के हाथों में। हमारे नगर में भी इस उत्सव की धूम-धाम है !"

"इस ऐतिहासिक उत्सव को छोड़कर तुम यहाँ चले आये ?"

"तुम्हारी ही खोज में तो।"

"यदि मैं न मिलता तो ?"

"तो मैं भी कुछ दिन बाद तुम्हारी निराशा में कालो के प्रबल प्रवाह में कूद जाता। मैंने विशालजी से यह प्रतिज्ञा की है कि आऊँगा तो कुमार को ही लेकर।"

कुमार की आँखों से आँसू छलक पड़े। वह हयग्रीव के पैर

पर गिर जाना चाहता था। मित्र ने उसे गले से लगा लिया—"चलो, अब हमें शीघ्रता करनी है, कल संध्या समय तक नगर में पहुँच ही जाना है।"

"आश्रम में ?—वह तो उजाड़ ही पड़ा होगा। परंतु अब वहाँ जाने की क्या आवश्यकता है। अब उसपर स्वामीत्व राजसत्ता का है। चलो और भी शीघ्रता करूँगा। इस हर्ष में विश्राम और भोजन दोनों सहायक नहीं, बाधाएँ हैं।" दोनों नगर की ओर चलने लगे।

उस राष्ट्रीय पर्व के समारोह में राष्ट्रीय झंडों और दीपावली से अपने घर को सजाती हुई लक्ष्मी प्रत्येक पग पर एक-एक आँसू गिराती जा रही थी। उसकी माता ने एक भारतीय ज्योतिषी को उसकी कुंडली दिखायी थी। उसने उस पश्चिमी पद्धति के हस्तरेखा के परीक्षक का कोई अनुमोदन नहीं किया। लक्ष्मी, कुमार के प्रति अनिष्ट के विचार धो चुकी थी, परन्तु कुमार कहाँ है ?

लक्ष्मी विचारती—"स्वतंत्रता आ रही है, परंतु स्वतंत्रता का वह साथी-साधक कहाँ है ? क्या वह नहीं आयेगा ?"

भारत के उस स्वर्ण-युग की निकट प्रतीक्षा में विशालजी को भी पग-पग में कुमार का अभाव खटक रहा था। परंतु प्रत्येक क्षण बीतकर अपनी दूरी में कुमार को उनके निकट लाता जा रहा था।

एक सहस्राब्दी के पश्चात् भारत के सौभाग्य की घड़ी आयी, और 'पन्द्रह अगस्त, १९४७' स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ।

सारे भारत में वह शून्य घड़ी सजीव हो उठी! सारा विश्व उस जागरण पर पुलकित हो गया, समस्त दलित जातियों ने आशा के प्रदीप जलाये।

शंख-घंट, स्वागत के गीत, जय-नाद, प्रभु की कृतज्ञता की स्तोत्र-प्रार्थना, ध्वजा वंदनवार, दीपमालिकाओं के हर्ष और प्रकाश में भारतमाता के बंधन खुल पड़े !

ठीक उसी समय हयग्रीव और कुमार भी नगर में पहुँच गये। विशालजी के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने कुमार से कहा—"तुम मुक्त हो गये कुमार, तुम्हें बधाई। लो मैं तुम्हें मुक्ति के बंधन पहनाता हूँ।" विशालजी ने लक्ष्मी का हाथ कुमार के हाथ से जोड़ दिया।

कुमार कुछ सकुचाया। भवदा ने भीड़ में से निकलकर कहा—"तुम्हारी प्रतिज्ञा अक्षुण्ण रह गयी। अब तुम्हारी संतान दास न कहायेगी।"

कुमार ने दृढ़ता से लक्ष्मी का हाथ पकड़ लिया। विशालजी कहने लगे—"मेरी ओर से तुम दोनों का विवाह हो गया। यह राष्ट्र की घड़ी है। तुम्हारे पिता तुम्हारे पौराणिक विवाह के लिए जब चाहें लग्न ढूँढ सकते हैं।"

कुमार बोला—"भगवान को धन्यवाद है, हम स्वतंत्र हुए। सरकार हमारी हुई। उसके पास जाकर बलिदान के दाम माँगना बलिदान को कलंकित कर देना है। चलो लक्ष्मी, गाँव को, नगर में बड़ी भीड़ है। माता-पिता के आशीर्वाद लेंगे।"

भीड़ में से निकलकर छुट्टी में आये हुए शंकर ने उनका अनुगमन किया।

—